पैग़म्बर मुहम्मद का जीवन

शिक्षाएँ और शांति का संदेश

मौलाना वहीदुद्दीन ख़ाँ

पैग़म्बर मुहम्मद का जीवन

शिक्षाएँ और शांति का संदेश

पैग़म्बर मुहम्मद का जीवन

शिक्षाएँ और शांति का संदेश

मौलाना वहीदुद्दीन ख़ाँ

सी पी एस
हिन्दी संपादकीय टीम

First published 2026
This book is copyright free
This book is a Hindi translation of Maulana Wahiduddin Khan's Urdu book, *Paighambar-e-Inquilab.*

Goodword Books
A-21, Sector 4, Noida-201301, Delhi NCR, India
Mob. +91 8588822672
info@goodwordbooks.com
www.goodwordbooks.com

CPS International
Centre for Peace and Spirituality International
1, Nizamuddin West Market, New Delhi-110 013, India
Mob. +91-9999944119
info@cpsglobal.org
www.cpsglobal.org

Center for Peace and Spirituality USA
391 Totten Pond Road, Suite 402,
Waltham MA 02451, USA
Mob. 617-960-7156
email: info@cpsusa.net

विषय सूची

भूमिका	9
भाग एक	15
आदम से मसीह तक	17
मुहम्मद (सल्ल०) को नुबूवत का मिलना	21
आदर्श चरित्र	26
श्रेष्ठतम नैतिकता	45
पैग़म्बर (सल्ल०) की जीवनी के पाठ	57
पैग़म्बर (सल्ल०) की सुन्नत	98
भाग दो	103
पैग़म्बर-ए-इंक़लाब	105
एक तुलना	105
अल्लाह की मदद	109
एकेश्वरवादी और बहुदेववादी धर्म	108
अल्लाह के कलिमा (दीन) को सर्वश्रेष्ठ बनाना	110
एक नई क़ौम की स्थापना	116
बेहतरीन समुदाय	120
ग़ैर-ज़रूरी मुद्दों में न उलझना	124

अल्लाह की योजना से मेल 126
हालात से ऊपर उठकर 131
पैग़म्बर (सल्ल०) की कार्य-शैली 135
अंदरूनी शक्ति 136
आपका निशाना अल्लाह का संदेश देना 144
धैर्य और दृढ़ता 149
अल्लाह पर भरोसा 155
पैग़म्बर (सल्ल०) मक्का में 156
आह्वान का आरंभ 159
संदेश की भाषा 165
अरबों की योग्यता 168
संदेश का फैलना 173
संदेश की मूल विशेषताएं 177
संदेश पर लोगों की प्रतिक्रिया 181
क़बीले से बाहर करना 189
यस्रिब (मदीना) के लोगों का इस्लाम 195
हिजरत (पलायन) 198
मुहाजरीन (हिजरत करने वालों) की मदद 199
इस्लाम की विजय 208
जीत के बाद 216
एक सवाल और उसका जवाब 218

भाग तीन 221
पैग़म्बरी का अंत 223
सबसे बड़ा करिश्मा — क़ुरान 229
सामाजिक बदलाव 233

साहित्यिक विकास 240
रसूल के साथी 249
धर्म उनके लिए प्रिय बन गया था। 250
पैग़म्बर को इतिहास के आरंभ में पहचान लेना 251
क़ुरान को विरोध और असहमति के समय अपनाना 252
अप्रमाणित सच्चाई के लिए धन का समर्पण 254
अपना ताज दूसरे के सिर पर रखना 255
अपनी सीमाओं को जानना 256
ज़िम्मेदारी को अपने ऊपर ले लेना 257
शिकायतों से ऊपर उठकर सोचना 258
क़ानूनी सीमा से आगे बढ़कर साथ देना 259
असहमति से बचकर असली मक़सद पर टिके रहना 261
पीछे की सीट पर बैठने के लिए तैयार हो जाना 262
भावनाओं से ऊपर उठकर फैसला करने की ताक़त 263
पेड़ की तरह बढ़ना 265

भाग चार 267
आधुनिक दौर में पैग़म्बर के संदेश की महत्त्वता 269
नायकों की नर्सरी 279

भूमिका

अमेरिका से एक किताब प्रकाशित हुई है जिसका नाम है "*The 100*"। इस किताब में समस्त इंसानी इतिहास के उन सौ लोगों का ज़िक्र है, जिन्होंने लेखक के अनुसार, इंसानी इतिहास पर सबसे ज़्यादा असर डाला है। इस किताब का लेखक मज़हब से ईसाई है और शिक्षा के लिहाज़ से एक वैज्ञानिक है। लेकिन अपनी सूची में उसने पहले नंबर पर न हज़रत ईसा मसीह का नाम रखा है और न ही न्यूटन का। उसके हिसाब से वह व्यक्ति जिसे उसके असाधारण कामों की वजह से पहले नंबर पर होना चाहिए, वह इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मोहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) हैं। लेखक का कहना है कि पैग़म्बर (सल्ल०) ने मानव इतिहास पर जो असर डाला है, वह किसी भी और मनुष्य ने —चाहे वह धार्मिक हो या गैर-धार्मिक—नहीं डाला।

लेखक ने मुहम्मद (सल्ल०) के गुणों को स्वीकार करते हुए लिखा है:

> He was the only man in history who was supremely successful on both the religious and secular levels.— (Dr. Michael H. Hart, *The 100*, New York, 1978)
>
> आप इतिहास के अकेले व्यक्ति हैं जो धार्मिक स्तर पर भी और धर्मनिरपेक्ष स्तर पर भी पूरी तरह सफल रहे।

अंग्रेज़ इतिहासकार थॉमस कार्लाइल (Thomas Carlyle, 1795–1881) ने पैग़म्बर-ए-इस्लाम को पैग़म्बरों का नायक कहा था। अमेरिकी लेखक माइकल हार्ट (Dr. Michael H. Hart, जन्म 1932) ने आपको मानव इतिहास का सबसे महान व्यक्ति बताया है। पैग़म्बर-ए-इस्लाम की महानता इतनी स्पष्ट है कि

वह उनके मानने वालों के लिए सिर्फ "एक आस्था" का दर्जा नहीं रखती, बल्कि वह एक स्वीकृत ऐतिहासिक सच्चाई है, और हर वह व्यक्ति जो इतिहास को जानता है, वह इसे एक तथ्य के रूप में मानने पर मजबूर है।

अगर कोई व्यक्ति ऊपर नज़र दौड़ाये तो उसे हर तरफ आसमान ही फैला हुआ दिखाई देगा। इसी तरह इंसानी ज़िंदगी में जिधर भी नज़र डाली जाए, पैग़म्बर-ए-इस्लाम के प्रभाव स्पष्ट रूप से अपना काम करते हुए दिखाई देते हैं। वे सारी अच्छी बातें और ऊँची सफलताएँ जिन्हें आज अहमियत दी जाती है, वे सब आपके द्वारा लाए हुए बदलाव के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नतीजे हैं।

धार्मिक जीवन में व्यक्ति-केन्द्रित धारणा के बजाय केवल अल्लाह की इबादत का संदेश किसने दिया? आस्था को अंधविश्वास से हटाकर सच्चाई और समझ की बुनियाद पर किसने स्थापित किया? आस्था को अंधविश्वास की जगह सच्चाई की बुनियाद पर किसने रखा? विज्ञान में प्रकृति की पूजा की जगह उसे अधीन करने का सबक़ किसने दिया? राजनीति में वंशवादी सत्ता की जगह जनता की सत्ता का रास्ता किसने दिखाया? ज्ञान की दुनिया में कल्पनाओं की जगह सच्चाई पर आधारित सोच किसने दी? समाज के ढांचे में ज़ुल्म की जगह न्याय की नींव किसने रखी? इन सब सवालों का जवाब यही है कि ये सारी बातें इंसान को पैग़म्बर-ए-इस्लाम से मिलीं। आपके सिवा कोई और नहीं है जिसकी तरफ़ इन उपलब्धियों को सही रूप में समर्पित किया जा सके। बाकी सभी लोग आपके लाए हुए परिवर्तनकारी धारे का फायदा उठाने वाले हैं, न कि उसे अस्तित्व में लाने वाले।

अल्लाह ने अपने नबी को इतिहास का महान व्यक्ति बनाकर इंसानी समाज पर अपना सबसे बड़ा उपकार किया है। इस तरह आपको इतिहास में एक ऐसा ऊँचा मीनार बनाकर खड़ा किया गया है कि इंसान जिस तरफ भी देखे, वह आपको देख सके। जब वह किसी रहनुमा की तलाश में निकले तो उसकी नज़र सबसे पहले आप पर पड़े। जब वह सत्य के मार्ग को जानना चाहे, तो इस्लाम के पैग़म्बर (सल्ल०) का ऊँचा और महान व्यक्तित्व सबसे पहले उसे अपनी ओर खींचे। आप पूरी इंसानियत के लिए सबसे बड़े मार्गदर्शक हैं, इसलिए आपको इतने

ऊंचे ऐतिहासिक स्थान पर खड़ा किया है कि कोई भी आँख वाला जब देखे, तो आपको देखे बिना न रह सके।

हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) उसी तरह अल्लाह के एक पैग़म्बर थे जैसे और बहुत से पैग़म्बर इस दुनिया में आए हैं। क़ुरान की स्पष्ट व्याख्या के अनुसार, आपके उद्देश्य और बाक़ी पैग़म्बरों के उद्देश्य में असल में कोई फर्क नहीं था, लेकिन आपकी एक अलग पहचान यह थी कि आप पैग़म्बरों की आख़िरी कड़ी थे। बाक़ी लोग केवल अल्लाह के पैग़म्बर थे, लेकिन आप अल्लाह के पैग़म्बर होने के साथ-साथ पैग़म्बरों के सिलसिले को ख़त्म करने वाले भी थे। क़ुरान में आया है: "वह अल्लाह के रसूल और नबियों के खातम (seal) हैं।" (क़ुरान, 33:40)

यह दुनिया चूंकि एक परीक्षा की जगह है और यहाँ हर इंसान को आज़ादी दी गई है कि वह जैसा चाहे वैसा काम करे, इसलिए यहाँ पैग़म्बरों पर यह ज़िम्मेदारी नहीं रखी गई कि वे लोगों को ज़बरदस्ती बदलें। उनकी ज़िम्मेदारी सिर्फ़ यह थी कि वे अल्लाह का दिया हुआ सच्चा संदेश साफ़ तौर पर लोगों तक पहुँचा दें: "अतः रसूलों के ज़िम्मे तो सिर्फ़ साफ़-साफ़ पहुंचा देना है।" (क़ुरान, 16:35)

लेकिन आख़िरी पैग़म्बर के लिए यह भी ज़रूरी था कि वे एक व्यावहारिक क्रांति लाएं और धरती के बड़े हिस्से में अपने एक समुदाय को खड़ा करें, ताकि उनके द्वारा लायी गयी किताब (क़ुरान) की हमेशा के लिए सुरक्षा की जा सके। नियमों से बंधे इस संसार में किसी किताब की हिफाज़त का यही एक रास्ता मुमकिन है। और अगर अल्लाह की तरफ़ से भेजी हुई किताब सुरक्षित न रहे तो पैग़म्बरों का आना रुक नहीं सकता। यानी बाक़ी पैग़म्बर सिर्फ़ आह्वान कर्ता थे, लेकिन मुहम्मद (सल्ल०) लोगों तक इस्लाम की शिक्षा पहुँचाने के लिए ही नहीं बल्कि समाज में बदलाव लाने वाले पैग़म्बर भी थे।

मनुष्य को इस संसार में कार्य करने की स्वतंत्रता है, लेकिन उसे अपने कार्य के परिणाम पर कोई नियंत्रण नहीं है। यह एक बहुत ही गंभीर स्थिति है, जिसमें इंसान इस दुनिया में फंसा हुआ है। इसी वजह से अल्लाह ने इंसान के मार्गदर्शन के लिए

बहुत ही संपूर्ण व्यवस्था की, ताकि अल्लाह की अदालत में किसी के पास कोई बहाना न बचे।

सबसे पहले, इंसान को एक बहुत ही उत्तम रचना के साथ पैदा किया गया और उसके स्वभाव में सही और ग़लत में फर्क करने की समझ रख दी गई। इसके बाद उसे एक ऐसी दुनिया में रखा गया जिसकी नीव पूर्ण रूप से इंसाफ पर रखी गई है, ताकि इंसान जहाँ भी देखे, हर तरफ उसे अल्लाह का पैग़ाम एक खामोश ज़ुबान में सुनाई देता रहे। इसी के साथ एक ख़ास वय्वस्था ये की गई कि हर दौर में और हर क़ौम में अल्लाह के पैग़म्बर आए और हर एक को उसकी अपनी भाषा में सच्चाई से अवगत कराते रहे।

अंतिम उपाय के तौर पर, अल्लाह की ये योजना हुई कि वह इंसानी जीवन की शक्ल में एक संपूर्ण और ज़िंदा उदाहरण दुनिया में खड़ा करे जो हर इंसान के लिए एक चलता फिरता आदर्श बन जाए। लेकिन हज़रत नूह से लेकर हज़रत ईसा तक जितने भी पैग़म्बर आए, उनके साथ जो कुछ भी घटा, उसकी वजह से ऐसा ज़िंदा उदाहरण इतिहास में क़ायम नहीं हो सका।

हज़रत इब्राहीम (अलैहिस्सलाम) ने काबा की तामीर के समय इसी तरह के एक नबी के आने की दुआ की थी। आपकी दुआ के लगभग ढाई हज़ार साल बाद आख़िरी पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम), अल्लाह की ख़ास मदद के साथ, इसी मक़सद को पूरा करने के लिए भेजे गए।

आपने न सिर्फ़ अपनी व्यक्तिगत ज़िंदगी के रूप में एक आदर्श इंसान का उदाहरण दुनिया में पेश किया, बल्कि अल्लाह की योजना के मुताबिक हर तरह की परिस्थितियाँ भी आपके सामने आईं, और हर परिस्थिति में आपने अल्लाह के मार्गदर्शन पर टिके रहकर यह दिखा दिया कि कैसा इंसान अल्लाह का वांछित इंसान होता है।

आपके ज़रिए सिर्फ़ यह नहीं हुआ कि अल्लाह की इबादत का एक इंसानी नमूना दुनिया में खड़ा हुआ, बल्कि यह भी साबित हुआ कि जब कोई इंसान सच्चे दिल से अल्लाह की इबादत का रास्ता अपनाता है, तो अल्लाह किस तरह से उसकी मदद करता है। अल्लाह का भय इंसान को बाक़ी सभी भय से मुक्त कर देता है।

उकसाने वाले मौकों पर सिर्फ़ अल्लाह के लिए धैर्य रखना कैसे सफलता की सीढ़ी बन जाता है। आख़िरत के लिए दुनियावी फायदे छोड़ना कैसे आख़िरकार इंसान को दोनों—दुनिया और आख़िरत—दे देता है। नकारात्मक सोच से ऊपर उठकर काम करना कैसे इंसान को ऐसी सफलता तक पहुँचाता है कि दुश्मन भी दोस्त बन जाते हैं।

आख़िरी पैग़म्बर से पहले जो पैग़म्बर आए, उनकी ज़िंदगी संरक्षित इतिहास का हिस्सा न बन सकी। इसका नतीजा यह है कि शुद्ध बौद्धिक और ऐतिहासिक तौर पर उनकी पैग़म्बरी सिद्ध पैग़म्बरी नहीं है। हज़रत ईसा पुराने पैग़म्बरों में आख़िरी पैग़म्बर माने जाते हैं। लेकिन इतिहास के आधार पर उनकी स्थिति भी ऐसी है कि एक पश्चिमी विचारक को यह कहने का मौका मिला: "इतिहास के लिहाज़ से यह बात बहुत संदिग्ध है कि ईसा मसीह का कभी इस दुनिया में अस्तित्व था भी या नहीं।"

> Historically, it is quite doubtful whether Christ ever existed at all. (Bertrand Russell, *Why I am not a Christian*, London, 2004, p. 12)

लेकिन आख़िरी पैग़म्बर (मुहम्मद सल्ल०) का मामला बिल्कुल अलग है। आपकी हैसियत ऐतिहासिक तौर से इतनी अधिक प्रमाणित है कि जब कोई इतिहासकार आपके बारे में क़लम उठाता है, तो उसे ये शब्द लिखने पड़ते हैं:

> "दुनिया के पैग़म्बरों में केवल मुहम्मद ही ऐसे हैं जिनका जन्म इतिहास की पूरी रोशनी में हुआ।"
>
> (Muhammad is) the only one of the world's Prophets to be born within the full light of history. (Philip K. Hitti, *The Arabs: A Short History*, London, 1960, p. 23)

आपके जीवित पैग़म्बर होने का यह पहलू भी है कि आपको जो चमत्कार दिया गया, वह एक जिंदा और हमेशा रहने वाला चमत्कार था— यानी 'क़ुरान'। अगर आपको आम तरह के चमत्कार दिए जाते, तो वे आपके देहांत के बाद खत्म हो जाते। लेकिन आपकी नबूवत आपके देहांत के बाद भी पूरी तरह से बाक़ी

रहने वाली थी। इसी खास वजह से आपके लिए आपकी लाई हुई किताब को ही चमत्कार बना दिया गया। चमत्कार उस हैरान करने वाले काम को कहते हैं जिसकी नक़ल किसी इंसान के बस में न हो। क़ुरान की नक़ल न कोई आदमी कर सकता है और न ही कोई समूह। यह बात साबित करती है कि क़ुरान अल्लाह का एक चमत्कार है।

आखिरी पैग़म्बर को निस्बते इज़हार दी गई थी—अर्थात दीन (इस्लाम) को वैचारिक दृष्टिकोण से पूरी दुनिया के सामने साबित करना। यही निस्बत आपके बाद आपकी उम्मत (समुदाय) को भी दी गई है। लेकिन यह रिश्ता वही है, जैसे कहना कि किसान का खेती से नाता है। यानी किसान को वो सारे ज़रूरी साधन दिए गए हैं, जिनका सही इस्तेमाल करके वह अपने लिए हरी-भरी फसल उगा सकता है। इसी तरह पैग़ंबर और उनकी अनुयाईयों को बात पहुँचाने और वैचारिक श्रेष्ठता प्रदान करने की जिम्मेदारी दी गई है—मतलब, अल्लाह ने इस दुनिया में इस धर्म को लोगों के दिल तक पहुँचाने के लिए सारे मौके और साधन दे दिए हैं। जब भी इनका ठीक से इस्तेमाल होगा, नतीजा ज़रूर अच्छा निकलेगा।

अल्लाह ने हज़रत इब्राहीम से लेकर पैग़म्बर मुहम्मद की पैदाइश तक ढाई हज़ार साल के अंदर तमाम अनुकूल हालात पूरी तरह से जमा कर दिए थे। पैग़म्बर (सल्ल०) ने अल्लाह के मार्गदर्शन का पालन करते हुए उन अनुकूल हालात का भरपूर फ़ायदा उठाया। इसका नतीजा एक बहुत बड़ी कामयाबी के रूप में सामने आया।

अब फिर से पिछले चौदह सौ साल के दौरान अलग-अलग ऐतिहासिक बदलावों और ज्ञान की तरक्की के ज़रिए हर तरह के अनुकूल हालात हमारे पक्ष में इकट्ठा कर दिए गए हैं। आज भी पूरी तरह यह मुमकिन है कि आखिरी पैग़म्बर के लाए हुए संरक्षित धर्म (preserved religion) की शिक्षाओं को दूसरों तक पहुँचाया जाए। लेकिन यह तभी मुमकिन होगा जब इसके लिए वही शांतिपूर्ण संघर्ष किया जाए जो अल्लाह के नियमों के मुताबिक़ किसी वास्तविक नतीजे को हासिल करने के लिए ज़रूरी होता है। यह शर्त न तो पैग़म्बर से हटाई गई थी और न ही उनके उम्मतियों (अनुयायियों) के लिए यह कभी हट सकती है।

भाग एक

आदम से मसीह तक

अल्लाह की तरफ़ से जितने भी पैग़म्बर आए, सब इसलिए आए कि इंसान को ज़िंदगी की वास्तविक्ता बता सकें—यह वास्तविक्ता कि इस दुनिया की ज़िंदगी इंसान की हमेशा वाली ज़िंदगी का बस एक इम्तिहान का वक्फा (अवधि) है। करीब सौ साल की ज़िंदगी यहाँ गुज़ारकर हम अपनी असली और हमेशा वाली दुनिया में पहुंच जाते हैं, जहाँ अल्लाह के फर्मानबर्दारों के लिए जन्नत है और उसके नाफ़र्मान लोगों के लिए जहन्नम।

हज़रत आदम पहले इंसान भी थे और पहले पैग़म्बर भी। उनके बाद हज़रत मसीह तक लगातार अल्लाह के पैग़म्बर आते रहे। अबू उमामा की एक रिवायत में आया है कि अबू ज़र ग़िफ़ारी ने नबी (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) से पूछा कि कुल कितने नबी आए। आपने बताया कि एक लाख चौबीस हज़ार। उनमें से 315 रसूल (शरीअत यानि नया मार्गदर्शन लाने वाले पैग़म्बर) थे (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 22288)। इन पैग़म्बरों ने अलग-अलग इलाकों और लोगों को अल्लाह की सृष्टि-निर्माण योजना (creation plan of God) के बारे में बताया और सिखाया कि अल्लाह से डर कर कैसे ज़िंदगी बिताई जाए। लेकिन अधिकतर लोग ऐसे निकले जो अपनी आज़ादी को अल्लाह के निर्देश के अनुसार चलाने के लिए तैयार नहीं। हज़रत यहया को तो कोई भी अनुयाई नहीं मिला और उन्हें मार दिया गया। हज़रत लूत जब अपनी क़ौम को छोड़कर निकले, तो उनके साथ सिर्फ़ उनकी दो बेटियाँ थीं। हज़रत नूह की कश्ती में, तौरात के मुताबिक, सिर्फ़ आठ लोग थे। हज़रत इब्राहीम जब इराक़ से निकले, तो उनके साथ उनकी पत्नी सारा और भतीजे लूत थे। बाद में उनके दो बेटे, इस्माईल और इस्हाक़ भी उस काफ़िले में शामिल हो गए। हज़रत मसीह को सारी कोशिशों के बाद सिर्फ़ बारह लोग मिले, और वो भी आख़िरी वक़्त में उन्हें छोड़कर भाग गए (मत्ता, 26:56)।

ज़्यादातर नबियों के साथ ऐसा ही हुआ। कोई अकेला रह गया, किसी को थोड़े से ही साथी मिले (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 5752)। और जो थोड़े लोग

मिले उनमें भी ज़्यादातर लोग ऐसे थे जो अपने पारिवारिक रिश्तों की वजह से उनके साथ खड़े थे। कुरआन की एक आयत इस पूरे इतिहास पर एक तरह की टिप्पणी है (क़ुरान, 36:30) "अफ़सोस है बंदों के ऊपर, जो रसूल भी उनके पास आया वे उसका मज़ाक़ ही उड़ाते रहे।"

इंसानी समाज में अल्लाह के नज़दीक सबसे अहम व्यक्ति वे हैं जिन्हें पैग़म्बर कहा जाता है। लेकिन यह कितनी अजीब बात है कि पूरे मानव इतिहास में यही लोग सबसे ज़्यादा उपेक्षित रहे हैं। राजाओं और सेनापतियों की घटनाओं को इतिहास ने विस्तार से दर्ज किया है, लेकिन हज़रत आदम से लेकर हज़रत ईसा तक कोई भी पैग़म्बर ऐसा नहीं है जिसे लिखित इतिहास में स्थान मिला हो।

अरस्तू (384–322 ईसा पूर्व) हज़रत मूसा के हज़ार साल बाद पैदा हुआ, लेकिन वह मूसा के नाम से भी परिचित नहीं था। इसका कारण यह है कि ज़्यादातर पैग़म्बरों को उनके अपने समुदाय ने नकार दिया। उनके घर उजाड़ दिए गए, उन्हें समाज में महत्वहीन बना दिया गया, उन्हें इस तरह से पेश किया गया मानो वे इतने तुच्छ हों कि उनके ज़िक्र की भी ज़रूरत नहीं।

पैग़म्बरों के साथ ऐसा व्यवहार क्यों हुआ? इसका केवल एक कारण है—अपने समुदायों की सोच और जीवनशैली की आलोचना करना। इंसान को सबसे ज़्यादा प्रिय होती है अपनी प्रशंसा, और सबसे अधिक अप्रिय होती है अपनी आलोचना। पैग़म्बर सत्य और असत्य को स्पष्ट करने के लिए आते हैं, वे अपनी कौमों की हाँ में हाँ नहीं मिलाते। वे उन्हें उनके विश्वास और आचरण की ग़लतियों की ओर ध्यान दिलाते हैं। इसी कारण लोग उनके विरोधी और यहां तक कि दुश्मन हो जाते हैं। यदि पैग़ंबर केवल वही बातें करते जो लोगों को अच्छी लगतीं, तो उन्हें कभी ऐसी परिस्थितियों का सामना नहीं करना पड़ता।

इस सामान्य परिणाम से कुछ पैग़म्बर ही बच सके हैं, जैसे हज़रत दाऊद, हज़रत सुलेमान, हज़रत यूसुफ़। लेकिन इन्हें जो सत्ता और लोकप्रियता मिली, वह उनके

विचारों की आम लोगों में स्वीकार्यता का नतीजा नहीं थी। इसके कारण पूरी तरह अलग थे।

हज़रत दाऊद इस्राईली राजा साऊल की सेना में एक युवा सैनिक थे। उनके समय में इस्राईलियों और फ़िलिस्तीनियों के बीच युद्ध हुआ। फ़िलिस्तीनी सेना में जालूत नाम का एक विशालकाय योद्धा था जिससे सभी डरते थे। राजा ने ऐलान किया कि जो उसे मारेगा, मैं अपनी बेटी की शादी उससे कर दूँगा। हज़रत दाऊद ने उससे युद्ध किया और उसे मार डाला। इस तरह वे इस्राईली राजा के दामाद बन गए। इसके बाद, एक युद्ध में जब राजा और उसका उत्तराधिकारी दोनों मारे गए, तो सिंहासन हज़रत दाऊद के हिस्से में आ गया। हज़रत सुलेमान उनके बेटे थे और उन्हें शासन अपने पिता से विरासत में मिला।

हज़रत यूसुफ़ को सपनों का अर्थ समझने का ज्ञान मिला। इससे मिस्र का राजा प्रभावित हुआ और उसने शासन व्यवस्था उन्हें सौंप दी। उसके बाद भी, राजा और सामान्य मिस्री लोग अपनी परंपरागत धार्मिक व्यवस्था पर कायम रहे।

इस परिस्थिति का नुकसान केवल यह नहीं था कि हर युग की अधिकतर आबादी अल्लाह की मार्गदर्शन से वंचित रही। इससे बड़ा नुकसान यह हुआ कि जो भी पैग़म्बर अल्लाह की ओर से पवित्र पुस्तक और संदेश लेकर आता था, उसे बाद में संरक्षित रखने की कोई व्यवस्था नहीं हो पाती थी। क्योंकि पैग़म्बर के बाद केवल उनके अनुयायी ही इसे सुरक्षित रख सकते थे। लेकिन या तो वे पर्याप्त संख्या में नहीं मिले, या इतने कम थे कि वे समाज के विरोध के सामने अल्लाह के वचनों की रक्षा नहीं कर सके।

अल्लाह, जिसका ज्ञान अनंतकाल तक फैला हुआ है, जो आने वाले भविष्य को वैसे ही देखता है जैसे गुज़रे अतीत को — उसे मानवता का यह अंजाम पहले से ज्ञात था। इसलिए उसने पहले से तय कर दिया था कि पैग़म्बरों के युग के अंतिम चरण में वह अपना एक विशेष प्रतिनिधि भेजेगा। इस पैग़म्बर को धार्मिक आह्वान के साथ-साथ धर्म की स्थापना की जिम्मेदारी भी दी जाएगी। उसे यह विशेष

सहायता प्राप्त होगी कि वह हर हाल में अपने सामने वालों पर प्रभावी हो और उन्हें सत्य को मानने के लिए प्रेरित करे (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 2125)। अल्लाह अपने ख़ास बन्दों के माध्यम से ऐसे इन्तेज़ाम कर दे की उसकी पुस्तक की स्थायी सुरक्षा सुनिश्चित हो जाए। बाइबल के शब्दों में: "जिस प्रकार समुद्र जल से भरा है, उसी प्रकार धरती अल्लाह की महिमा के इरफ़ान (बोद्ध) से भर जाएगी" (हबक्कूक, 2:14)।

अल्लाह ने अपनी इस योजना को, बाइबल की गवाही के अनुसार, हज़ारों वर्ष पहले विभिन्न पैग़म्बरों के माध्यम से प्रकट करना शुरू कर दिया था। उसमें यह बता दिया गया था कि वह पैग़म्बर अरब के रेगिस्तानी क्षेत्र से आएगा। वह इस्राईलियों के भाई अर्थात इस्माईल की संतान से होगा। वह हज़रत मसीह के बाद प्रकट होगा। उसके साथी अल्लाह द्वारा ख़रीदे हुए कहे जाएँगे। जो गिरोह उनसे टकराएंगे, वे टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगी। प्राचीन साम्राज्य जैसे ईरान और रोम झुक जाएँगे। उसकी सत्ता धरती से समुद्र तक फैली होगी, इत्यादि।

हालाँकि वर्तमान बाइबल अपने मूल रूप से कई अनुवादों और परिवर्तनों के कारण बहुत बदल चुकी है, फिर भी उसमें आज भी बड़ी संख्या में ऐसे कथन मौजूद हैं जो एक निष्पक्ष व्यक्ति को इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि वे केवल अंतिम आने वाले नबी पर ही लागू हो सकते हैं। विशेष रूप से हज़रत मसीह के पैग़म्बर बनाने का मिशन ही यह था कि वे दुनिया को, और विशेषकर यहूदियों को आने वाले नबी की सूचना अंतिम रूप से दे दें। उन्होंने जिस "नए अह्दनामे" की सूचना दी थी, वह वास्तव में इस्लाम था, जो यहूदियों की माज़ूली (अपदस्थी) के बाद इस्माईल की संतानों के माध्यम से स्थापित हुआ। इंजील "नया नियम" की शुभ-सूचना है, न कि स्वयं नया नियम (New Testament)।

हज़रत मसीह, अंतिम पैग़म्बर से छह सौ साल पहले आए। क़ुरान की सूरह 61"अस-सफ़्फ़" में कहा गया है कि हज़रत मसीह ने यहूदियों से कहा कि अल्लाह ने मुझे एक ऐसे पैग़म्बर की खुशख़बरी देने के लिए भेजा है, जो मेरे बाद आएगा और उसका नाम होगा "अहमद" (क़ुरान, 61:6)।

"अहमद" और "मुहम्मद" दोनों का अर्थ एक ही है — "जिसकी प्रशंसा की गई हो"। इंजील बर्नबास में "मुहम्मद" शब्द स्पष्ट रूप से आया है। लेकिन चूँकि ईसाई विद्वान इसे नकली ग्रंथ मानते हैं, इसलिए हम उसे प्रमाण के रूप में नहीं प्रस्तुत करते। साथ ही, हमें इसमें संदेह है कि हज़रत मसीह ने भविष्यवाणी में "अहमद" या "मुहम्मद" शब्द का प्रयोग किया होगा। अधिक संभावित बात यह है कि उन्होंने ऐसा कोई शब्द कहा होगा जिसका अर्थ "अहमद" या "मुहम्मद" के समान हो।

जीवनीकार मुहम्मद बिन इसहाक (मृत्यु 152 हिजरी) की एक रिवायत के अनुसार, जिसे इब्न हिशाम ने अपनी पुस्तक में दर्ज किया है, उस नाम का उच्चारण संभवतः "मुनहमन्ना" था। इब्न इसहाक की "सीरत" (पैग़म्बर की जीवनी) पर सबसे महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है। उन्होंने लिखा है कि मुझे बताने वालों ने बताया कि यह्वस (यूहन्ना) की इंजील में जिस आने वाले रसूल की भविष्यवाणी की गई है, उसमें उसका नाम "मुनहमन्ना" बताया गया है (*तहज़ीब सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 50)। यह अनुमान है कि यह रिवायत उन्हें अपने दौर के उन फिलिस्तीनी ईसाइयों से मिली होगी जो उस समय इस्लामी शासन के अधीन आ चुके थे। "मुनहमन्ना" सुर्यानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है "प्रशंसा किया गया।" अतीत के प्रभाव से उस समय तक, फिलिस्तीन के लोगों की भाषा सुर्यानी (Syriac) थी। यह संभावना ज़्यादा है कि ईसा मसीह की मातृभाषा में प्रयुक्त मूल शब्द "मुनहमन्ना" उनकी परंपराओं में चला आ रहा था, जो बाद में यूनानी अनुवादों में "फ़ारक़लीत" में बदल गया।

मुहम्मद (सल्ल०) को नुबूवत का मिलना

एक ओर अफ्रीका और दूसरी ओर एशिया तथा यूरोप के मध्य स्थित अरब का प्रायद्वीप प्राचीन बसी हुई दुनिया का भौगोलिक केंद्र है। लेकिन प्राचीन काल के किसी भी राजनीतिक विजेता ने इस क्षेत्र को अपनी सल्तनत में शामिल करने की

कोशिश नहीं की। सभी सैन्य अभियान अरब की सीमावर्ती क्षेत्रों—जैसे इराक, शाम, फिलिस्तीन, लेबनान और यमन—तक ही सीमित रहे। उसके आगे नज्द और हिजाज़ के इलाकों को अपने अधीन करने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। क्योंकि तीन ओर से समुद्रों से घिरे होने के बावजूद, इस क्षेत्र में उनके लिए सूखे पहाड़ों और उड़ती हुई रेत के अलावा कुछ नहीं था।

इसी बंजर और सूखी घाटी की केंद्रीय बस्ती मक्का में इस्लाम के पैग़म्बर मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह का जन्म हुआ। आपके पिता अब्दुल्लाह बिन अब्दुल मुत्तलिब का देहांत आपके जन्म से कुछ माह पहले हो गया था। माँ का भी निधन तब हो गया जब आप मात्र छह वर्ष के थे। इसके बाद आपके संरक्षक दादा अब्दुल मुत्तलिब बिन हाशिम बने, लेकिन वे भी दो वर्ष बाद इस दुनिया से चले गए। फिर आपकी देखभाल उनके चाचा अबू तालिब बिन अब्दुल मुत्तलिब ने की। लेकिन हिजरत से तीन वर्ष पहले—जब आपकी ज़िंदगी का सबसे कठिन दौर शुरू हुआ—तो उनके लिए भी मौत का संदेश आ गया।

हालाँकि प्रकृति ने आपको एक शानदार व्यक्तित्व प्रदान किया था। बचपन में ही आपको देखने वाले कह उठते: "इस लड़के का भविष्य महान है" (*अल-वफ़ा इब्न अल-जौज़ी*, पृ. 57)। जब आप बड़े हुए तो आपके व्यक्तित्व के रौब और शान का यह हाल था कि हज़रत अली के शब्दों में: "जो व्यक्ति आपको पहली बार देखता, वह भय से भर जाता; और जो निकट से जानता, वह आपसे प्रेम करने लगता" (*सुनन अल-तिर्मिज़ी*, हदीस संख्या 3638)। लेकिन जब चालीस वर्ष की आयु में आपने नुबूवत का एलान किया, तो लोगों को आपका यह दावा इतना तुच्छ लगा कि उन्होंने कहा: "देखो, यह फलां गाँव वाले का लड़का, कहता है कि उसे आसमान से वह्य (अल्लाह का संदेश) मिलती है" (*मनार अल-क़ारी*, शरह मुख़्तसर, *सहीह अल-बुख़ारी*, खण्ड 1, पृ. 66)।

मुहम्मद (सल्ल०) के दावती (आह्वनात्मक) संघर्ष की कुल अवधि मात्र 23 वर्ष रही। लेकिन इस बेहद संक्षिप्त समय में, आपने अरब के क़बीलों में ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया, जिसकी मिसाल मानव इतिहास में नहीं मिलती।

इस क्रांति ने सौ वर्ष से भी कम समय में दुनिया की दो बड़ी साम्राज्यशक्तियाँ—सासानी साम्राज्य और बाइज़न्टाइन साम्राज्य—को पराजित कर दिया, और एक ओर इराक व ईरान से लेकर बुख़ारा तक, दूसरी ओर शाम और फिलिस्तीन से लेकर मिस्र और पूरे उत्तर अफ्रीका तक फैल गया। फिर यह पश्चिम की ओर बढ़ा और 711 ईस्वी में जिब्राल्टर (Gibraltar) के रास्ते स्पेन और पुर्तगाल में दाखिल हुआ। पश्चिमी यूरोप में इस्लामी क़ाफ़िले की प्रगति को 732 ईस्वी में फ्रांस के राजा चार्ल्स मार्टेल ने टूर्स (Tours) के मुकाम पर रोक दिया। फिर भी दो सदियों तक यूरोप के धर्मयुद्धों (क्रूसेड्स) और बाद में मंगोलों के भयंकर आक्रमणों के बावजूद, 15वीं सदी तक इस्लाम को कोई वास्तविक नुक़सान नहीं पहुंचा। हाँ, अपने आंतरिक मतभेदों के कारण उन्होंने स्पेन को खो दिया।

इसके बाद इस्लाम की वैचारिक शक्ति ने तुर्कों और मुग़लों को खड़ा किया। तुर्कों ने 1453 में क़ुस्तुंतुनिया (कॉन्स्टेंटिनोपल) को जीत लिया और पूर्वी यूरोप में यूगोस्लाविया तक पहुंच गए। वियाना (Viana) के पास 1683 तक एक तुर्की सेना मौजूद रही। 16वीं सदी में, मुग़लों ने भारत और अफ़ग़ानिस्तान के क्षेत्रों में इस्लामी सत्ता स्थापित की। तेरह सदियों के बाद इस विस्तार का परिणाम यह है कि आज दुनिया के लगभग हर हिस्से में मुसलमान मौजूद हैं। एशिया और अफ्रीका से लेकर यूरोप तक लगभग चार दर्जन देशों का एक मुस्लिम भूभाग बन चुका है। मोअतमर आलम-ए-इस्लामी द्वारा प्रकाशित आलमी मुस्लिम गज़ेटियर (World Muslim Gazetteer, 1975) के अनुसार, दुनिया में मुसलमानों की अनुमानित संख्या लगभग 90 करोड़ थी।

यह सब जो हुआ, वही 23 वर्षों के उस कार्य का नतीजा था जो इस्लाम के पैग़म्बर के नेतृत्व में अरब में किया गया था। 23 वर्षों की अवधि में ऐसा बदलाव आना जो न सिर्फ़ मानव इतिहास में हमेशा के लिए दर्ज हो जाए बल्कि अपनी एक अलग पहचान बना ले, किसी इंसान के बस की बात नहीं थी। यह एक अल्लाह की योजना थी और उसी ने इसे पूरा किया। बद्र की जीत के बाद जब मुसलमान लौटे तो 'रौहा' नाम की जगह पर कुछ लोग मिले जिन्होंने उन्हें विजय की बधाई

दी। सलमा बिन सलामा ने जवाब दिया — "तुम किस बात की बधाई दे रहे हो? अल्लाह की कसम, ये तो जैसे बंधे हुए ऊँट थे जिन्हें हमने वश में कर लिया।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 644)

ऐसा लगता है कि अल्लाह ने विशेष व्यवस्था के तहत पहले ही इसके कारण उपलब्ध करा दिए थे। अरब के सूखे भू-भाग में एक ऐसे समुदाय को इकट्ठा कर दिया गया था जिसमें चटियल मैदान के कठिन जीवन के कारण नैतिकता की दृढ़ता थी। वे लोग केवल 'हाँ' या 'ना' को ही जानते थे — उनके लिए कोई तीसरा रास्ता नहीं था। उनके भीतर वे सभी स्वाभाविक गुण पूरी तरह से सुरक्षित थे जो किसी मक़सद को हासिल करने के लिए ज़रूरी होते हैं। इसके अलावा, अरब के चारों ओर उस समय की दुनिया के दो सबसे बड़े साम्राज्य स्थित थे। यह एक स्वाभाविक बात थी कि वे अपने पड़ोस में एक नई उभरती शक्ति को बर्दाश्त न करें और उसके ख़िलाफ़ हमला शुरू कर दें। इस तरह उनके हमलों ने पैग़म्बर के अनुयाईयों को मजबूर किया कि वे दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक देशों को जीतते चले जाएं। क्योंकि व्यवहार में उस समय की लगभग पूरी दुनिया इन्हीं दो हमलावर राष्ट्रों के अधीन थी। यह एक सच्चाई है कि इस्लाम के युद्ध दूसरों पर ज़ुल्म नहीं थे, बल्कि वे दूसरों के हमले का जवाब थे — और ऐसा जवाब देना हमेशा दुनिया भर में स्वीकार किया गया है।

इन घटनाओं का महत्व केवल राजनीतिक नहीं था। इससे बड़ी बात यह थी कि इस बदलाव के ज़रिए मानव इतिहास के बंद दरवाज़े को खोलना लक्ष्य था। इसके ज़रिए वह बदलाव आना था जो अल्लाह के दीन (जो हज़रत आदम से चला आ रहा है) को एक ऐतिहासिक सच्चाई बना दे — जो इससे पहले कभी ऐतिहासिक रूप नहीं ले पाया था। इससे छपाई का वो युग भी आया, जिससे कुरआन की हमेशा के लिए संरक्षित हो गया। फिर स्वतंत्रता और लोकतंत्र का समय आना था, जो सच्चाई के प्रचार करने वालों के रास्ते की सभी कृत्रिम (बनावटी) रुकावटों को हटा दे। इससे विज्ञान की वे खोजें सामने आनी थीं जो दीन की सच्चाई को तर्क और बोद्ध के स्तर पर साबित कर दें।

इस बदलाव का सबसे अहम पहलू यह है कि पैग़म्बर के ज़रिए अल्लाह ने आख़िरी दिन से पहले ही उसका दृश्य दिखा दिया। अच्छे लोगों को पैग़म्बर (सल्ल०) के ज़रिए ऊँचा दर्जा दिया गया — जो अंत में हमेशा के लिए श्रेष्ठता पाएंगे — और बुरे लोगों को उनके ज़रिए नीचा कर दिया गया — जो अंत में हमेशा हीनता और पराजय के शिकार रहेंगे।

इतिहास का यह दुखद दृश्य है कि अल्लाह के सच्चे उपासक इस दुनिया में हमेशा दबे-कुचले नज़र आते हैं और धन और सत्ता की पूजा करने वाले यहां प्रभावशाली बने रहते हैं। सभी पैग़म्बरों और सच्चे लोगों का इतिहास यही बताता है। यह स्थिति हक़ीक़ी सच्चाई से बिल्कुल उलट है। क्योंकि अंततः जो होना है, वह यह है कि अल्लाह अपने उपासकों को हमेशा की इज़्ज़त और श्रेष्ठता देगा और जो लोग केवल अपने स्वार्थ और दुनिया की चीज़ों की पूजा में लगे रहे, उन्हें हमेशा के लिए अपमान और शर्मिंदगी में डाल दिया जाएगा।

यह दुनिया एक परीक्षा का स्थान है। यहाँ लोगों को यह आज़ादी है कि वे जो चाहें, करें। इसलिए यहाँ अल्लाह किसी को जबरन किसी चीज़ से नहीं रोकता। लेकिन इस्लाम के पैग़म्बर के ज़रिए, कम से कम एक बार, इस धरती पर उस दृश्य को एक प्रारंभिक रूप में दिखा दिया गया है जो पूर्ण और शाश्वत रूप में आख़िरत के दिन सामने आएगा। आपके उन साथियों — जिनके घर उजाड़ दिए गए, जिनके लिए धरती तंग कर दी गई, जिनकी रोज़ी-रोटी ख़त्म कर दी गई, जिन्हें इतना सताया गया कि उन्हें हर वक़्त डर लगा रहता था कि लोग उन्हें ख़त्म कर देंगे—को सम्मान और सत्ता के सिंहासन पर बिठा दिया गया। दूसरी तरफ, क़ुरैश और यहूदी, रोमी और ईरानी, यमनी और ग़स्सानी — जो धन और सत्ता के घमंड में डूबे थे — उन्हें सत्ता से निकाल बाहर किया गया।

हर पैग़म्बर जो अल्लाह की ओर से आता है, वह धरती पर अल्लाह की अदालत की तरह होता है। उसके ज़रिए अल्लाह अपने उन फैसलों की जानकारी लोगों को देता है — जिन्हें वह आख़िरत के दिन ख़ुद सुनाएगा। लेकिन इस्लाम के पैग़म्बर (सल्ल०) के ज़रिए अल्लाह की यह अदालत इतनी विशेष रूप में सामने आई कि वह मानव इतिहास का हिस्सा बन गई। जैसे और भी कई मानव अनुभव

ऐतिहासिक सच्चाई का दर्जा पा चुके हैं, वैसे ही यह घटना भी एक ऐतिहासिक सच्चाई के रूप में दर्ज हो चुकी है — कि अल्लाह अपने सच्चे बन्दों को सम्मान देता है और जो लोग विरोध और हठधर्मी का रास्ता चुनते हैं, उन्हें हमेशा के लिए अपमान और विनाश का दंड मिलता है। स्वर्ग और नरक भले ही दूसरे जीवन की सच्चाईयां हों, लेकिन इंसानों को समझाने के लिए अल्लाह ने उनका एक प्रारंभिक दृश्य इसी दुनिया में दिखा दिया है।

सच्चाई यह है कि हज़रत मोहम्मद की पैग़म्बरी का प्रकट होना, अल्लाह की प्रभुता का प्रकट होना था। इसी वजह से बाइबिल में इसे "अल्लाह का राज (Kingdom of God)" कहा गया है। आपके लाए हुए बदलाव की निःसंदेह राजनीतिक और सामाजिक अहमियत के साथ-साथ और भी बहुत सारी अहमियतें हैं। लेकिन इसकी सबसे बड़ी अहमियत यह है कि अल्लाह मनुष्य को इसके ज़रिये अपनी महानता और इंसाफ़ का अनुभव कराता है। पैग़म्बर (सल्ल०) के लाए इस बदलाव ने उन सच्चाइयों से पर्दा हटा दिया है जिन्हें इंसान आख़िरत में उनकी पूरी सूरत में देखेगा।

आदर्श चरित्र

इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद का जन्म 22 अप्रैल 571 ईस्वी को अरब में हुआ और 8 जून 632 ईस्वी को उनका निधन हुआ। आप बहुत स्वस्थ और शक्तिशाली थे। बचपन से ही वे ऐसे थे कि जो भी देखता, कह उठता: "इस लड़के में एक शान (वैभव) है" (*अल-वफ़ा इब्न अल-जौज़ी*, पृष्ठ 57)। जब बड़े हुए तो आपकी शख्सियत में और अधिक निखार आया। आपको देखने वाले आपसे प्रभावित हो जाते। इसके साथ ही आप इतने नरम और मधुर बोलने वाले थे कि जो व्यक्ति थोड़ी देर भी आपके पास रहता, वह आपसे प्रेम करने लगता। सहनशीलता, सच्चाई, व्यवहार-कुशलता, अच्छा बर्ताव—ये सब गुण

आप में पूरी तरह पाए जाते थे। सार ये है कि आप उस इंसानी बुलंदी के सबसे श्रेष्ठ प्रतीक थे जिसे मनोविज्ञान की भाषा में "संतुलित व्यक्तित्व" (balanced personality) कहा जाता है। दाऊद बिन हुसैन का वर्णन है:

> "लोग कहा करते थे कि पैग़म्बर मुहम्मद अपनी क़ौम में सबसे श्रेष्ठ इंसान हैं—स्वभाव में सबसे अच्छे, व्यवहार में सबसे भले, मेलजोल में सबसे शालीन, पड़ोसियों के मामले में सबसे सजग, सहनशीलता और ईमानदारी में सबसे बेहतर, बात में सबसे सच्चे, और बुराईयों तथा दूसरों को कष्ट देने से सबसे दूर। उन्हें कभी किसी से बहस या झगड़ते नहीं देखा गया। इसी कारण उनकी क़ौम ने उन्हें 'अमीन' यानी भरोसेमंद का नाम दिया था।" (*अल-ख़साइस अल-कुबरा*, अल-सुयूती, खण्ड 1, पृष्ठ 153)

पैग़म्बर (सल्ल०) ने 25 वर्ष की आयु में जब आपने विवाह किया, तो इस अवसर पर आपके चाचा अबू तालिब ने निकाह का भाषण देते हुए कहा:

> "मेरे भतीजे मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह की तुलना अगर किसी व्यक्ति से की जाए तो वह उस पर अच्छे आचरण, श्रेष्ठता, उदारता, समझदारी, सम्मान और कुलीनता में भारी पड़ेंगे... ख़ुदा की क़सम, उनका भविष्य महान होगा और उनका दर्जा ऊँचा होगा।" (*जामेअुल-आसार*, इब्न नासिरुद्दीन अल-दमिश्क़ी, खण्ड 3, पृष्ठ 460)

अबू तालिब ने ये शब्द उस अर्थ में नहीं कहे थे जिन अर्थों में बाद में इतिहास ने उन्हें सच्चा साबित किया। उन्होंने यह बात पूरी तरह दुनियावी अर्थों में कही थी। उनका मतलब यह था कि जो व्यक्ति स्वभाव से इतनी प्रभावशाली शख़्सियत लेकर पैदा हुआ हो, जैसा कि मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह में दिखता है, वह अपनी क़ौम में सम्मानजनक स्थान प्राप्त करता है और समाज में उसकी ऊँची हैसियत बन जाती है। ऐसे व्यक्ति की उच्च योग्यताएँ उसकी तरक़्क़ी और सफलता की निश्चित गारंटी होती हैं।

पैग़म्बर इस्लाम के लिए ये संभावनाएँ पूरी तरह से मौजूद थीं। आप अपनी क्षमताओं का बड़े से बड़ा दुनियावी लाभ प्राप्त कर सकते थे। आप मक्का के एक प्रतिष्ठित परिवार में पैदा हुए थे। हालाँकि, आपको अपने पिता से विरासत में केवल एक ऊँटनी और एक दासी मिली थी। लेकिन आपकी शानदार जन्मजात विशेषताओं ने मक्का की सबसे धनवान महिला हज़रत ख़दीजा को प्रभावित किया। 25 वर्ष की उम्र में हज़रत ख़दीजा से विवाह हुआ। वह एक व्यापारी परिवार की विधवा थीं। उनसे आपको केवल संपत्ति और धन ही नहीं मिला, बल्कि अरब और अरब के बाहर व्यापार के बड़े अवसर भी प्राप्त हुए। अब आपके पास एक शांत और सफल जीवन हासिल करने के सभी अवसर मौजूद थे। लेकिन इनको छोड़कर एक और ही रास्ता चुना। आपने जानबूझकर अपने आपको उस राह पर डाल दिया जो केवल दुनियावी नुकसान की तरफ़ ले जाती थी। हज़रत ख़दीजा से विवाह से पहले आप अपनी जीविका के लिए कुछ आर्थिक कार्य कर लिया करते थे। अब वह भी छूट गया। अब आप पूरी तरह उस तलाश में लग गए जो आपको बचपन से थी— सच्चाई क्या है। आप घंटों बैठकर धरती और आकाश के रहस्यों पर चिंतन करते रहते। मक्का के शुरफ़ा (कुलीनों) से संबंध बढ़ाने और वहाँ की सभाओं में अपनी जगह बनाने के बजाय आपने यह किया कि रेगिस्तानों और पहाड़ों को अपना साथी बना लिया। मक्का से तीन मील की दूरी पर एक पहाड़ी श्रृंखला है जिसमें एक गुफा है जिसका नाम हिरा है। आप सत्तू और पानी लेकर वहाँ चले जाते। पहाड़ के सुनसान वातावरण में जीवन की वास्तविकता पर सोचते। धरती और आकाश के पैदा करने वाले से प्रार्थना करते—हे मेरे पालनहार, तू स्वयं को मेरे सामने प्रकट कर दे। सच्चाई क्या है, मुझे बता दे। जब पानी की मशक खाली हो जाती और सत्तू खत्म हो जाते, तो घर लौटते ताकि फिर से खाने-पीने का सामान लेकर प्रकृति के उसी वातावरण में लौट जाएँ जहाँ रेगिस्तान और पेड़ थे, पहाड़ और आकाश की शांत हवाएँ थीं। आपकी बेचैन प्रकृति को मानव समाज की चहल-पहल में अपने सवाल का उत्तर नहीं मिला था। अब आपने प्रकृति की शांत दुनिया को अपना साथी बना लिया था—कि शायद वही इसका कुछ उत्तर दे सके।

एक ऊर्जावान युवा के लिए इस प्रकार की ज़िंदगी कोई आसान बात नहीं थी। यह सुख की राह को छोड़कर दुख की राह चुनने जैसा था। पत्नी-बच्चों के साथ आराम की ज़िंदगी बिताना, व्यापार को बढ़ाना और समाज में अपनी जगह बनाना—ये सभी विकल्प आपके लिए पूरी तरह खुले हुए थे। लेकिन आपके बेचैन और खोजी स्वभाव इन चीज़ों से संतुष्ट होने को तैयार नहीं थे। जब तक जीवन का रहस्य सामने न आ जाए, तब तक बाकी सब चीज़ें आपको व्यर्थ लगती थीं। आप जानना चाहते थे कि इन बाहरी चीज़ों से ऊपर कोई सच्चाई है तो वह क्या है। लाभ-हानि और सुख-दुख की सीमाओं से हटकर आप इस सवाल को हल करने में लगे रहते—कि सत्य क्या है और असत्य क्या।

पैग़म्बर इस्लाम की ज़िंदगी का यही वह पक्ष है जिसे क़ुरान में इन शब्दों में बताया गया है: "और हमने तुम्हें सच्चाई का खोजी पाया, तो हमने तुम्हें रास्ता दिखाया।" (93:7) क़ुरान के लफ्ज़ "ज़ाल्ल" का अर्थ है रास्ता भटका हुआ, तलाश में भटकता हुआ। जैसे कि आपके बचपन के बारे में तफ़्सीर में आया है— "वह मक्का की घाटियों में खो गया था जब वह छोटा था, फिर वापस आया।" (*तफ़्सीर इब्ने कसीर*, खण्ड 8, पृष्ठ 426) यह शब्द उस मुसाफ़िर के लिए बोला जाता है जो रास्ते से भटक गया हो और हैरान-परेशान तरह-तरह के रास्तों को देख रहा हो—जिसे समझ में न आ रहा हो कि किस ओर जाए। इसी से उस पेड़ को "ज़ाल्ला" कहा जाता है जो रेगिस्तान में अकेला खड़ा हो और उसके आसपास कोई दूसरा पेड़ न हो। इसी तरह कहा जाता है— "पानी दूध में खो गया," (*तहज़ीब अल-लुग़ह*, अल-अज़हरी, खण्ड 11, पृष्ठ 320)। इस आयत का मतलब यह है कि आप अज्ञानता के रेगिस्तान में अकेले पेड़ की तरह खड़े थे,—रेगिस्तानों और पहाड़ों में इस तलाश में घूमते रहते थे कि सच्चाई क्या है, जिसे मैं अपनाऊँ। दुनिया के प्रचलित नक्शों में अपनी जगह बनाने के बजाय आप परेशान और चिंतित होकर अलग-थलग जा पड़े थे। सच्चाई से कम कोई चीज़ आपकी आत्मा को शांति नहीं दे सकती थी। यहाँ तक कि आपकी सच्चाई की तलाश इस स्तर तक पहुँच गई थी कि जीवन आपके लिए एक ऐसा बोझ बन गया था जो आपकी कमर तोड़े दे रहा था (क़ुरान, 94:2-3)।

उस समय अल्लाह की रहमत आप पर केन्द्रित हुई। आपके लिए सही रास्ता और रोशनी के दरवाज़े खोल दिए गए। 12 फरवरी 610 को, जब आप हिरा नाम के खोह में अकेले बैठे हुए थे, अल्लाह का फ़रिश्ता इंसान की शक्ल में आपके सामने आया और उसने आपको वह शब्द सिखाए जो क़ुरान की सूरह नंबर 96 की शुरुआत में लिखे हैं। आपकी खोज को आख़िरकार उसका जवाब मिल गया।

पैग़म्बर इस्लाम की बेचैन आत्मा का संपर्क अब सारे संसार के मालिक से हो गया। अल्लाह ने न केवल आपको रास्ता दिखाया, बल्कि आपको अपना विशेष दूत बना लिया। आप पर अल्लाह का संदेश उतरने लगा। आपकी पैग़म्बरी की यह अवधि 23 वर्षों तक फैली हुई है। इस दौरान अल्लाह की किताब (क़ुरान) पूरी तरह आप पर उतारी गई।

पैग़म्बर इस्लाम ने अपने कठिन जीवन के चालीसवें साल में सच्चाई को पा लिया। लेकिन यह सच्चाई आपके लिए कोई आसान बात नहीं थी। इस सच्चाई का मतलब यह था कि इंसान एक महानतम अल्लाह के असर में है। यह अपनी कमज़ोरी के मुक़ाबले अल्लाह की महानता को पहचानना था। यह अल्लाह की महानता को मानने के साथ खुद के तुच्छ होने का एहसास था। यह जानना था कि इस दुनिया में एक सच्चे ईमानदार व्यक्ति की सिर्फ़ ज़िम्मेदारियाँ होती हैं, यहाँ उसके पास कोई अधिकार नहीं होता।

सच्चाई के मिलने के बाद, पैग़म्बर इस्लाम के लिए ज़िंदगी का अर्थ क्या था—यह समझने के लिए यहां सिर्फ़ एक हदीस पेश की जाती है। आपने एक बार कहा:

"मेरे रब ने मुझे नौ बातों का हुक्म दिया है—

1. छुपे और खुले हर हाल में अल्लाह से डरता रहूं,
2. ग़ुस्से में या रज़ामंदी में इंसाफ़ की बात कहूं,
3. गरीबी और अमीरी दोनों हालतों में संतुलन बनाए रखूं,
4. जो मुझसे रिश्ता तोड़े मैं उससे जुड़ूं,

5. जो मुझे कुछ न दे मैं उसे भी दूं,

6. जो मुझ पर ज़ुल्म करे मैं उसे माफ़ कर दूं,

7. मेरी चुप्पी सोच-विचार की हो,

8. मेरी बात-चीत अल्लाह की याद में हो,

9. और मेरी नज़र सीख लेने वाली हो।"

(*जामेउल-उसूल*, हदीस संख्या 9317)

ये सिर्फ़ कोई भाषण या बातचीत के अल्फ़ाज़ नहीं थे। ये आपकी ज़िंदगी थी, जो अब शब्दों में बदल गई थी। इतनी असरदार और गहरी बातें किसी आम आदमी की ज़बान से नहीं निकल सकती थीं। ये शब्द खुद कहने वाले के दर्जे को ज़ाहिर कर रहे हैं। ये शब्द उस इंसान की अंदरूनी दुनिया को सामने ला रहे हैं। ये अल्फ़ाज़ बोलने वाले की रूह को शब्दों के आईने में साफ़-साफ़ दिखा रहे हैं।

मुहम्मद (सल्ल०) की ज़िंदगी नबूवत से पहले भी ऐसी ही थी, लेकिन वह पूरी तरह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति की वजह से थी। अब सच्चाई कि प्राप्ति ने उसे समझ और सोच का दर्जा दे दिया। जो किरदार पहले एक स्वाभाविक ज़रूरत के तहत सामने आता था, अब वह एक सोच-समझकर लिया गया फैसला बन गया। यह अल्लाह के एक ऐसे बंदे का दर्जा है जहां सांसारिक आवश्यकतायें बहुत कम हो जाती हैं और सिर्फ़ उतनी ही बचती हैं जितनी ज़रूरी हों। इंसान की जीने की सोच आम लोगों से अलग हो जाती है। उसका शरीर इस दुनिया में रहता है, लेकिन उसका मन और आत्मा किसी और ही दुनिया में होते हैं।

एक हदीस के मुताबिक़ पैग़म्बर इस्लाम ने कहा:

> "एक समझदार आदमी जब तक होश-व-हवास में हो, उसके लिए ज़रूरी है कि उसके पास कुछ समय हो— ऐसा समय जिसमें वह अपने रब से बातचीत करे, ऐसा समय जिसमें वह खुद का लेखा-जोखा करे, ऐसा समय जिसमें वह अल्लाह की

बनाई हुई दुनिया पर सोचे, और ऐसा समय जिसमें वह खाने-पीने की ज़रूरतें पूरी करे।" (*सहीह इब्न हिब्बान*, हदीस संख्या 361)

यानी, अल्लाह का सच्चा बंदा वही है जिसके दिन और रात ऐसे गुज़रें कि कभी उसकी बेचैनी उसे अल्लाह के इतना क़रीब कर दे कि वह अपने रब से धीमे-धीमे बातें करने लगे। कभी हिसाब के दिन का डर उस पर इतना असर करे कि वह इसी दुनिया में अपना हिसाब खुद करने लगे। कभी वह इस सृष्टि में अल्लाह की बनाई हर चीज़ को देखे और उसमें इतना डूब जाए कि उसे हर जगह अल्लाह की मौजूदगी नज़र आए। ऐसे जैसे उसके दिन और रात अल्लाह से मुलाकात, खुद से मुलाकात और दुनिया से संपर्क में गुजरते हों। और जब ज़रूरत हो, तो वह खाने-पीने के लिए भी वक्त निकाल ले।

ये शब्द किसी दूर के व्यक्ति का परिचय नहीं हैं, बल्कि इनमें स्वयं पैग़म्बर इस्लाम की अपनी आत्मा बोल रही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आपके शरीर के भीतर जो ईमान से भरी आत्मा थी, उसमें हर समय किस प्रकार के भावनात्मक तूफ़ान उठते रहते थे। आपकी ज़िंदगी किस प्रकार की "घड़ियों" के बीच गुज़र रही थी—यह एक ऐसी अनुभूति है, जिसे जो व्यक्ति स्वयं तजुर्बा कर रहा हो, वह इतने उच्च स्तर के शब्दों में उसे व्यक्त नहीं कर सकता। ये ऐसे शब्द हैं जो उस आत्मा से निकले हैं जिसने उन अनुभवों को पूर्ण रूप से जिया था, और अब वह उन्हें शब्दों के ज़रिये दूसरों तक पहुँचा रहा था।

पैग़म्बर इस्लाम को जब तक अल्लाह की ओर से दिव्य संदेश (वह्य) नहीं प्राप्त हुआ था, यह संसार अपनी तमाम कमियों और बाधाओं के साथ उन्हें अर्थहीन लगता था। लेकिन जब अल्लाह ने आप पर यह सच्चाई प्रकट की कि इस संसार के अतिरिक्त एक और दुनिया है जो पूर्ण और शाश्वत है और वही मनुष्य का वास्तविक निवास स्थान है, तब जीवन और सृष्टि दोनों आपके लिए अर्थपूर्ण हो गए। आपने जीवन का वह स्तर प्राप्त कर लिया जहाँ आप वास्तव में जी सकते थे, जिससे आप आत्मिक रूप से जुड़ सकते थे। अब आपको एक वास्तविक दुनिया प्राप्त हो गई थी जिससे आप अपनी आशाओं और आकांक्षाओं को जोड़ सकते थे, और जिसको सामने रख कर आप अपने जीवन की योजना बना सकते थे।

यही मतलब है पैग़म्बर इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम की हदीस का कि "दुनिया आख़िरत की खेती है"। (स्रोत : *अल-मक़ासिद अल-हसनह*, हदीस संख्या 497) इस सोच के आधार पर जो जीवन बनता है, उसे आज की भाषा में "आख़िरत-केन्द्रित जीवन" कहा जा सकता है। ऐसा इंसान अपनी सोच के असर से यह समझने लगता है कि असली फ़िक्र आख़िरत की होनी चाहिए। वह जान जाता है कि यह दुनिया हमारी मंज़िल नहीं है, बल्कि एक रास्ता है। यह आख़िरत की तैयारी का पहला स्टेज है।

जिस तरह एक दुनियादार आदमी की सारी कोशिशें दुनियावी फ़ायदे के इर्द-गिर्द होती हैं, वैसे ही एक अल्लाह-से-डरने वाले इंसान की ज़िंदगी का रुख आख़िरत की तरफ़ होता है। हर हाल में वह यही सोचता है कि इसका असर आख़िरत में क्या होगा—चाहे खुशी हो या ग़म, कामयाबी हो या नाकामी, चाहे हालात अधीनता के हों या प्रभुत्व के, तारीफ़ हो या आलोचना, ग़ुस्सा हो या मोहब्बत—हर हाल में आख़िरत की फ़िक्र ही उसे राह दिखाती है।

धीरे-धीरे ये सोच उसके अंदर इतनी गहराई तक बैठ जाती है कि वह उसके लाशुऊर (Sub-conscious) का हिस्सा बन जाती है। वह अब भी एक आम इंसान होता है, लेकिन अब वह उन्हीं बातों पर सोचता है जो आख़िरत से जुड़ी होती हैं। जिन बातों का आख़िरत से कोई लेना-देना नहीं होता, उनमें उसकी दिलचस्पी इतनी कम हो जाती है कि कई बार उसे कहना पड़ता है: "तुम लोग अपने दुनियावी मामलों को मुझसे ज़्यादा जानते हो।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 2363)

इस सच्चाई का दर्जा केवल एक बौद्धिक खोज का नहीं है। जब कोई इंसान इसे पा लेता है, तो उसके जीने का स्तर बदल जाता है, वो कुछ से कुछ हो जाता है। इसकी सबसे अच्छी मिसाल खुद पैग़म्बर इस्लाम की शख़्सियत है। उनकी ज़िंदगी से सबसे बड़ा सबक़ यह मिलता है कि जब तक इंसान अपनी ज़िंदगी का स्तर नहीं बदलता, तब तक उसके व्यवहार में भी असली बदलाव नहीं आ सकता।

जब पैग़म्बर इस्लाम ने सच्चाई पाई तो यह उनकी पूरी ज़िंदगी का सबसे बड़ा मक़सद बन गई। जिस जन्नत की आप दूसरों को ख़बर दे रहे थे, उसी की आपको सबसे ज़्यादा चाह होने लगी; और जिस जहन्नम से आप लोगों को डरा रहे थे, उससे आप सबसे ज़्यादा डरने वाले बन गए। यह अंदरूनी हालत बार-बार दुआ और क्षमा-याचना (इस्तग़फ़ार) के रूप में आपकी ज़ुबान पर आती रहती थी।

पैग़म्बर (सल्ल०) की ज़िंदगी आम लोगों से कितनी अलग थी, इसका अंदाज़ा कुछ घटनाओं से लगाया जा सकता है। एक घटना हदीस की किताबों में इस तरह आई है—

उम्मे सलमा कहती हैं कि नबी सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम उनके घर में थे। आपने एक सेविका को बुलाया, लेकिन वह नहीं आई, तो आपके चेहरे पर क्रोध के भाव स्पष्ट हो गए। उम्मे सलमा परदे के पास गईं और देखा कि वह सेविका खेल रही थी, उस वक़्त आपके हाथ में मिस्वाक (दंतकाष्ठ) थी। आपने सेविका से कहा: "यदि क़ियामत के दिन बदले का भय न होता, तो मैं तुझे इसी मिस्वाक से मारता।" (*अल-अदब अल-मुफ़रद*, हदीस संख्या 184)

बद्र की लड़ाई (रमज़ान, 2 हिजरी) में जो लोग बंदी बनाए गए थे, वे पैग़म्बर (सल्ल०) के सबसे बड़े दुश्मन थे। लेकिन आपने उनके साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया। उन बंदियों में एक सुहैल बिन अम्र थे। वह बहुत अच्छे भाषण देने वाले थे और आम सभाओं में आपके खिलाफ़ सख्त बातें करते थे। हज़रत उमर फ़ारूक ने सलाह दी कि उसके निचले दो दाँत उखड़वा दिए जाएँ, ताकि वह बोल न सके और उसके भाषणों का असर खत्म हो जाए। पैग़म्बर (सल्ल०) ने यह सुनकर फ़रमाया: "मैं उसके चेहरे को बिगाड़ने का काम नहीं करूंगा, नहीं तो अल्लाह मेरा चेहरा बिगाड़ देगा—अगरचे मैं खुदा का पैग़म्बर ही क्यों न हूं।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 649)

पैग़म्बर इस्लाम भी आम इंसानों की तरह ही इंसान थे। कोई खुशी की बात होती तो आप खुश हो जाते, और कोई दुखद बात होती तो आप दुखी हो जाते। लेकिन

अल्लाह की बंदगी का भाव कभी भी आपको उसकी तय की गई हदों से बाहर नहीं जाने देता था।

पैग़म्बर को ज़िंदगी के आख़िरी दिनों में, मारीया क़िब्तिया से एक बेटा हुआ। वह बच्चा बहुत सुंदर और स्वस्थ था। आपने उसका नाम अपने पूर्वज 'इब्राहीम' के नाम पर रखा। जब अबू राफ़े ने आपको उसके जन्म की खबर दी, तो आप इतने खुश हुए कि आपने उन्हें इनाम दिया। आप इब्राहीम को गोद में लेते, उन्हें प्यार करते और खेलाते। अरबी रिवाज के अनुसार, उन्हें दूध पिलाने के लिए उम्मे बर्दा बिन्त अल-मुन्ज़िर बिन ज़ैद अंसारी को सौंपा गया। वह एक लोहार की पत्नी थीं और उनके घर में अक्सर भट्ठी का धुआँ रहता था। रसूलुल्लाह (सल्ल०) बार-बार उस छोटे घर में अपने बेटे को देखने जाते थे, और वहाँ का धुआँ आपकी आंखों और नाक में चला जाता था, लेकिन नाज़ुक तबीयत होने के बाद भी आप सब कुछ बर्दाश्त करते थे। जब इब्राहीम की उम्र करीब डेढ़ साल हुई, तो हिजरत के दसवें साल (जनवरी 632 ई.) में उनकी मृत्यु हो गई, तो रसूलुल्लाह (सल्ल०) अपने बेटे की मौत पर रोए।

इन घटनाओं में इस्लाम के पैग़म्बर एक आम इंसान की तरह दिखाई देते हैं। उनके भाव, उनकी इच्छाएं वैसी ही हैं जैसी एक आम पिता की होती हैं। लेकिन इसके बावजूद, अल्लाह से ताल्लुक़ टूटता नहीं। वे दुखी हैं, लेकिन उनकी ज़ुबान से निकल रहा है: "आंख से आंसू बह रहे हैं, दिल दुखी है, लेकिन हम वही कहेंगे जो हमारे अल्लाह को पसंद हो। अल्लाह की क़सम, हे इब्राहीम! हम तुम्हारी मौत से दुखी हैं।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 2315)

जिस दिन इब्राहीम का देहांत हुआ, उसी दिन सूर्यग्रहण लगा। पुराने समय में यह धारणा थी कि सूर्य या चंद्रग्रहण किसी बड़े व्यक्ति की मौत के कारण होते हैं। इसी प्रभाव में मदीना के मुसलमान कहने लगे कि यह सूर्यग्रहण पैग़म्बर के बेटे की मौत की वजह से हुआ है। यह बात अल्लाह के रसूल को बिल्कुल पसंद नहीं आई, क्योंकि यह सोच इंसान की विनम्र स्थिति के ख़िलाफ़ थी। उन्होंने लोगों को इकट्ठा किया और कहा: "सूरज और चांद किसी इंसान की मौत या जीवन से ग्रहणग्रस्त

नहीं होते। वे अल्लाह की दो निशानियाँ हैं। जब तुम ऐसा देखो तो नमाज़ पढ़ो। (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 1042)।"

आप से जुड़ी एक घटना को इतिहास इन शब्दों में बयान करता है:

एक बार आप सफ़र में थे। आपने साथियों से कहा कि खाना बनाओ। एक ने कहा: "मैं बकरी ज़बह करूंगा", दूसरे ने कहा: "मैं उसकी खाल उतारूंगा", तीसरे ने कहा: "मैं उसे पकाऊंगा"। पैग़म्बर ने कहा: "मैं लकड़ी इकट्ठा करूंगा"। लोगों ने कहा: "हे अल्लाह के रसूल, हम सब काम कर लेंगे"। जवाब दिया: "मैं जानता हूं कि तुम लोग कर लोगे, लेकिन मुझे यह पसंद नहीं कि मैं तुमसे अलग किसी विशेष स्थान पर रहूं। अल्लाह को यह पसंद नहीं कि उसका कोई बंदा अपने साथियों के बीच खुद को ऊँचा समझे।" (*ख़ुलासा सियर सैय्यदुल बशर*, मुहिब्बुद्दीन तबरी, पृष्ठ 87)

रसूलुल्लाह (सल्ल०) की विनम्रता का यह हाल था कि आपने कहा:

> "अल्लाह की क़सम, मैं नहीं जानता, भले ही मैं उसका रसूल हूं, मेरे साथ क्या होगा और तुम्हारे साथ क्या होगा।" (*सही अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 7018)

अबू ज़र गिफ़ारी बताते हैं कि एक बार मैं एक साथी के पास बैठा था जिनका रंग काला था। किसी वजह से जब मैंने उन्हें पुकारा तो मेरी ज़बान से निकल गया: "ऐ काली औरत के बेटे!" पैग़म्बर ने यह सुना तो नाराज़ हुए और कहा: "सबके लिए एक ही मापदंड हो।" यानी किसी को अच्छे शब्दों से और किसी को बुरे शब्दों से न पुकारो। फिर आपने कहा: "किसी गोरे को किसी काले पर कोई श्रेष्ठता नहीं है।" अबू ज़र को इस बात पर फौरन अपनी ग़लती का एहसास हुआ। वे ज़मीन पर लेट गए और उस साथी से कहा: "उठो और मेरे गाल को अपने पैर से रौंद दो"। (*इहया उलूम अल-दीन*, खण्ड 3, पृष्ठ 352)

एक दिन आपने एक अमीर मुसलमान को देखा जो अपने पास बैठे ग़रीब साथी से बचने की कोशिश कर रहा था और अपने कपड़े समेट रहा था। आपने कहा:

> "क्या तुम डरते हो कि तुम्हारी दौलत उसे लग जाएगी और उसकी ग़रीबी तुम्हें छू लेगी?" (*अल-ज़ुह्द*, इमाम अहमद बिन हंबल, हदीस संख्या 207)

मदीना में इस्लामी शासन स्थापित हो चुका था और पैग़म्बर उसके प्रमुख थे। एक बार आपको एक यहूदी से क़र्ज़ लेना पड़ा, जिसका नाम ज़ैद बिन साना था। क़र्ज़ चुकाने का जो वक़्त तय हुआ था, उसमें अभी कुछ दिन बाकी थे, लेकिन वह यहूदी पहले ही पैसे मांगने आ गया। उसने आपके कंधे की चादर खींच ली और कुर्ता पकड़ कर सख्ती से बोला: "मेरा क़र्ज़ चुकाओ"। फिर कहा: "अब्दुल मुत्तलिब की औलाद क़र्ज़ नहीं चुकाती।"

हज़रत उमर उस समय आपके साथ थे। यहूदी की बदतमीज़ी पर उन्हें बड़ा ग़ुस्सा आया। उन्होंने उसे डांटा। ऐसा लगा कि वे उसे मारना शुरू कर देंगे, लेकिन पैग़म्बर ने फ़रमाया:

> "ऐ उमर! मैं और यह यहूदी तुम्हारे इस बर्ताव से ज़्यादा किसी और व्यवहार के ज़्यादा ज़रूरतमंद थे—तुम मुझसे बेहतर अदायगी की बात कहते और उससे बेहतर तरीक़े से रक़म का तक़ाज़ा करने को कहते।" फिर रसूलुल्लाह ने कहा: "अभी तो वादा पूरा होने में तीन दिन बाकी हैं" फिर आपने हज़रत उमर से फ़रमाया कि "जाओ, उसका कर्ज़ अदा कर दो और 30 साअ (माप की एक इकाई) ज़्यादा देना, क्योंकि तुमने उसे डांटा था।" (*मुस्तदरक अल-हाकिम*, हदीस संख्या 2237)

पैग़म्बरबर (सल्ल०) को अपनी ज़िंदगी में इतनी सफलता मिली कि आप अरब से लेकर फ़िलिस्तीन तक के इलाक़े के शासक बन गए। पैग़म्बर होने के कारण आपकी बात कानून का दर्जा रखती थी। वे ऐसे लोगों के बीच थे जो आपको अत्यंत श्रद्धा और सम्मान देते थे, जितना किसी इंसान को कभी नहीं दिया गया। हुदैबिया की बातचीत के समय जब उरवा बिन मसऊद, क़ुरैश के प्रतिनिधि के रूप में आए, तो यह देखकर हैरान रह गए कि जब आप वुज़ू करते हैं, तो लोग

दौड़ पड़ते हैं कि आपके वुज़ू का पानी ज़मीन पर गिरने से पहले अपने हाथों पर ले लें और उसे आशीर्वाद के रूप में अपने शरीर पर मल लें। (*सही अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 2731)

एक सहाबी कहते हैं कि हम लोग अत्यधिक प्रेम के बावजूद आपकी ओर आंख भरकर नहीं देख सकते थे। (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 121) यही हाल अन्य सहाबा का भी था। हज़रत अनस कहते हैं कि जब किसी सहाबी को आपके निवास स्थान पर दस्तक देनी होती, तो वह अपने नाखून से दरवाज़ा खटखटाता था। (*शुअबुल ईमान, अल-बैहक़ी*, हदीस संख्या 8436) जाबिर बिन समुरा कहते हैं कि पैग़म्बर (सल्ल०) ने एक बार लाल चादर ओढ़ रखी थी और चाँदनी रात में लेटे थे। मैं कभी चाँद को देखता और कभी आपको। अंततः मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि आप चाँद से ज़्यादा सुंदर हैं। (*सुनन अल-तिर्मिज़ी*, हदीस संख्या 2811)

हुनैन की लड़ाई के आरंभ में मुस्लिम सेना को जब हार का सामना करना पड़ा और विरोधी सेना ने आप पर तीरों की वर्षा शुरू कर दी, तो आपके साथियों ने आपको घेर लिया। वे सारे तीर अपने हाथों और शरीर से ऐसे रोकते रहे जैसे वे लकड़ी के बने हों। यहां तक कि कुछ साथियों की यह हालत हो गई कि उनके बदन में साही (Porcupine) के कांटों की तरह तीर चुभे हुए थे।

इस तरह की ऊंची हैसियत और श्रद्धा आम तौर पर आदमी के स्वभाव को बिगाड़ देती है। वह अपने को दूसरों से बड़ा समझने लगता है। लेकिन आप लोगों के बीच बिल्कुल आम इंसान की तरह रहते थे। कोई भी आलोचना या उत्तेजक व्यवहार आपको आपके संयम से बाहर नहीं कर सकता था। सहीह अल-बुख़ारी और सहीह मुस्लिम में हज़रत अनस से वर्णित है कि एक देहाती आया। उसने आपकी चादर को ज़ोर से खींचा जिससे आपकी गर्दन पर निशान पड़ गया। फिर वह बोला: "मोहम्मद! ये मेरे दो ऊँट हैं। इन पर लादने का सामान मुझे दो, क्योंकि जो माल तुम्हारे पास है, वह न तुम्हारा है और न तुम्हारे बाप का।" आपने फ़रमाया: "माल तो अल्लाह का है और मैं उसका बंदा हूँ।" फिर देहाती से पूछा: "जो बर्ताव तुमने मेरे साथ किया, क्या उससे तुम डरते नहीं?" वह बोला: "नहीं।" आपने

पूछा: "क्यों?" उसने कहा: "क्योंकि मुझे मालूम है कि आप बुराई का बदला बुराई से नहीं देते।" यह सुनकर आप मुस्कुराए और आदेश दिया कि इस देहाती को एक ऊँट भर जौ और एक ऊँट पर खजूर दे दी जाए। (*सही अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 3149; *सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1057; *अल-शिफा,* अल-क़ाज़ी इयाज़, खण्ड 1, पृष्ठ 225–226)

पैग़म्बर (सल्ल०) पर अल्लाह का डर इतना छाया रहता था कि आप विनम्रता और निष्ठा की पूरी तस्वीर बने रहते थे। बहुत कम बोलते, चलते तो झुककर चलते, आलोचना से कभी नाराज़ नहीं होते। कपड़े पहनते तो कहते: "मैं अल्लाह का बंदा हूँ और बंदों की तरह कपड़ा पहनता हूँ।" (*अल-मुग़नी,* अल-इराक़ी, हदीस संख्या 9) खाना खाते तो विनम्रता के साथ बैठकर खाते और फ़रमाते: "मैं आम इंसान हूँ और आम इंसानों की तरह खाता हूँ।" (*मुसनद अल-बज़्ज़ार*, हदीस संख्या 5752)

इस मामले में आपकी संवेदनशीलता का यह हाल था कि एक बार आपके एक साथी ने आपको संबोधित करते हुए कहा: "ऐ अल्लाह के रसूल! जो अल्लाह चाहे और जो आप चाहें" यह सुनकर आपके चेहरे का रंग बदल गया। आपने सख़्ती से फ़रमाया: "क्या तुमने मुझे अल्लाह के बराबर कर दिया?" फिर फ़रमाया: "तुम्हें इस तरह कहना चाहिए: "जो केवल अल्लाह चाहे" (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 2561)

इसी तरह एक सहाबी ने तक़रीर करते हुए कहा:

> "जो व्यक्ति अल्लाह और उसके पैग़म्बर की बात माने, वही सही राह पर है, और जो इन दोनों की नाफरमानी करे, वह भटक गया।" आपने यह सुनकर कहा: "तुम तो बहुत बुरे भाषण देने वाले हो।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 870)

आपने यह बात पसंद नहीं की कि अल्लाह और रसूल को एक ही सर्वनाम (pronoun) से जोड़ दिया जाए।

> The Prophet observed, disliking a reference, which placed him in the same pronoun as the Almighty.

पैग़म्बर-ए-इस्लाम के यहाँ तीन बेटे पैदा हुए जो बचपन में ही चल बसे। चार बेटियाँ बड़ी उम्र तक जीवित रहीं। ये चारों हज़रत ख़दीजा से थीं। फातिमा सबसे छोटी बेटी थीं। आप फातिमा से बहुत ज़्यादा प्यार करते थे। किसी यात्रा से लौटते तो मस्जिद में दो रकात नमाज़ पढ़ने के बाद सबसे पहले फातिमा के घर जाते (*अल-मुअजम अल-कबीर*, हदीस संख्या 595)। उनके हाथ और माथे को चूमते (*मुस्तदरिक अल-हाकिम*, हदीस संख्या 4753)। हज़रत आयशा से सहाबी जुमैअ बिन उमैर ने पूछा: "पैग़म्बर को सबसे ज़्यादा प्यारा कौन था?" उन्होंने जवाब दिया, "फातिमा" (*सुनन अल-तिर्मिज़ी*, हदीस संख्या 3874)।

लेकिन पैग़म्बर की पूरी ज़िंदगी आख़िरत कि फ़िक्र में ढल चुकी थी। इस वजह से, औलाद से मोहब्बत का मतलब भी उनके यहाँ दूसरा था। एक रिवायत जो हदीस की सभी मुख्य किताबों में मिलती है, उसके अनुसार अली मुरतज़ा ने एक बार इब्न अब्दुल वाहिद से कहा, "क्या मैं तुम्हें फातिमा की एक बात सुनाऊँ जो पूरे परिवार में नबी को सबसे ज़्यादा प्यारी थीं?" इब्न अब्दुल वाहिद ने कहा, "हाँ।"

हज़रत अली ने कहा: "फातिमा का हाल यह था कि जब वह चक्की पीसतीं तो हाथों में छाले पड़ जाते, पानी की मश्क उठाने से गर्दन पर निशान पड़ गया था, झाड़ू लगातीं तो कपड़े मैले हो जाते। उनही दिनों नबी के पास कुछ सेवक आए थे। मैंने फातिमा से कहा, तुम अपने पिता के पास जाकर अपने लिए एक सेवक माँग लो। फातिमा गईं, लेकिन वहाँ भीड़ थी, मुलाकात नहीं हो सकी। अगले दिन नबी हमारे घर आए और पूछा कि क्या ज़रूरत थी। फातिमा चुप रहीं। मैंने पूरा मामला बताया और यह भी कहा कि मैंने ही उन्हें कहकर भेजा था। नबी (सल्ल०) ने सुनने के बाद कहा:

> "ऐ फ़ातिमा! अल्लाह से डरो। अपने रब के फ़र्ज़ पूरे करो। अपने घर का काम खुद करो। जब सोने जाओ तो 33 बार 'सुब्हान

> अल्लाह' कहो, 33 बार 'अलहम्दुलिल्लाह' और 34 बार 'अल्लाहु अकबर' कहो। यह कुल मिलाकर 100 बार होता है। यह तुम्हारे लिए किसी सेवक से बेहतर है।" फातिमा ने यह सुनकर कहा: "मैं इस पर अल्लाह और उसके रसूल से राज़ी हूँ।" हज़रत अली कहते हैं कि नबी ने बस इतना ही कहा और फातिमा को कोई सेवक नहीं दिया। (*सुनन अबू दाऊद*, हदीस संख्या 2988–89)

पैग़म्बर-ए-इस्लाम पर जो सच्चाई खुली, वह यह थी कि यह दुनिया बिना अल्लाह के नहीं है। इसका एक मालिक है और वही इसका बनाने वाला है। सभी इंसान उसी के बंदे हैं और आख़िर में उसी के सामने जवाबदेह होंगे। मरने के बाद इंसान समाप्त नहीं होता, बल्कि दूसरी दुनिया में अपनी स्थायी (permanent) ज़िंदगी शुरू करता है। वहाँ अच्छे लोगों के लिए जन्नत की सुख-सुविधा है और बुरे लोगों के लिए जहन्नम की दहकती आग।

जब अल्लाह ने आपको इस सच्चाई का ज्ञान दिया, तो साथ ही यह आदेश भी दिया कि सभी इंसानों को इस सच्चाई से अवगत करा दो। मक्का के किनारे 'सफा' नाम की पहाड़ी की एक चट्टान थी जो उस समय लोगों की सभा के लिए प्राकृतिक मंच का काम करती थी। आपने सफ़ा पर चढ़कर लोगों को पुकारा। लोग इकट्ठा हो गए तो आपने भाषण दिया। आपने अल्लाह की महानता बताने के बाद कहा:

> "अल्लाह की क़सम, तुम्हें वैसे ही मरना है जैसे तुम सोते हो, और वैसे ही उठना है जैसे तुम जागते हो। तुम्हारे हर काम का हिसाब लिया जाएगा। अच्छे काम का अच्छा बदला और बुरे काम का बुरा बदला मिलेगा। और फिर या तो हमेशा के लिए बाग़ है या हमेशा की आग।" (*अन्साब अल-अशराफ*, *अल-बलाज़री*, खण्ड 1, पृष्ठ 119)

जब इंसान ज़माने के ख़िलाफ़ कोई रास्ता सिर्फ़ अपने लिए चुनता है, तब भी कठिनाइयाँ आती हैं, लेकिन वे आक्रामक नहीं होतीं। ये परेशानियाँ केवल भावनाओं को चोट पहुँचाती हैं, शरीर को नहीं। ये ज़्यादा से ज़्यादा इंसान की खामोश सहनशीलता की परीक्षा होती हैं। लेकिन जब इंसान समाज के खिलाफ़ खड़े होकर उसे कोई नया रास्ता दिखाने लगे, लोगों से कहे कि यह करो और यह मत करो—तब परिस्थिति बदल जाती है। पैग़म्बर-ए-इस्लाम केवल एक अल्लाह के आज्ञाकारी बन्दे ही नहीं थे, बल्कि अल्लाह के संदेश को लोगों तक पहुँचाने का मिशन भी उन्हें सौंपा गया था। आपकी इसी दूसरी भूमिका ने आपको पूरे अरब समाज को आपके ख़िलाफ़ कर दिया। भूख से लेकर युद्ध तक, सबसे कठिन हालात सामने आए। मगर 23 साल की पूरी ज़िंदगी में आपने पूरी तरह से न्याय और धार्मिकता का पालन किया। इसका कारण यह नहीं था कि आपमें इंसानी भावनाएँ नहीं थीं, बल्कि यह था कि अल्लाह का डर आपको हर समय अनुशासन में रखता था।

हिजरत के तीसरे साल मक्का के विरोधियों ने मदीना पर चढ़ाई कर दी और वह लड़ाई हुई जिसे उहद की लड़ाई कहा जाता है। इस युद्ध में शुरू में मुसलमानों को जीत मिली। लेकिन इसके बाद आपके कुछ साथियों की ग़लती की वजह से दुश्मनों को मौका मिल गया और उन्होंने पीछे से हमला करके युद्ध की दिशा बदल दी। यह एक बहुत ही डरावना दृश्य था। आपके ज़्यादातर साथी युद्ध के मैदान से भागने लगे। यहाँ तक कि आप हथियारबंद दुश्मनों की घेराबंदी में अकेले रह गए। विरोधी भीड़ भूखे भेड़ियों की तरह आपकी ओर बढ़ रही थी। उस समय आपने अपने साथियों को पुकारना शुरू किया:

> अल्लाह के बंदो, मेरी ओर आओ, अल्लाह के बंदो, मेरी ओर आओ।" (*सीरत इब्ने कसीर*, खण्ड 3, पृष्ठ 44) और यह कहा: "कौन है जो हमारे लिए अपनी जान क़ुर्बान करेगा? (*सीरत इब्ने हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 81) कौन है जो इन ज़ालिमों को मुझसे हटाए? वह जन्नत में मेरा साथी होगा।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1789)

ये कितना भयानक दृश्य रहा होगा, जब अल्लाह के पैग़म्बर की ज़ुबान से इस तरह के शब्द निकल रहे थे। हालांकि आपके साथियों में से कुछ ने आपकी पुकार पर लब्बैक कहा, लेकिन उस समय व्यवस्था इतनी ख़राब थी कि आपके सच्चे साथियों के लिए भी आपको पूरी तरह से बचा पाना मुमकिन न हो सका। उत्बा बिन अबी वक़्क़ास ने आप पर एक पत्थर फेंका। यह पत्थर इतनी ज़ोर से लगा कि आपके होंठ कट गए और नीचे के दांत टूट गए। अब्दुल्लाह बिन क़मिअह, क़ुरैश का एक मशहूर पहलवान था। उसने आप पर बहुत तेज़ हमला किया, जिसके नतीजे में लोहे की ज़िरह की दो कड़ियाँ आपके गाल में घुस गईं। ये कड़ियाँ इतनी गहराई में थीं कि अबू उबैदा बिन अल-जर्राह ने जब उन्हें अपने दांतों से पकड़ कर खींचा, तो अबू उबैदा के दो दांत टूट गए। एक और व्यक्ति, अब्दुल्लाह बिन शिहाब ज़ुहरी, ने आप पर पत्थर मारा जिससे आपकी पेशानी घायल हो गई। लगातार खून बहने के कारण आप बहुत कमज़ोर हो गए, यहाँ तक कि एक गड्ढे में गिर पड़े। जब आप मैदान में देर तक नज़र नहीं आए तो यह मशहूर हो गया कि आप शहीद हो गए हैं। इस दौरान आपके एक साथी कअब बिन मालिक की नज़र गड्ढे की ओर गई। उन्होंने आपको देखा और खुशी में बोल पड़े, "अल्लाह के रसूल यहाँ हैं।" आपने उंगली के इशारे से उन्हें चुप रहने को कहा। (*सीरत इब्ने इसहाक*, पृष्ठ 330) ताकि दुश्मनों को आपकी मौजूदगी का पता न चल सके।

ऐसे ख़तरनाक हालात में आपकी ज़ुबान से क़ुरैश के कुछ सरदारों (सफ़वान, सुहैल, हारिस) के लिए बद्दुआ निकली। आपने कहा: "वह क़ौम कैसे कामयाब हो सकती है जिसने अपने नबी को घायल कर दिया?" आपकी ज़ुबान से इतनी बात भी अल्लाह को पसंद नहीं आई। और हज़रत जिब्रील अल्लाह की ओर से क़ुरान की आयत का यह आदेश लेकर आ गए:

> "तुम्हारा इस मामले में कोई अधिकार नहीं है। अल्लाह चाहे तो उन्हें तौबा की तौफीक़ दे या उन्हें सज़ा दे। क्योंकि वे ज़ालिम हैं।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1791; *मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 5674)

अल्लाह की तरफ़ से यह चेतावनी ही काफ़ी थी। तुरंत आपका ग़ुस्सा ठंडा हो गया। आप ज़ख़्मों से बेहाल हैं, लेकिन फिर भी ज़ालिमों के लिए हिदायत की दुआ कर रहे हैं। आपके एक साथी अब्दुल्लाह बिन मसऊद कहते हैं: "इस समय भी ऐसा लगता है कि नबी (सल्ल०) मेरे सामने हैं। आप अपनी पेशानी से खून पोंछते हुए यह दुआ कर रहे थे: "ऐ अल्लाह! मेरी क़ौम को माफ़ कर दे, क्योंकि वे नहीं जानते।"(*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1792)

ऊपर जो घटनाएं बयान की गईं, वे उन अनगिनत घटनाओं में से सिर्फ कुछ हैं जो हदीस और सीरत की किताबों में भरी पड़ी हैं। ये घटनाएं बताती हैं कि इस्लाम के पैग़म्बर की ज़िंदगी किस तरह से एक आदर्श मानवीय किरदार का नमूना थी। ये घटनाएं व्यवहारिक भाषा में यह सबक देती हैं कि इंसान अल्लाह का बंदा है और उसे हर हाल में अल्लाह का बंदा बनकर रहना चाहिए। अल्लाह और बंदे के बीच का रिश्ता ये चाहता है कि बंदे के दिल में हर समय अल्लाह और आख़िरत का तूफ़ान उठता रहे। पूरी कायनात उसके लिए अल्लाह की याद का दस्तरख़्वान (dining table) बन जाए। वह हर घटना को अल्लाह की नज़र से देखे और हर चीज़ में अल्लाह की निशानी पाए। दुनिया में कोई भी काम करते वक्त वह कभी यह न भूले कि आख़िरकार हर चीज़ अल्लाह के हवाले होने वाली है। नरक का डर उसे दूसरों के सामने विनम्र बनाए और जन्नत की उम्मीद दुनिया को उसकी नज़र में व्यर्थ बना दे। अल्लाह की बड़ाई का एहसास उसके ज़ेहन पर इस क़दर छा जाए कि अपनी बड़ाई का कोई भी प्रदर्शन उसे उपहास के योग्य लगे। कोई आलोचना उसे उत्तेजित न करे और कोई तारीफ़ उसके दिमाग को ख़राब करने वाली साबित न हो— यही है वह मानवीय आदर्श जो अल्लाह के पैग़म्बर ने अपने आचरण से हमें बताया है।

श्रेष्ठतम नैतिकता

क़ुरान में इस्लाम के पैग़म्बर के बारे में कहा गया है: "तुम एक बहुत ही श्रेष्ठ चरित्र पर हो" (68:4)। इमाम अतिया ने "ख़ुलुक़े अज़ीम" की व्याख्या "सबसे श्रेठ शिष्टाचार" से की है (*तफ़्सीर इब्ने कसीर*, खण्ड 8, पृष्ठ 188)। यह ऊँचा आचरण और महान चरित्र क्या है, इसकी झलक पैग़म्बर (सल्ल०) के इन मार्गदर्शक कथनों में मिलती है:

> पैग़म्बर ने फ़रमाया: "इम्मआ" न बनो — यह कहने लगो कि अगर लोग अच्छा करेंगे तो हम भी अच्छा करेंगे, और अगर वो ज़ुल्म करेंगे तो हम भी ज़ुल्म करेंगे।" बल्कि खुद को इस बात का आदी बनाओ कि लोग चाहे अच्छा करें या बुरा, तुम हमेशा अच्छा ही करो। और अगर लोग बुरा करें तो भी तुम ज़ुल्म मत करो (*सुनन अल-तिर्मिज़ी*, हदीस संख्या 2007)।

एक बार उन्होंने ये नसीहत की:

> "जो तुमसे रिश्ता तोड़े, उससे रिश्ता जोड़ो; जो तुम्हें न दे, उसे दो; और जो तुम पर ज़ुल्म करे, उसे माफ कर दो" (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 17452)।

यह उच्च नैतिक गुण, जिसका उल्लेख हदीस में किया गया है, उस में आप सर्वोच्च स्तर पर प्रतिष्ठित थे। सामान्य मुसलमानों के लिए यह उच्च नैतिकता एक आदर्श आचरण (अमल) के रूप में वांछित है, किंतु अल्लाह के पैग़म्बर के लिए यह एक अनिवार्य कर्तव्य था।

आपने फ़रमाया:

> "मेरे रब ने मुझे हुक्म दिया है कि जो मुझसे रिश्ता तोड़े, मैं उससे जोड़ूं; जो मुझे न दे, मैं उसे दूं; और जो मुझ पर ज़ुल्म करे, मैं उसे माफ करूं" (*जामे अल-उसूल*, इबन-असीर अल-जज़री, हदीस न० 9317)।

अख़लाक़ यानी व्यवहार के दो स्तर होते हैं—एक छोटा और दूसरा श्रेष्ठ। आम स्तर का मतलब होता है जवाबी व्यवहार—जैसा लोग करें, वैसा ही तुम करो। जो तुमसे कटे, तुम भी उससे कट जाओ। जो ज़ुल्म करे, तुम भी उस पर ज़ुल्म करो। जो बुरा करे, तुम भी उसके लिए बुरे बन जाओ।

यह आम तरीक़ा है। लेकिन श्रेष्ठ आचरण यह है कि आदमी दूसरों के बर्ताव को न देखते हुए अपना बर्ताव तय करे। उसका व्यवहार सिद्धांत पर टिका हो, बदले वाला न हो। श्रेष्ठ आचरण उसका पक्का नियम हो जो वह हर जगह अपनाये—चाहे मामला किसी अपने से हो या विरोधी से, तुम जोड़ने वाले बनो—उनसे भी जो तुमसे रिश्ता तोड़ें। तुम अच्छा सुलूक करने वाले बनो—उनके साथ भी जो तुमसे बुरा करें। तुम नज़रअंदाज़ करने वाले बनो—उनसे भी जो तुम पर ज़ुल्म करें।

फ्रांस के मशहूर फ़िलॉसफर वॉल्टेयर (1694–1778) ने कहा था:

"No man is a hero to his valet"

यानि, कोई भी इंसान अपने क़रीबी लोगों की नज़र में हीरो नहीं होता, क्योंकि पास के लोगों को तुम्हारी असल ज़िंदगी पता होती है, और हर किसी की निजी ज़िंदगी में कुछ न कुछ कमियाँ होती हैं। जो दूर से अच्छा दिखता है, पास वालों को वो उतना अच्छा नहीं दिखता । इसलिए क़रीबी लोग तुम्हें कभी हीरो की तरह नहीं देखते। लेकिन बासवर्थ स्मिथ ने लिखा कि ये बात पैग़म्बर इस्लाम पर लागू नहीं होती, क्योंकि इतिहास गवाह है कि जो जितना क़रीब था, वो उतना ही ज़्यादा आपकी अच्छाइयों का दीवाना था।

ज़ैद बिन हारिसा, क़बीला 'कल्ब' के एक शख्स हारिसा बिन शराहील के बेटे थे। उनकी मां सुअदी बिन्त सालबा थीं, जो क़बीला 'तय' की एक शाखा 'बनी मअन' से थीं। जब ज़ैद आठ साल के थे, उनकी मां उन्हें लेकर अपने मायके गईं। वहां 'बनी कैन बिन जसर' के लोगों ने काफ़िले पर हमला किया और जो कुछ भी लूटा, उसमें ज़ैद भी थे। फिर उन्हें 'उकाज़' के मेले में ले जाकर बेच दिया गया। उन्हें हकीम बिन हिज़ाम ने खरीदा, जो हज़रत ख़दीजा के भतीजे थे। उन्होंने ज़ैद को मक्का लाकर अपनी फूफी को दे दिया।

जब पैग़म्बर का निकाह हज़रत ख़दीजा से हुआ, तो उन्होंने ज़ैद को पैग़म्बर की सेवा में दे दिया। तब ज़ैद की उम्र 15 साल थी। कुछ वक्त बाद ज़ैद के पिता और चाचा को ये पता चला, तो वो मक्का आए ताकि अपने बेटे को वापस ले जा सकें। उन्होंने पैग़म्बर से मुलाक़ात की और कहा कि आप जो भी बदले में लेना चाहें, हम देने को तैयार हैं, बस हमारा बच्चा हमें लौटा दीजिए। पैग़म्बर ने कहा: "मुझे कुछ नहीं चाहिए। अगर लड़का तुम्हारे साथ जाना चाहता है, तो ले जाओ।" आपने ज़ैद को बुलाया और पूछा: "क्या तुम इन्हें पहचानते हो?" उन्होंने कहा: "हाँ, ये मेरे अब्बा और चाचा हैं।" आपने कहा: "ये लोग तुम्हें अपने साथ ले जाना चाहते हैं। अगर तुम चाहो, तो जा सकते हो।" ज़ैद ने कहा: "मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगा।" यह सुनकर उनके अब्बा और चाचा नाराज़ हो गए। उन्होंने कहा: "तुम आज़ादी छोड़कर ग़ुलामी को पसंद कर रहे हो? अपने लोगों को छोड़कर अजनबियों में रहना चाहते हो?" ज़ैद ने कहा: "मैंने इस इंसान (पैग़म्बर) में जो अच्छाइयाँ देखी हैं, उसके बाद अब मैं किसी को भी इन पर प्राथमिकता नहीं दे सकता" इसके बाद ज़ैद के पिता और चाचा वापस लौट गए (*तबक़ात इब्न सअद*, खण्ड 3, पृष्ठ 31)। यह घटना नबूवत से पहले की है। पैग़म्बर की इसी खूबी की तरफ़ क़ुरान में इशारा किया गया है:

> "ऐ नबी, यह अल्लाह की बड़ी रहमत है कि तुम उनके लिए नर्म हो। यदि तुम तुंदख़ू (कठोर) और सख़्त दिल होते तो ये लोग तुम्हारे पास से भाग जाते।" (क़ुरान, 3:159)

इस्लाम के पैग़म्बर का यही ऊँचा किरदार था जिसने आप में ऐसी असर डालने वाली ताक़त पैदा कर दी थी कि जो भी आपके पास आया, वो आपकी महानता को देखकर आपसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

वो शाम भी कितनी डरावनी थी जब तायफ़ शहर के लड़के पैग़म्बर को पत्थर मारते हुए शहर से बाहर निकाल रहे थे। आप मक्का से पैदल पचास मील का सफ़र तय करके हिजाज़ के प्रभावशाली लोगों के गर्मियों के विश्राम स्थलों

तक पहुंचे थे ताकि उन्हें इस्लाम का संदेश पहुंचा सकें। लेकिन तायफ़ के उन प्रभावशाली लोगों ने उनके प्रति आपकी भलाई की बात को सुनने के बजाय शहर के लड़कों को आपके पीछे लगा दिया। ये दुष्ट लड़के तब तक आपका पीछा करते और पत्थर मारते रहे जब तक कि सूरज ने डूब कर आपके और उनके बीच अंधेरे की चादर न तान दी। आपका पूरा शरीर ज़ख़्मी हो गया था। सिर से पाँव तक आप खून से लथपथ थे। उस वक़्त आपने थक कर एक अंगूर के बाग़ में पनाह ली (*सीरत इब्ने हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 48)।

सोचिए, ये किसी इंसान के लिए कितना मुश्किल वक़्त होता है। आपने एक बार अपनी पत्नी हज़रत आयशा से कहा था कि तायफ़ की ये शाम मेरी ज़िंदगी की सबसे मुश्किल शाम थी। मगर उस समय भी आपकी ज़बान से अपने दुश्मनों के लिए कोई बुरा लफ़्ज़ नहीं निकला। बल्कि आपने कहा, "मुझे उम्मीद है कि अल्लाह इन इनकार करने वालों की नस्ल से ऐसे लोग पैदा करेगा जो सिर्फ एक अल्लाह की इबादत करेंगे और उसके साथ किसी को साझी नहीं ठहराएंगे।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 3231)। पैग़म्बर का यही किरदार था जिसने आपके दुश्मनों को इस तरह झुका दिया कि पूरे अरब ने आपके पैग़ाम को स्वीकार कर लिया। आपके श्रेष्ठ आचरण के सामने कोई ज़िद, कोई दुश्मनी और कोई अंधी नफ़रत टिक न सकी। आपका अच्छा बर्ताव लोगों पर जैसे जादू की तरह असर करता गया।

एक बार आपने कहा: सिला-रहमी (रिश्तों को निभाना) ये नहीं कि जो रिश्ता निभाए तुम भी उसी से निभाओ, बल्कि असली सिला-रहमी तो ये है कि जो रिश्ता तोड़े, तुम उससे रिश्ता जोड़े रखो (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 5991)। इस्लाम के इतिहास की एक मशहूर घटना है कि एक बार इस्लाम के कुछ विरोधियों ने हज़रत आयशा पर बदचलनी का झूठा इल्ज़ाम लगाया—जो पैग़म्बर की पत्नी और हज़रत अबू बक्र की बेटी थीं।

ये इल्ज़ाम पूरी तरह झूठा और बेबुनियाद था। इस झूठी कहानी को बनाने और फैलाने में एक और आदमी शामिल था जिसका नाम मिस्तह था । ये शख्स

हज़रत अबू बक्र का रिश्तेदार था। उसे ज़रूरतमंद समझ कर हज़रत अबू बक्र हर महीने कुछ पैसे दिया करते थे। जब उन्हें पता चला कि उनकी मासूम बेटी पर झूठा इल्ज़ाम लगाने वालों में मिस्तह भी शामिल है, तो उन्होंने उसकी मदद बंद कर दी। इस पर अल्लाह के रसूल के पास यह वह्य (अल्लाह का संदेश) आई कि अगर कोई इंसान ज़रूरतमंद है तो उसके नैतिक अपराध की वजह से उसकी आर्थिक मदद बंद मत करो, बल्कि उसके गुनाह को नज़रअंदाज़ करते हुए मदद जारी रखो।

क़ुरान में कहा गया: "तुम में से जो लोग नेमत और दौलत वाले हैं, उन्हें ये क़सम नहीं खानी चाहिए कि वो अपने रिश्तेदारों, गरीबों और अल्लाह की राह में देश छोड़ने वालों की मदद नहीं करेंगे। उन्हें माफ़ करना चाहिए और अनदेखा करना चाहिए। क्या तुम नहीं चाहते कि अल्लाह तुम्हें माफ़ कर दे? और अल्लाह तो माफ़ करने वाला और रहम करने वाला है" (क़ुरान, 24:22)। [देखिए: *सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 2770]

हज़रत अबू बक्र का ही एक और वाक़या है। एक बार वो पैग़म्बर के पास बैठे थे कि एक शख्स आया और उन्हें गालियाँ देने लगा। पहली बार हज़रत अबू बक्र ने कुछ नहीं कहा। दूसरी बार भी उन्होंने चुप्पी साधे रखी। मगर तीसरी बार जब उस शख्स ने फिर बदतमीज़ी की, तो हज़रत अबू बक्र से रहा नहीं गया और उन्होंने जवाब दे दिया। ये देखकर पैग़म्बर तुरंत वहाँ से उठकर चल दिए। हज़रत अबू बक्र ने पूछा: "ऐ अल्लाह के रसूल, आप क्यों उठकर चले गए?" आप ने फ़रमाया: "अबू बक्र, जब तक तुम चुप थे, एक फ़रिश्ता तुम्हारी तरफ़ से उसका जवाब दे रहा था। लेकिन जब तुमने खुद जवाब दिया, तो वो फ़रिश्ता चला गया और उसकी जगह शैतान आ गया। और मैं उस जगह नहीं बैठ सकता जहाँ शैतान मौजूद हो" (*सुनन अबू दाऊद*, हदीस संख्या 4896)।

इस तरह पैग़म्बर ने बताया कि अगर कोई इंसान बुराई का कोई बदला न ले, तो खुदा उसकी तरफ़ से बदला लेने वाला बनता है। लेकिन अगर इंसान खुद ही बदला लेने लगे, तो खुदा उसका मामला उसी के हवाले कर देता है। और ये तो साफ़ बात है कि कोई भी इंसान खुदा से बेहतर इनसाफ़ नहीं कर सकता।

हज़रत अली बताते हैं कि एक बार पैग़म्बर ने एक यहूदी विद्वान से कुछ अशर्फियाँ (सोने के सिक्के) उधार ली थीं। कुछ दिन बीतने के बाद वो यहूदी अपना पैसा मांगने आया। पैग़म्बर ने कहा, "इस वक़्त मेरे पास तुम्हारा क़र्ज़ चुकाने के लिए कुछ नहीं है।" यहूदी ने कहा, "जब तक तुम मेरा कर्ज़ नहीं चुकाओगे, मैं तुम्हें छोड़ूंगा नहीं।" इसलिए वो ज़ुहर (दोपहर) से लेकर रात तक आपको रोके बैठा रहा। उस वक़्त मदीना में आपकी हुकूमत थी और आप चाहते तो उसके ख़िलाफ़ कार्रवाई कर सकते थे। आपके साथियों ने उस यहूदी को डांटकर भगाना चाहा, मगर आपने सबको मना कर दिया। किसी ने कहा, "ऐ अल्लाह के रसूल, ये यहूदी आपको घेर कर बैठा है।" आप ने फ़रमाया, "हां, लेकिन मेरे रब ने मुझे ज़ुल्म करने से रोका है, चाहे वो कोई भी हो। इसी हाल में सुबह हो गई। अगली सुबह यहूदी की आंखें खुलीं। उसने देखा कि आप सब कुछ सहते हुए भी बदले में कुछ नहीं कह रहे। ये देखकर वो बहुत प्रभावित हुआ और आपका अनुयाई बन गया। ये यहूदी मदीना का एक अमीर आदमी था। कल तक वो कुछ अशर्फियों के लिए आपको घेरे बैठा था। लेकिन आपके अच्छे व्यवहार ने उस पर इतना असर डाला कि उसने अपनी पूरी दौलत आपकी सेवा में पेश कर दी और कहा, "आप इसे जैसे चाहें खर्च करें" (*दलाईलुन्नुबुव्वह* अल-बैहक़ी, खण्ड 6, पृष्ठ 280–81)।

अब्दुल्लाह बिन अबी अल-हम्मा बयान करते हैं कि एक बार मेरा अल्लाह के पैग़म्बर (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) से एक सौदा हुआ। यह सौदा अभी पूरा नहीं हुआ था कि मुझे किसी ज़रूरत के कारण जाना पड़ा। मैंने आपसे कहा, "आप यहीं ठहरिए, मैं घर से लौटकर आता हूँ और सौदा पूरा करूँगा।" लेकिन जब मैं घर पहुँचा, तो कुछ कार्यों में ऐसा उलझा कि वादा ही भूल गया। तीन दिन बाद याद आया तो उस जगह पहुँचा। देखा कि अल्लाह के पैग़म्बर वहीं मौजूद हैं। आपने मुझे देखकर बस इतना कहा: "ऐ जवान, तुमने मुझे बहुत तकलीफ़ दी, मैं तीन दिन से तुम्हारा इंतज़ार कर रहा हूँ।" *(सुनन अबू दाऊद*, हदीस संख्या 4996) इस प्रकार का आचरण अपने आपमें इतनी नैतिक अपील रखता है कि सबसे कट्टर स्वभाव वाला व्यक्ति भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

हज़रत आयशा (रज़ियल्लाहु अन्हा) बताती हैं कि यहूदियों के कुछ धर्मगुरु अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के पास आए। जब वे पहुँचे, तो उन्होंने कहा: "अस्सामु अलैकुम" (तुम पर मृत्यु/विनाश हो)। हज़रत आयशा ने यह सुना, तो सहन न कर सकीं और कह दिया: "बल्कि तुम पर मृत्यु और अल्लाह की लानत हो"। इस पर अल्लाह के रसूल ने उन्हें इस प्रकार उत्तर देने से मना किया और फ़रमाया: "अल्लाह रहम करने वाला है और वह हर काम में नरमी को पसंद करता है" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 6024)।

वास्तव में, विरोधी के दिल को जीतने के लिए इससे बड़ा कोई हथियार नहीं हो सकता कि उसकी कठोरता का उत्तर कोमलता से दिया जाए। कोई व्यक्ति शस्त्र के प्रहार को झेल सकता है, लेकिन अच्छे आचरण की चोट के आगे कोई टिक नहीं सकता। यहाँ हर किसी को पराजय स्वीकार करनी पड़ती है।

बराअ बिन 'आज़िब (रज़ि.) कहते हैं कि हुदैबिया के अवसर पर अल्लाह के पैग़म्बर ने क़ुरैश से तीन शर्तों पर समझौता किया। उनमें से एक शर्त यह थी कि यदि क़ुरैश का कोई आदमी हज़रत मुहम्मद का अनुयाई बन कर उन के पास आ जाए, तो मुसलमान उसे वापस लौटा देंगे; लेकिन यदि कोई मुसलमान क़ुरैश के पास चला जाए, तो वे उसे वापस नहीं करेंगे। समझौता हो ही रहा था कि एक मुसलमान युवक अबू जंदल मक्का से भाग कर हुदैबिया पहुँचे। उन्हें उनके परिजनों ने इस्लाम स्वीकार करने के कारण क़ैद कर रखा था। वे ज़ंजीरों में जकड़े हुए इस अवस्था में पहुँचे कि ज़ंजीरों की रगड़ से उनका शरीर ज़ख़्मी था। वे गुहार लगा रहे थे: "मुझे दुश्मनों के चंगुल से बचाओ!" यह समय अत्यंत नाज़ुक था। अल्लाह के रसूल के साथियों ने तलवारें खींच लीं। अबू जंदल की यह व्याकुल दशा देखकर सहाबा की भावना इस ओर झुक गई कि समझौते को तोड़कर उनकी रक्षा की जाए। परंतु दूसरी ओर मक्का वालों ने कहा: "मोहम्मद! यह हमारे बीच हुए समझौते की पहली परीक्षा है।" अंततः, अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने निर्णय लिया कि अब जबकि समझौता हो चुका है, तो हम इससे पीछे नहीं हट सकते। यह निर्णय सहाबा के लिए अत्यंत कठिन था, लेकिन आपने अबू जंदल को मक्का वालों के हवाले कर दिया। (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 2731)

यह घटना देखने में ऐसा प्रतीत होती थी मानो एक पीड़ित को फिर से अत्याचारी के हवाले कर दिया गया। लेकिन इसमें जो उसूल-पसंदी का शानदार उदाहरण पेश किया गया, उसने अत्याचारियों के हौसले तोड़ दिए। अब उनका अबू जंदल को ले जाना और बंदी बनाकर रखना मात्र एक घटना न रहकर उनकी नैतिक गिरावट और इस्लाम की नैतिक श्रेष्ठता की मिसाल बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मक्का के लोग इस्लामी नैतिकता से प्रभावित होकर इस्लाम को अपनाने लगे। अबू जंदल खुद मक्का में इस्लाम का जीवंत संदेश बन गए। यहाँ तक कि क़ैद की अवस्था में भी वे मक्का वासियों को अपनी व्यवस्था के लिए ख़तरा लगने लगे। अंत में उन्होंने उन्हें मुक्त कर मक्का से बाहर कर दिया।

हज़रत अबू हुरैरा (रज़ि.) बयान करते हैं कि मदीना के जीवनकाल में अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने नज्द (सऊदी अरब का मध्य भाग) के कुछ दुश्मन कबीलों की ओर सवार भेजे। वे रास्ते में यमामा के शासक सुमामा बिन उसाल को पकड़ लाए और मस्जिद-ए-नबवी के एक खंभे से बाँध दिया। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) उनके पास आए और पूछा: "तुम्हारा क्या हाल है?" उन्होंने उत्तर दिया: "यदि आप मेहरबानी करते हैं, तो एक शुक्र करने वाले पर मेहरबानी करते हैं; और यदि आप हत्या करते हैं, तो किसी खून करने वाले को मारते हैं; और यदि आप धन चाहते हैं, तो मांगिए — आपको जितना चाहे उतना दिया जाएगा।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 4372)

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने उन्हें मुक्त कर देने का आदेश दिया। उस समय की दुनिया में यह अचरज की बात थी, क्योंकि आम तौर पर दुश्मन को क़ैद करने के बाद उसका अंत मृत्यु ही होता था। मगर अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने उनके शरीर को नहीं, बल्कि अपने उच्च नैतिक आचरण से उनकी आत्मा को पराजित कर दिया। सुमामा जब छूटे, तो निकट के एक बाग़ में जाकर स्नान किया और पुनः मस्जिद में हाज़िर हुए। लोग हैरान थे कि वे फिर क्यों आए हैं। लेकिन जब उन्होंने ऊँची आवाज़ में कलिमा-ए-शहादत पढ़कर इस्लाम स्वीकार कर लिया, तो सब समझ गए कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने उन्हें मुक्त नहीं किया, बल्कि

हमेशा के लिए क़ैद कर लिया। इसके बाद सुमामा उमरा के लिए मक्का पहुँचे। जब मक्का वालों को उनके मुसलमान हो जाने की खबर हुई, तो उन्होंने कहा: "तुम अधर्मी हो गए हो!" सुमामा ने जवाब दिया: "मैं अधर्मी नहीं हुआ हूँ, बल्कि मैंने अल्लाह के रसूल का दीन अपनाया है।" यही नहीं बल्कि सुमामा इस्लाम की ताक़त का माध्यम बन गए। उस समय मक्का जिन क्षेत्रों से गेहूँ प्राप्त करता था, उनमें यमामा प्रमुख था। सुमामा ने मक्का वालों से कह दिया: "सुन लो, अब मोहम्मद की अनुमति के बिना मक्का को गेहूँ का एक दाना भी नहीं मिलेगा।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1764) — चरित्र देखने में एक बेक़ीमत चीज़ लगता है, लेकिन इसी को देकर इंसान वह सब खरीद सकता है जो धन और सत्ता से नहीं मिल सकता।

अख़लाक़ (नैतिकता) की महानता यह है कि जो व्यक्ति जो कुछ कहे, वह स्वयं भी उस पर अमल करे। कमज़ोरों के साथ भी वह वैसा ही व्यवहार करे जैसा कोई शक्तिशाली व्यक्ति के साथ करता है—सम्मान और शराफ़त के साथ। जो मापदंड वह अपने लिए रखे, वही दूसरों के लिए भी अपनाए। कठिन परिस्थितियों में भी वह अपने सिद्धांतों से पीछे न हटे। यहाँ तक कि जब दूसरों की ओर से गिरा हुआ व्यवहार देखने को मिले, तब भी वह अपने उच्च अख़लाक पर खड़ा रहे। इस दृष्टि से देखा जाए तो पैग़म्बर मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) नैतिकता की चोटी पर थे। आपने कभी भी श्रेष्ठ आचरण को नहीं छोड़ा। कोई राजनीतिक लाभ हो या मतभेद, कोई भी चीज़ आपको नैतिकता से हटाने में सफल नहीं हो सकी। आपके सबसे करीबी साथियों ने इस विषय में जो गवाही दी है, उससे बड़ी कोई गवाही नहीं हो सकती।

सईद बिन हिशाम (ताबई) ने आपकी पत्नी आयशा (रज़ियल्लाहु अन्हा) से पूछा कि पैग़म्बर का अख़लाक़ (नैतिक व्यवहार) कैसा था। उन्होंने उत्तर दिया: "आपका अख़लाक़ तो कुरआन था" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 746)। अर्थात, आपने कुरआन में जिस जीवन-आदर्श का चित्र दूसरों के सामने रखा, आप स्वयं उस चित्र में ढल गए थे।

अनस बिन मालिक (रज़ियल्लाहु अन्हु) कहते हैं: मैंने दस वर्षों तक अल्लाह के रसूल की सेवा की, लेकिन आपने कभी मुझसे "उफ़" तक नहीं कहा। आपने कभी यह नहीं कहा कि "तुमने ऐसा क्यों किया?", और यदि कोई कार्य मैंने नहीं किया तो भी आपने कभी यह नहीं कहा कि "तुमने यह क्यों नहीं किया?" (*सहीह अल-बुखारी*, हदीस संख्या 6038; *सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 2309)। आप सभी लोगों में सबसे श्रेष्ठ आचरण वाले थे।

इमाम अहमद ने हज़रत आयशा (रज़ियल्लाहु अन्हा) की यह बात बयान की है कि: "अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) ने कभी किसी सेवक को अपने हाथ से नहीं मारा, न ही किसी स्त्री को मारा। और न ही किसी और को हाथ से मारा। हाँ, आप अल्लाह की राह में अन्याय से मुक़ाबला करते थे। जब भी आपको दो में से किसी एक चीज़ को चुनने का विकल्प दिया जाता, तो आप आसान चीज़ को चुनते—जब तक कि वह गुनाह न हो। अगर वह चीज़ गुनाह होती, तो आप सबसे पहले और सबसे ज़्यादा उससे दूरी बनाते। आपको चाहे जितनी भी तकलीफ़ पहुँचाई गई हो, आपने कभी अपना किसी से व्यक्तिगत बदला नहीं लिया, सिवाय इसके कि अल्लाह की निर्धारित सीमा को तोड़ा गया हो। (*मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 24034)

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) का यही चरित्र था जिसने आपको आपके विरोधियों की नज़रों में भी इज़्ज़त के योग्य बना दिया। जिन लोगों ने आपका साथ दिया, वे हर तरह की मुसीबत और नुकसान के बावजूद आपसे जुड़े रहे। अपने मज़लूमी (उत्पीड़न) के दौर में भी आप लोगों की नज़रों में उतने ही प्रिय थे जितना कि फतह (विजय) और ग़ल्बा (प्रभुत्व) के दौर में। आपको दूर से देखने वालों ने जैसा पाया, वैसा ही अनुभव उन लोगों ने भी किया जो आपको पास से देख रहे थे। आपका चरित्र ऐसा आदर्श बन गया जो इतिहास में और कहीं नहीं मिलता।

आपका उच्च आचरण आपकी सैद्धांतिक ज़िंदगी का अटूट अंग था। यही कारण था कि यह उन लोगों के साथ भी वैसा ही बना रहता था जिनसे आपको कोई

शिकायत या कष्ट पहुँचा हो। काबा की दरबानी जाहीलियत (अज्ञानता के दौर) के समय में भी अत्यंत सम्मानजनक सेवा मानी जाती थी। यह सेवा एक विशेष परिवार में पीढ़ियों से चली आ रही थी। पैग़म्बर मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) के समय में इस परिवार के एक व्यक्ति, उस्मान बिन तल्हा, काबा के दरबान थे। उन्हीं के पास काबा की चाबी रहती थी।

सहीह अल-बुख़ारी में एक रिवायत है कि हिजरत से पहले एक बार पैग़म्बर मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) ने चाहा कि काबा के भीतर जाकर इबादत करें। आपने उस्मान बिन तल्हा से चाबी मांगी ताकि काबा का दरवाज़ा खोल सकें। मगर उस्मान बिन तल्हा ने इनकार कर दिया और अपशब्द कहे। इस पर आपने फ़रमाया: "ऐ उस्मान! एक दिन ऐसा आएगा जब यह चाबी मेरे हाथ में होगी और मुझे यह अधिकार होगा कि मैं जिसे चाहूं उसे सौंप दूं।" यह सुनकर उस्मान बिन तल्हा ने कहा: "उस दिन क़ुरैश का नाश और अपमान होगा।" इस पर पैग़म्बर ने उत्तर दिया: "नहीं, उस दिन क़ुरैश को सम्मान और समृद्धि प्राप्त होगी।" (*अख़बारे मक्का*, खण्ड 1, पृष्ठ 367)

इसके बाद वह समय आया जब मक्का फतह हुआ और सारा नियंत्रण पैग़म्बर मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) के हाथ में आ गया। मक्का में प्रवेश करते ही आप सबसे पहले बैतुल्लाह (काबा) गए, आपने काबा का सात बार तवाफ़ (परिक्रमा) किया। इसके बाद आपने उस्मान बिन तल्हा को बुलवाया। एक रिवायत के अनुसार वे सुलह-ए-हुदैबिया और फतह-ए-मक्का के बीच के समय में मुसलमान हो चुके थे। आपने उनसे चाबी ली और काबा का दरवाज़ा खोलकर भीतर गए।

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) जब थोड़ी देर के बाद काबा से बाहर निकले तो आपके हाथ में उसकी चाबी थी और आप क़ुरान की यह आयत पढ़ रहे थे: "निःसंदेह, अल्लाह तुम्हें आदेश देता है कि तुम अमानतें उनके हक़दारों को लौटा दो।" (सूरह अन-निसा, 4:58) उसी समय आपके चाचा अब्बास बिन अब्दुल मुत्तलिब खड़े हुए और कहा: "हमारे लिए हाजियों को पानी पिलाना और काबा की दरबानी (हिजाबा) दोनों को एक साथ कर दीजिए।" पैग़म्बर (सल्ल०) ने

पूछा: "उस्मान बिन तल्हा कहाँ हैं?" उन्हें बुलाया गया। आपने काबा की चाबी उन्हें सौंपते हुए फ़रमाया: "इस चाबी को लो ऐ अबू तल्हा के बेटे! यह तुम्हारे पास एक स्थायी विरासत के रूप में रहेगी। इसे तुमसे कोई नहीं छीनेगा सिवाय किसी ज़ालिम (अत्याचारी) के।" (*अख़बारे मक्का,* अल-अज़रक़ी, खण्ड 1, पृष्ठ 267–68)

एक दूसरी रिवायत के अनुसार, पैग़म्बर मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) ने यह कहा: "ऐ उस्मान, यह लो अपनी चाबी। आज भलाई और निष्ठा का दिन है।" (*अल-रौज़ अल-उन्फ़*, खण्ड 7, पृष्ठ 233)

पैग़म्बर की इस सुन्नत से यह स्पष्ट होता है कि हक़ अदा करने और अमानत लौटाने के मामले में मुसलमानों को इस हद तक पाबंद होना चाहिए कि अगर हक़दार की ओर से सख़्ती या अप्रसन्नता भी पेश आए, तब भी जो उसका हक़ है, वह उसे पूरा-पूरा अदा किया जाए। हक़ अदा करने में किसी भी हाल में कोताही नहीं होनी चाहिए, चाहे वह काम इंसान की अपनी पसंद या मिज़ाज के खिलाफ़ ही क्यों न हो।

दुनियावी सोच रखने वाले लोगों का तरीक़ा यह होता है कि जब उन्हें किसी भी तरह का अधिकार या सत्ता मिलती है, तो सबसे पहले वे यह कोशिश करते हैं कि अपने पुराने विरोधियों को सज़ा दें और उन्हें उनके पदों से हटा कर अपने समर्थकों को उन जगहों पर बैठा दें। हर सत्ताधारी व्यक्ति चीज़ों को "समर्थक" और "विरोधी" की दृष्टि से देखता है। समर्थकों को ऊपर उठाना और विरोधियों को कुचल देना उसकी नीति का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। लेकिन जब पैग़म्बर मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) को अरब में सत्ता प्राप्त हुई, तो आपने इस रवैये के ठीक विपरीत व्यवहार किया। आपने मामलों को "समर्थन" और "विरोध" की कसौटी पर नहीं परखा, बल्कि उन्हें न्याय और अमानतदारी के पैमाने पर देखा। आपने हर तरह की व्यक्तिगत शिकायतों को नज़रअंदाज़ कर दिया और हर व्यक्ति के साथ वही व्यवहार किया जो रहमत (दया) और अदल (न्याय) की माँग थी।

पैग़म्बर (सल्ल०) की जीवनी के पाठ

क़ुरआन में ईमान वालों को संबोधित करते हुए कहा गया है:

> "तुम्हारे लिए अल्लाह के रसूल में उत्तम आदर्श है, उस व्यक्ति के लिए जो अल्लाह का और अंतिम दिन का उम्मीदवार हो और अल्लाह को अधिक याद करे।" (क़ुरान, 33:21)

इस आयत में बताया गया है कि पैग़म्बर मुहम्मद की ज़िंदगी हर इंसान के लिए एक नमूना है। लेकिन साथ ही यह भी कहा गया है कि यह नमूना सिर्फ उसी शख़्स के लिए है जो अल्लाह को बहुत ज़्यादा याद करने वाला हो, जो अल्लाह और आख़िरत का सच्चा चाहने वाला बन चुका हो।

मतलब यह कि पैग़म्बर (सल्ल०) की ज़िंदगी का नमूना पूरी तरह मौजूद होते हुए भी, वह अपने-आप हर इंसान के लिए नमूना नहीं बन जाता। वह सिर्फ उसी अल्लाह के बंदे के लिए नमूना बनेगा जिसने अल्लाह को इतनी गहराई से महसूस किया हो कि वह उसकी यादों में खो जाए। जिसके लिए अल्लाह उसकी तमन्नाओं का असली मक़सद बन चुका हो। जिसका हाल यह हो कि वह अल्लाह के अज़ाब से डरने लगे और आख़िरत का इनाम उसकी नज़र में इतना अहम हो जाए कि वह दिल से उसकी तमन्ना करने लगे।

पैग़म्बर के श्रेष्ठ आदर्श को पाने के लिए यह शर्त क्यों रखी गई? इसकी वजह यह है कि किसी सच्चाई को बौद्धिक (intellectual) स्तर पर पाने के लिए उसके बारे में गंभीर होना ज़रूरी होता है। अल्लाह और आख़िरत से ऐसा गहरा रिश्ता इंसान को इन बातों में गंभीर बना देता है। यही गंभीरता इस बात की गारंटी है कि वह पैग़म्बर की ज़िंदगी को सही नज़र से देखेगा और उससे सही सबक ले सकेगा।

इस बात को समझाने के लिए एक मिसाल लीजिए। एक हदीस में आता है कि पैग़म्बर ने फ़रमाया:

> "जो आदमी अपने माल की हिफाज़त करते हुए मारा जाए, वो शहीद है। जो अपने मज़हब की हिफाज़त करते हुए मारा जाए, वो

> शहीद है। जो अपने खून (जान) की हिफाज़त करते हुए मारा जाए, वो शहीद है। और जो अपने घर वालों की हिफाज़त करते हुए मारा जाए, वो शहीद है।" (*सुनन अल-तिर्मिज़ी*, हदीस संख्या 1421)

जैसा कि हदीस के अल्फ़ाज़ से साफ़ है, यह बात लड़ाई के बारे में नहीं कही गई, बल्कि अगर किसी मोमिन (सच्चे ईमान वाला) को मार दिया जाए, तो उसके अंजाम के बारे में है। पैग़म्बर का मतलब यह नहीं था कि जब भी कहीं माल, खून, मज़हब या घरवालों की बात आए, तो फौरन लड़ पड़ो, चाहे इसका नतीजा ये हो कि तुम मार दिए जाओ। असल बात यह है कि अगर कभी ऐसा हो कि इन वजहों से कोई शख़्स किसी ईमान वाले को मार दे, तो वो कत्ल नहीं बल्कि शहादत मानी जाएगी। यानी यह हदीस लड़ाई के लिए उकसाने की बात नहीं कर रही, बल्कि मारे जाने की हालत में शहादत के दर्जे को बता रही है।

अब जो शख़्स मज़हब को लेकर गंभीर नहीं है, जो बस अपने मन की बात के लिए पैग़म्बर का सहारा लेना चाहता है, वह इस हदीस के अल्फ़ाज़ को पकड़ लेगा और अपने आपसी झगड़ों या क़ौमी लड़ाइयों को सही साबित करने के लिए इसका हवाला देगा। वह कहेगा कि इस्लाम मर्दानगी की तालीम देता है, वह कहेगा कि अपने मज़हब, जान-माल, ज़मीन-जायदाद, बीवी-बच्चों और रिश्तेदारों की हिफाज़त के लिए लड़ पड़ो। अगर जीत गए तो मक़सद पूरा हुआ, और अगर हार गए तो शहीद हुए, और शहादत एक बहुत ऊँचा दर्जा है जो खुशकिस्मत लोगों को ही मिलता है।

लेकिन जो शख़्स अल्लाह से डरता है, वो इस बात को बहुत गंभीरता से देखेगा। उसकी यही गंभीरता उसे इस सवाल तक ले जाएगी कि जब माल, जान, मज़हब और खानदान की हिफाज़त में लड़ना और मरना इतनी बड़ी बात है, तो फिर पैग़म्बर की ज़िंदगी में इसके उलट क्यों कई मिसालें मिलती हैं — जहाँ आप खुले ज़ुल्म के बावजूद सब्र करते हैं और दूसरों को भी सब्र की ही सलाह देते हैं।

1. मिसाल के तौर पर इब्न हिशाम ने अबू उस्मान नहदी के हवाले से ये वाक़या बयान किया है:

> "मुझे यह जानकारी मिली है कि जब सुहैब ने मक्का से हिजरत करने का इरादा किया, तो क़ुरैश के लोगों ने उनसे कहा, "तुम हमारे पास एक गरीब आदमी बनकर आए थे। फिर तुम्हारे पास यहाँ बहुत सा माल जमा हो गया और तुम एक अच्छे दर्जे तक पहुँच गए। अब तुम चाहते हो कि अपना माल और जान लेकर यहाँ से चले जाओ? ख़ुदा की क़सम, ऐसा कभी नहीं होगा।" सुहैब ने उनसे कहा, "अगर मैं अपना माल तुम्हें दे दूँ, तो क्या तुम मुझे जाने दोगे?" उन्होंने कहा, "हाँ।" सुहैब ने कहा, "तो फिर मैंने अपना माल तुम्हारे हवाले किया। अबू उस्मान नहदी कहते हैं कि जब यह बात पैग़म्बर तक पहुँची, तो आपने फ़रमाया, "सुहैब की तिजारत कामयाब रही, सुहैब की तिजारत कामयाब रही।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 89)

इस हदीस से यह साफ़ होता है कि अगर किसी भी हाल में माल के लिए लड़कर जान देना ही सफलता होता, तो पैग़म्बर को सुहैब की इस तरह की रज़ामंदी पर उन्हें असफल ठहराना चाहिए था, न कि सफलता की बधाई देना।

2. हिजरत के छठे साल, पैग़म्बर (सल्ल०) मदीना से उमरा के इरादे से निकले। जब मक्का के पास हुदैबिया नामक जगह पहुँचे, तो क़ुरैश ने उन्हें रोक दिया। उस समय दोनों पक्षों के बीच सुलह की बातचीत चल रही थी, तभी अबू जंदल बिन सुहैल वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया था, जिसकी वजह से मक्का वालों ने उन्हें बहुत तकलीफ़ें दी थीं। उनके पैरों में लोहे की ज़ंजीरें डाली गई थीं। जब उन्होंने सुना कि पैग़म्बर और उनके साथी हुदैबिया में हैं, तो किसी तरह मक्का से भागकर वहाँ पहुँच गए। उस वक़्त भी उनके पैरों में बेड़ियाँ थीं और उनका शरीर ख़ून से लथपथ था। उन्हें देखकर क़ुरैश के सरदार सुहैल बिन अम्र (जो अबू जंदल के पिता थे) ने कहा कि अबू जंदल को हमारे हवाले

कर दो। पैग़म्बर और उनके साथियों ने बहुत कोशिश की कि उन्हें वापस मक्का न भेजा जाए। मगर सुहैल बिन अम्र ने साफ़ कहा कि अगर आपने अबू जंदल को हमारे हवाले नहीं किया, तो हम आपसे कोई सुलह नहीं करेंगे।

यह बड़ा भावुक क्षण था। अबू जंदल ज़ंजीरों में जकड़े हुए, ख़ून से लथपथ सामने खड़े थे। उन्होंने कहा, "ऐ मुसलमानो, क्या मुझे फिर से इन शिर्क करने वालों के हवाले कर दिया जाएगा, जबकि मैंने इस्लाम कबूल कर लिया है? क्या तुम नहीं देखते कि इन्होंने मुझे कितना सताया है?" इसके बावजूद, पैग़म्बर ने उन्हें मक्का लौटा दिया और कहा:

> "ऐ अबू जंदल, सब्र करो और इसके सवाब की अल्लाह से उम्मीद रखो। अल्लाह तुम्हारे लिए और बाक़ी कमज़ोर मुसलमानों के लिए जल्द ही कोई राह निकालेगा और राहत देगा। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 318)

अगर किसी भी हाल में लड़ना और शहीद हो जाना सबसे बड़ा धर्म-कर्तव्य होता, तो पैग़म्बर अबू जंदल को सब्र की सलाह न देते, बल्कि उन्हें लड़ाई की इजाज़त देते, और ख़ुद अपने साथियों के साथ क़ुरैश से लड़ जाते।

3. इसी हुदैबिया की घटना में, क़ुरैश ने पैग़म्बर (सल्ल०) को रोका और कहा कि इस साल आपको मक्का में उमरा करने की इजाज़त नहीं दी जाएगी। आप इस पर राज़ी हो गए और बिना उमरा किए वापस मदीना लौट आए। आपने उमरा पर ज़ोर नहीं दिया। (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 2731) हालाँकि यह एक धार्मिक मामला था, और आप ख़ुदा की बशारत के आधार पर अपने साथियों को लेकर हरम की ज़ियारत (दर्शन) के लिए जा रहे थे। अगर धर्म के लिए लड़कर शहीद होना हर हाल में ज़रूरी होता, तो आपको उसी साल उमरा के लिए ज़ोर देना चाहिए था, चाहे नतीजा उमरा हो या शहादत।

4. मक्का में अम्मार बिन यासिर और उनके माता-पिता बनू मख़ज़ूम के ग़ुलाम थे। उन्होंने पैग़म्बर पर ईमान लाकर इस्लाम अपना लिया। बनू मख़ज़ूम को उनका मुसलमान होना बिल्कुल पसंद नहीं आया। इसलिए वे उन्हें दोपहर के समय

तपती हुई रेत पर ले जाकर सज़ा देते। यहाँ तक कि उन्होंने अम्मार की मां को मार डाला। इब्न हिशाम इस घटना को बयान करते हुए लिखते हैं:

पैग़म्बर (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) जब अम्मार और उनके माता-पिता के पास से गुज़रते, तो जैसा कि मुझे सुनने में आया है, आप कहते: "सब्र करो, ऐ यासिर के परिवार वालो! तुम्हारे लिए जन्नत का वादा है।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 320)

अगर इस हदीस को बिल्कुल सीधे अर्थों में लिया जाए, तो ऐसा कहना—ख़ुदा ना करे—कायरता की शिक्षा देना माना जाएगा। फिर तो पैग़म्बर को यासिर के परिवार से यह कहना चाहिए था कि तुम लोग लड़कर शहीद हो जाओ और ख़ुद भी इस पवित्र युद्ध में शामिल हो जाते, चाहे वो उन्हें उनसे बचा सकें या फिर उसी रास्ते में शहादत पा लें।

असल बात यह है कि पैग़म्बर का आदर्श (उसवा-ए-रसूल) उन बातों में से है जिनकी एक से ज़्यादा व्याख्या की जा सकती है। यही कारण है कि इस आदर्श के बारे में इंसान हमेशा सही और ग़लत व्याख्या के बीच खड़ा रहता है। और जो चीज़ इंसान को ग़लत व्याख्या से बचाती है, वह केवल एक है—यह कि ख़ुदा के डर ने इंसान को "सच्चाई पर आधारित सोच" के उस स्तर तक पहुँचा दिया हो, जिसे "गंभीरता" कहा जाता है।

अगर कोई व्यक्ति वास्तव में गंभीर सोच वाला है, तो यही गंभीरता उसे पैग़म्बर के आदर्श को लेकर सवाल करने पर प्रेरित करेगी। क्योंकि वह सिर्फ़ पसंद के बातें ही स्वीकार नहीं करना चाहता, बल्कि असली तौर पर यह जानना चाहता है कि पैग़म्बर का वास्तविक आदर्श क्या है। यही सोच उसे ग़लत व्याख्या से बचाएगी। वह खुले दिमाग़ से इस विषय पर सोच-विचार करेगा और ख़ुदा की मदद से बात की गहराई तक पहुँच जाएगा। तब उसे यह समझ में आएगा कि इसका सार है—बड़ी सफलता के लिए छोटे नुकसान को बर्दाश्त करना।

मुसलमानों के लिए सबसे अहम चीज़ सामूहिक भलाई का हित है, न कि केवल व्यक्तिगत भलाई। यदि कभी सामूहिक भलाई और निजी लाभ में टकराव हो जाए, तो निजी हित को त्यागकर सामूहिक भलाई को प्राथमिकता दी जाएगी। ऊपर की घटनाओं में पैग़म्बर द्वारा सब्र (धैर्य) की सलाह देने का कारण भी यही था—सबके हित की सुरक्षा। सबकी भलाई और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना के लिए पैग़म्बर ने अपने प्राण, संपत्ति और परिवार तक की कुर्बानी दी। यहाँ तक कि विरोधियों की ओर से आने वाले अन्याय और हस्तक्षेप को भी कुछ समय के लिए सहन किया, ताकि सबके कल्याण की राह में रुकावट न हो। यही प्रत्येक मुसलमान के लिए वास्तविक सफलता का मार्ग है।

जब किसी के सामने कोई मक़सद हो, तो वह उस मक़सद को सबसे ज़्यादा अहमियत देता है। वह दूसरे सभी नुक़सानों को नज़रअंदाज़ करता रहता है, ताकि असली मक़सद हाथ से न निकल जाए। लेकिन जब मक़सद सामने न हो, तो इंसान हर बात में उलझता है, हर बात पर दूसरों से लड़ता है—यहाँ तक कि अगर इसके नतीजे में ऐसा हो कि वह छोटे नुक़सान को न झेल पाने के कारण और बड़ा नुकसान झेलने पर मजबूर हो जाए। एक दाई (आह्वानकर्ता) इस दुनिया का सबसे उद्देश्यपूर्ण इंसान होता है, इसलिए वह हमेशा पहले रास्ते को अपनाता है, न कि दूसरे रास्ते को। इस सिद्धांत से सिर्फ़ वही मामले अलग हैं, जो पूरी तरह रक्षात्मक हों—जिनका आह्वान से कोई लेना-देना न हो।

इस भूमिका के बाद अब हम पैग़म्बर (स्ल्ल०) की ज़िंदगी के कुछ ऐसे क़िस्से पेश करते हैं, जो अलग-अलग पहलुओं से हमारे लिए गहरी सीख और प्रेरणा रखते हैं।

1. रसूल अल्लाह (स्ल्ल०) की नबूवत के आरंभ का ज़िक्र करते हुए इब्न हिशाम लिखते हैं। जब अल्लाह ने यह इरादा किया कि वह पैग़म्बर मुहम्मद को नबी के पद पर नियुक्त करेगा, तो उस समय आपका यह हाल था कि जब आप किसी ज़रूरत से बस्ती से बाहर निकलते, तो बहुत दूर चले जाते, यहाँ तक कि

घर नज़र नहीं आते थे। आप मक्का की पहाड़ियों और घाटियों में खो जाते थे (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 234-35)। इब्न हिशाम ने अब्दुल्लाह बिन जुबैर की यह रिवायत लिखी है कि पैग़म्बर मुहम्मद हर साल एक महीना हिरा पहाड़ पर जाते और वहीं रहते थे। अबू तालिब के कुछ शेर भी इब्न हिशाम ने लिखे हैं। उनमें से एक मिसरा यह है:

"وَرَاقٍ لِيَرْقَى فِي حِرَاءٍ وَنَازِلِ"

अर्थ: वे हिरा पर चढ़ने वाले और वहाँ से उतरने वाले हैं।
(*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 235)

जब पैग़म्बर के अंदर सच्चाई की तलाश की भावना पैदा हुई, तो आपका यह हाल था कि इंसानी बस्तियों से बाहर निकलकर आप पहाड़ी इलाक़ों की तरफ चले जाते थे। यह एक नेक आत्मा का इंसानी गतिविधियों के माहौल को छोड़कर फ़ितरत (प्रकृति) के माहौल में जाना था। रेगिस्तानी इलाक़ा इस उद्देश्य के लिए सबसे ज़्यादा अनुकूल होता है।

रोमानिया के एक पश्चिमी विद्वान कॉन्स्टान वर्जिल जॉर्ज (1916–1992) ने इस्लाम के भौगोलिक पहलू को समझने के लिए ख़ुद अरब की यात्रा की थी। वे अपनी किताब "पैग़म्बर ऑफ़ इस्लाम" में लिखते हैं:

> "जब तक कोई आदमी अरब और पूरब के रेगिस्तानों और जंगलोंन में कुछ समय न बिताए, वह यह समझ नहीं पाता कि रेगिस्तान की विशालता और उसकी शांति कैसे इंसान की सोच को विस्तृत करती है और उसके विचारों को गहराई और समझ देती है। यूरोप की घास और अरब की घास में बहुत फ़र्क है। गरम इलाक़ों की हर झाड़ी में खुशबू होती है — यहाँ तक कि अरब के कांटे भी खुशबूदार होते हैं। तीस लाख वर्ग किलोमीटर में फैला समतल रेगिस्तान और गरम अरब इलाक़ा वह जगह है जहाँ आदमी बिना किसी रुकावट के सीधे ख़ुदा से जुड़ जाता है।

दूसरे देश किसी बड़ी इमारत की तरह हैं जहाँ बीच में ऊँची ऊँची दीवारें होती हैं। लेकिन अरब के रेगिस्तान में ऐसा कोई अवरोध नहीं जो अल्लाह के दर्शन को रोक सके। लोग जहाँ भी देखते हैं, उन्हें अनंत रेगिस्तान और खुला आसमान नज़र आता है। यहाँ ख़ुदा और फ़रिश्तों की उपस्थिति को महसूस करने की राह में कोई रुकावट नहीं होती।"

2. जाहिलियत (इस्लाम से पहले के दौर) में अरब के कुछ लोगों ने आपसी समझौता किया था जिसे हिल्फ़ुल फ़ुज़ूल कहा जाता था। इस समझौते का मक़सद लूटमार और ज़ुल्म को रोकना था। इस समझौते में शामिल होने वालों के नाम थे: फ़ज़्ल बिन फ़ज़ाला, फ़ज़्ल बिन वदाआ और फ़ुज़ैल बिन हारिस। इन्हीं के नामों पर इस समझौते का नाम हिल्फ़ुल फ़ुज़ूल (फ़ज़्ल वालों का समझौता) पड़ा। यह समझौता उसकी नींव रखने वालों के ज़िंदा रहने तक चलता रहा। उनके मरने के बाद सिर्फ़ इसका नाम रह गया। ज़ुबैर बिन अब्दुल मुत्तलिब ने अपने कुछ शेरों में इस समझौते का ज़िक्र इस तरह किया है:

إنّ الْفُضُولَ تَحَالَفُوا، وَتَعَاقَدُوا أَلّا يُقِيمَ بِبَطْنِ مَكّةَ ظَالِمُ

أَمْرٌ عَلَيْهِ تَعَاهَدُوا، وَتَوَاثَقُوا فَالْجَارُ وَالْمُعْتَرُّ فِيهِمْ سَالِمُ

> "फ़ज़्ल नाम के आदमियों ने आपस में एक समझौता किया और यह वचन लिया कि मक्का में कोई ज़ालिम न रहने पाए। उन्होंने इस बात पर आपस में संधि की और इकरार किया। फलस्वरूप, मक्का में रहने वाला पड़ोसी और ज़रूरत के तहत आने वाला हर व्यक्ति सुरक्षित है।" (*अल-रौज़ अल-उन्फ़*, अल-सुहैली, खण्ड 2, पृष्ठ 47)

वाक़िया-ए-फ़ील (हाथी वाली घटना) के बाद अरब में एक आपसी लड़ाई हुई, जिसे हरब अल-फ़िजार (हराम महीनों में लड़ी गई जंग) कहा जाता है। इस युद्ध के बाद अरब में दोबारा अशांति फैल गई। इसी दौर में यह घटना पेश आई कि यमन के ज़ुबैद कबीले का एक व्यक्ति कुछ व्यापारिक सामान लेकर मक्का आया।

क़ुरैश के एक प्रमुख सरदार आस बिन वाइल सहमी ने उसका माल ख़रीदा, लेकिन उसके बदले में तयशुदा कीमत नहीं दी। इस यमनी व्यापारी ने मक्का के लोगों से न्याय की गुहार लगाई। उसने कुछ शेर कहे और उनके ज़रिए आम लोगों तक अपनी शिकायत पहुंचाई। इस घटना ने मक्का के कुछ संवेदनशील और न्यायप्रिय लोगों को सचेत कर दिया। ज़ुबैर बिन अब्दुल मुत्तलिब की पहल पर बनू हाशिम और बनू तमीम के लोग अब्दुल्लाह बिन जुदआन के घर पर इकट्ठा हुए ताकि हालात पर विचार किया जा सके। उन्होंने हिल्फ़ुल फ़ुज़ूल को दोबारा लागू करने का निर्णय लिया। उन्होंने आपसी वचन से अपने आप को इस बात का पाबंद किया कि वे पीड़ित का साथ देंगे और अत्याचारी से उसका हक़ दिलवाकर ही रहेंगे। (*अल-तबक़ात अल-कुबरा*, खण्ड 1, पृष्ठ 103)

इस संकल्प के बाद वे लोग आस बिन वाइल के पास पहुँचे। उससे वह माल छीना और उसे उसके असली मालिक के हवाले कर दिया।

यह समझौता उस समय हुआ था जब पैग़म्बर मुहम्मद की आयु कम थी। यह भले ही अरबों का एक सामाजिक संधि-पत्र था, लेकिन पैग़म्बर ने स्वयं इसकी पुष्टि की। इस बारे में उनके ये ऐतिहासिक शब्द उन की जीवनी की पुस्तकों में दर्ज हैं:

> "मैं अब्दुल्लाह बिन जुदआन के घर में होने वाले उस समझौते में शरीक था। अगर इस्लाम के आने के बाद भी मुझे उसमें बुलाया जाता, तो मैं अवश्य उसमें शामिल होता। उस समय लोगों ने यह संकल्प लिया था कि वे हक़ को उसके हक़दार तक पहुँचाएंगे और कोई ज़ालिम किसी मज़लूम पर प्रभावी नहीं हो सकेगा।" (*सीरत इब्न कसीर*, खण्ड 1, पृष्ठ 258)

इब्न हिशाम ने इस सिलसिले में कुछ घटनाएँ दर्ज की हैं। इससे यह पता चलता है कि हिल्फ़ुल फ़ुज़ूल का मानसिक असर बाद के अरबों में भी बाक़ी था। वलीद बिन उतबा, हज़रत मुआविया बिन अबू सूफ़ियान के भतीजे थे। हज़रत मुआविया ने उन्हें मदीना का गवर्नर बनाया था। इसी समय वलीद बिन उतबा और हज़रत

हुसैन बिन अली के बीच एक ज़मीन का विवाद हुआ जो 'ज़ुल-मरवा' नाम के गाँव में थी। वलीद ने बलपूर्वक उस पर कब्ज़ा करना चाहा। हज़रत हुसैन ने कहा:

> "मैं ख़ुदा की क़सम खाकर कहता हूँ कि या तो तुम मेरे हक़ में इंसाफ़ करोगे, वरना मैं अपनी तलवार निकाल लूंगा, फिर मस्जिद-ए-नबवी में खड़ा हो जाऊँगा और हिल्फ़ुल फ़ुज़ूल के नाम से पुकार लगाऊँगा।"

उस समय वहाँ मौजूद अब्दुल्लाह बिन ज़ुबैर ने भी यही बात कही। उन्होंने कहा: "मैं भी ख़ुदा की क़सम खाकर कहता हूँ कि अगर हुसैन इसके लिए पुकारेंगे तो मैं भी अपनी तलवार लेकर उनके साथ खड़ा हो जाऊँगा, यहाँ तक कि उन्हें उनका हक़ मिल जाए या हम दोनों एक साथ मारे जाएँ।" यह बात मिसवर बिन मख़रमा ज़ुहरी तक पहुँची तो उन्होंने भी ऐसा ही कहा। इसी तरह यह बात अब्दुर्रहमान बिन उस्मान तैमी तक पहुँची तो उन्होंने भी वैसा ही कहा। जब वलीद बिन उतबा को इसका पता चला तो उसने हज़रत हुसैन को उनका हक़ लौटा दिया। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 135)

ऊपर दी गई जानकारी से यह बात साफ़ हो जाती है कि अशांति और अत्याचार की समस्या का इस्लाम में जो प्रमाणिक हल है, वह हिल्फ़ुल फ़ुज़ूल का तरीक़ा है। यानी समाज के ज़िम्मेदार लोग अल्लाह के सामने यह संकल्प लें और अपने आप को इस बात का पाबंद बनाएं कि जब भी कोई ऐसा मामला सामने आए जिसमें एक व्यक्ति दूसरे पर ज़ुल्म कर रहा हो, तो वे फ़ौरन मौके पर पहुँचेंगे। पीड़ित की समस्या को अपनी समस्या मानेंगे। वे अपनी पूरी ताक़त और कोशिश लगाकर ज़ालिम को मजबूर करेंगे कि वह अपने अत्याचार से रुक जाये और पीड़ित को उसका हक़ लौटाए।

आज हर बस्ती में यही हाल है कि एक मुसलमान दूसरे मुसलमान को सताता है। कोई किसी को नीचा दिखाने पर तुला हुआ है, कोई किसी पर झूठा मुकदमा लादे हुए है। कोई किसी की संपत्ति हड़प लेना चाहता है। कुल मिलाकर, जिसे भी थोड़ी सी ताक़त या मौक़ा हाथ आता है, वह इसी कोशिश में लग जाता है कि किसी

कमज़ोर को दबा दे और ज़ालिमाना तरीक़े से दूसरे के हक़ को छीन ले। इस तरह की घटनाएँ हर बस्ती और हर मोहल्ले में हो रही हैं। लेकिन सारे लोग निष्पक्ष बने रहते हैं। यहाँ तक कि ज़िम्मेदार लोग भी ऐसे मामलों में कोई दख़ल नहीं देते। अगर किसी को 'क़ौमी सुधार' या 'उम्मत की भलाई' का शौक़ होता है, तो वह भाषणों और जलसों के काम में व्यस्त है। जबकि असली काम यह है कि पीड़ित की व्यावहारिक मदद की जाए—ना कि पीड़ितों के नाम पर जलसा किया जाए और उसमें शब्दों के दरिया बहाये जाएँ। मज़लूमों के नाम पर जलसा करना तो ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति घायल हो जाए और आप उसे अस्पताल पहुँचाने के बजाय एक "शानदार घायल सम्मेलन" आयोजित करने के लिए दौड़ पड़ें।

3. कबीलाई व्यवस्था में आदमी अपने कबीले की सुरक्षा-व्यवस्था के तहत जीवन बिताता था। पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) मक्का के शुरुआती दौर में अपने चाचा अबू तालिब के संरक्षण में रहे, जो बनू हाशिम कबीले के प्रमुख थे। नबूवत के दसवें साल अबू तालिब का निधन हो गया। उसके बाद क़बीलाई परंपराओं के अनुसार अबू लहब को बनू हाशिम का प्रमुख बनाया गया। उसने आप की सहायता से इनकार कर दिया। अब आपने तय किया कि किसी और क़बीले का समर्थन हासिल कर के लोगों को अपना संदेश देना जारी रखें। इस उद्देश्य से आपने तायफ़ का सफ़र किया।

तायफ़, मक्का के दक्षिण-पूर्व में 65 मील की दूरी पर एक हरा-भरा इलाक़ा था। वहाँ आपके कुछ रिश्तेदार भी रहते थे। आप अपने सेवक ज़ैद बिन हारिसा को साथ लेकर तायफ़ पहुँचे। उस समय वहाँ की आबादी में तीन प्रमुख नेता थे—अब्द यालैल, मसऊद और हबीब। आप इन तीनों से मिले, मगर हर एक ने आपका साथ देने और समर्थन करने से इनकार कर दिया।

इनमें से एक ने कहा: "अगर तुम्हें अल्लाह ने पैग़म्बर बना दिया हो, तो मैं काबा का पर्दा फाड़ डालूंगा।"

दूसरे ने कहा: "क्या अल्लाह को तुम्हारे सिवा कोई और नहीं मिला जिसे वह पैग़म्बर बना कर भेजता?"

तीसरे ने कहा: "अल्लाह की क़सम, मैं तुमसे कभी बात नहीं करूंगा। अगर तुम वास्तव में अल्लाह के भेजे हुए पैग़म्बर हो, तो तुम्हारा जवाब देना अपमान होगा। और अगर तुम झूठ बोल रहे हो, तो मेरे लिए सही नहीं की मैं तुमसे बात करूँ।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 29)

पैग़म्बर दु:खी होकर लौटे। लेकिन उन लोगों ने यहीं तक बस नहीं किया। उन्होंने बस्ती के लड़कों को आपके पीछे लगा दिया, जो गालियाँ देते और पत्थर मारते हुए आपका पीछा करते रहे। आपके सेवक ज़ैद बिन हारिसा ने अपनी चादर से आपको ढकने की कोशिश की, लेकिन वे आपको पूरी तरह नहीं बचा सके और आपका शरीर खून में लथपथ हो गया।

बस्ती से कुछ दूर मक्का के 'उत्बा' और 'शैबा' नाम के दो भाईयों का अंगूर का बाग़ था। यहाँ पहुँचते-पहुँचते शाम हो गई और आपने उस बाग़ में शरण ली। आप ज़ख़्मी थे और अल्लाह से दुआ कर रहे थे कि, "ऐ खुदा, मेरी मदद कर, मुझे अकेला न छोड़।"

उत्बा और शैबा दोनों मुश्रिक (बहुदेववादी) थे, लेकिन जब उन्होंने आपकी हालत देखी तो उन्हें दया आ गई। उन्होंने अपने ईसाई सेवक 'अद्दास' को बुलाया। उन्होंने अद्दास से कहा: "अंगूरों के कुछ गुच्छे एक बर्तन में रख कर उस व्यक्ति के पास ले जाओ और कहो कि इन्हें खाएं।" अद्दास ने वैसा ही किया। वह अंगूर लेकर आया और उन्हें पैग़म्बर के सामने रख दिया और कहा: "इन्हें खाइए।" पैग़म्बर ने जब अंगूर को हाथ में लिया तो "बिस्मिल्लाह" कहा और फिर खाया।

अद्दास ने आपके चेहरे की ओर देखा और कहा: "ख़ुदा की क़सम, यह जो आपने कहा, इस देश के लोग ऐसा नहीं कहते।" पैग़म्बर ने पूछा: "ऐ अद्दास, तुम कहाँ के रहने वाले हो और तुम्हारा धर्म क्या है?" अद्दास ने कहा: "मैं ईसाई हूँ और नैनवा (इराक़) का रहने वाला हूँ।" पैग़म्बर ने कहा: "सज्जन पुरुष यूनुस बिन

मत्ता के शहर के।" अद्दास ने पूछा: "आपको कैसे पता कि यूनुस बिन मत्ता कौन थे?" पैग़म्बर ने कहा: "वो मेरे भाई थे। वो पैग़म्बर थे और मैं भी पैग़म्बर हूँ।" (ذَاكَ أَخِي، كَانَ نَبِيًّا وَأَنَا نَبِيٌّ) यह सुनकर अद्दास झुक पड़ा और पैग़म्बर के सिर, हाथ और पैरों को चूमने लगा।

उत्बा और शैबा यह दृश्य देख रहे थे। एक ने दूसरे से कहा: "देखो, इस आदमी ने तुम्हारे सेवक को बिगाड़ दिया।" जब अद्दास वापस आया तो उन्होंने उससे कहा: "अद्दास, तुम्हारा बुरा हो, तुम उसके सिर, हाथ और पाँव को क्यों चूमने लगे?" अद्दास ने कहा: "ऐ मेरे मालिको, इस धरती पर इससे बेहतर कोई नहीं। इस आदमी ने मुझे ऐसी बात बताई जो सिर्फ़ एक पैग़म्बर ही जान सकता है।" दोनों ने कहा: "अद्दास, तुम्हारा बुरा हो! वह तुम्हें तुम्हारे धर्म से भटका न दे, क्योंकि तुम्हारा धर्म उसके धर्म से बेहतर है।" (*सीरत इबन हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 421)

अल्लाह के पैग़म्बर को एक ही सफ़र में अलग-अलग लोगों से तीन तरह के बर्ताव का अनुभव हुआ:

एक ने पत्थर फेंके।

दूसरे ने मेहमान-नवाज़ी की।

तीसरे ने आपकी पैग़म्बरी को स्वीकार कर लिया।

इस घटना में एक बहुत बड़ा सबक़ छुपा है। यह सबक़ यह है कि इस दुनिया में संभावनाओं की कोई सीमा नहीं। यहाँ अगर चटियल मैदान हैं, तो वहीं छायादार पेड़ भी खड़े हैं। अगर कुछ लोगों से बुरा बर्ताव हो, तो इंसान को मायूस नहीं होना चाहिए। अगर आदमी खुद सच्चाई पर टिका रहे, अपने दिल को नफ़रत और नकारात्मक सोच से बचाए रखे, तो ज़रूर उसे अल्लाह की मदद मिलेगी। अगर एक तरह के लोग उसका साथ न दें, तो दूसरे तरह के लोगों के दिल उसके लिए नरम कर दिए जाएंगे।

4. जब पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने मक्का में इस्लाम का संदेश लोगों तक पहुँचाना शुरू किया, तो उनका बहुत ज़्यादा विरोध किया गया। उन्हें हर तरह

की तकलीफें दी गईं। उन्हें रोकने और नाकाम करने के लिए लोग जो कुछ कर सकते थे, वह सब किया। लेकिन उनका मिशन लगातार आगे बढ़ता रहा। यहाँ तक कि मदीना के लोगों तक इस्लाम का संदेश पहुँच गया। वहाँ बड़ी संख्या में लोग मुसलमान हो गए। मक्का के लोगों ने न सिर्फ़ पैग़म्बर को, बल्कि बाक़ी मुसलमानों को भी बहुत परेशान किया। पैग़म्बर ने मक्का के मुसलमानों से कहा कि मदीना में अल्लाह ने तुम्हारे लिए कुछ भाई और मददगार तैयार कर दिए हैं, इसलिए तुम लोग वहाँ चले जाओ। लोग एक-एक करके मक्का से मदीना जाने लगे। जब क़ुरैश को इस योजना की जानकारी हुई, तो उन्होंने कोशिश की कि लोगों को जाने से रोका जाए। कुछ लोगों को मारा गया, कुछ को पकड़कर घरों में बंद कर दिया गया। फिर भी ज़्यादातर लोग किसी न किसी तरह मक्का से मदीना पहुँच ही गए।

आख़िर में पैग़म्बर (सल्ल०) की बारी आई। क़ुरैश को अंदाज़ा हो गया कि जब सभी मुसलमान मदीना जा चुके हैं, तो अब पैग़म्बर भी वहाँ चले जाएँगे। इसलिए, बनू हाशिम को छोड़कर क़ुरैश के सभी क़बीलों के सरदार "दार अल-नदवा" (क़ुरैश का सभा स्थल– क़ुसई बिन किलाब का घर) में जमा हुए। सलाह-मशविरे में अलग-अलग सुझाव आए। आख़िर में इस बात पर सहमति बनी कि हर क़बीले से एक-एक आदमी तलवार लेकर एक साथ हमला करे और मुहम्मद को मार डाले। इससे उनकी हत्या की ज़िम्मेदारी सारे क़बीलों में बँट जाएगी। बनू हाशिम इतने सारे क़बीलों का मुक़ाबला नहीं कर पाएँगे और वे बदले की बजाय ख़ून का मुआवज़ा लेने पर राज़ी हो जाएँगे। इसके बाद अगली रात सभी सरदारों ने आपके घर को घेर लिया, ताकि सुबह जब आप बाहर निकलें तो अचानक हमला करके आपको खत्म कर दिया जाए।

पैग़म्बर को इन तमाम हालात की जानकारी थी और वे चुपचाप अपनी तैयारी में लगे हुए थे। उन्होंने तय योजना के अनुसार उसी रात अबू बक्र सिद्दीक़ के साथ मक्का छोड़ दिया। आप मक्का से चलकर करीब चार मील की दूरी पर "जबल-ए-सौर" नाम के पहाड़ की एक गुफा में छिप गए। उन्हें अंदाज़ा था कि जब क़ुरैश

को पता चलेगा कि वे मक्का से निकल चुके हैं, तो वे उन्हें ढूँढ़ने के लिए चारों तरफ फैल जाएँगे। इसलिए उन्होंने सोचा कि कुछ दिन गुफा में रुकें और जब खोज बंद हो जाए, तब मदीना की ओर रवाना हों।

अब क़ुरैश के सवार चारों तरफ आपकी तलाश में दौड़ने लगे। यहाँ तक कि एक दल गुफा तक भी पहुँच गया। ये लोग तलवारें लिए गुफा के पास इस तरह खड़े थे कि उनके पैर अल्लाह के रसूल और अबू बक्र को दिखाई दे रहे थे। यह बहुत ही ख़तरनाक क्षण था। अबू बक्र सिद्दीक़ ने कहा: "ऐ अल्लाह के रसूल, दुश्मन तो यहाँ तक पहुँच गया है।" आपने जवाब दिया: "घबराओ मत, अल्लाह हमारे साथ है।" (क़ुरान, तौबा 9:40) फिर आपने शांति के साथ कहा: "अबू बक्र, उन दो लोगों के बारे में तुम्हारा क्या ख्याल है जिनका तीसरा खुद अल्लाह है।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 4653)

5. पैग़म्बर मुहम्मद के जिन अभियानों को "ग़ज़वा" कहा जाता है, उनमें से एक ग़ज़वा "ज़ातुर-रिक़ा" है, जो 4 हिजरी में हुआ। इस ग़ज़वे की घटनाओं में से एक घटना वह है जो हज़रत जाबिर की रिवायत से सहीह अल-बुख़ारी (किताबुल मग़ाज़ी) में दर्ज है। सीरत की किताबों में भी यह घटना मामूली फ़र्क के साथ दर्ज है।

बनू ग़तफ़ान का एक आदमी था जिसका नाम ग़ौरस इब्न हारिस था। उसने अपनी क़ौम से कहा: "क्या मैं तुम्हारे लिए मुहम्मद को मार दूं?" उन्होंने कहा: "ज़रूर, लेकिन तुम उन्हें कैसे मारोगे?" ग़ौरस ने कहा: "मैं उन्हें उस समय पकड़ूंगा जब वह बेफिक्र होंगे और उन्हें मार डालूंगा।" इसके बाद ग़ौरस रवाना हुआ। वह एक जगह पहुंचा जहां पैग़म्बर मुहम्मद अपने साथियों के साथ ठहरे हुए थे। वहां पेड़ और झाड़ियाँ थीं। लोग झाड़ियों की छांव में लेटे हुए थे। पैग़म्बर मुहम्मद भी एक पेड़ के नीचे आराम कर रहे थे और अपनी तलवार उन्होंने पेड़ की डाल पर टांग रखी थी। इतने में वही आदमी (ग़ौरस) आपको ढूंढ़ता हुआ वहां पहुंचा। जब उसने देखा कि आप अकेले लेटे हुए हैं और आपकी तलवार भी आपसे अलग पेड़ पर टंगी हुई है, तो वह तलवार खींचकर आपकी ओर बढ़ा और बोला: "अब तुम्हें

मुझसे कौन बचाएगा?" आपने कहा: "ख़ुदा"। उस आदमी ने तलवार हिलाते हुए कहा: "इस तलवार की तरफ़ देखो जो इस वक़्त मेरे हाथ में है। क्या तुम्हें इससे डर नहीं लगता?" आपने कहा: "नहीं। मैं तुमसे क्यों डरूं, जबकि मुझे पूरा यक़ीन है कि ख़ुदा मुझे बचाएगा।" आपके इस भरोसे भरे जवाब के बाद उस आदमी ने आक्रमण का साहस न किया। उसने तलवार म्यान में डाल दी और आपको वापस कर दी। फिर आपने उसे अपने पास बैठाया और लोगों को आवाज़ दी। लोग आए तो देखा कि एक अनजान आदमी आपके पास बैठा है। आपने पूरा क़िस्सा बताया। वह आदमी डर गया था कि अब शायद वही तलवार मेरी गर्दन पर चलेगी। लेकिन आपने उसे माफ़ कर दिया। उसे कोई सज़ा नहीं दी। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 205)

जो लोग ख़ुदा पर पूरा भरोसा कर लें, उन्हें किसी और चीज़ का डर नहीं रहता। यह विश्वास कि अल्लाह एक जीवित और सर्वशक्तिमान रूप में हर समय उपस्थित है, इंसान को हर दूसरी शक्ति के सामने निडर बना देता है। सच तो यह है कि किसी दुश्मन के मुक़ाबले में इंसान की सबसे बड़ी ताक़त उसका निडर होना है। अगर दुश्मन को यह यक़ीन हो जाए कि उसका मुक़ाबला करने वाला उससे डरता नहीं है, तो वह खुद डरने लगता है।

6. पैग़म्बर के गज़वात (अभियानों) में से एक अभियान "ख़ंदक की लड़ाई" है, जो 5 हिजरी में शव्वाल के महीने में हुई। इसे "अहज़ाब की लड़ाई" भी कहा जाता है, यानी सेनाओं की लड़ाई। इस युद्ध में अरब के अलग-अलग क़बीले मिलकर मदीना पर हमला करने के लिए आ गए थे। क़ुरैश, ग़तफ़ान और यहूदी कबीलों के दस हज़ार से ज़्यादा लोग इस लड़ाई में शामिल थे। यह हमला कितना गंभीर था, इसका अंदाज़ा क़ुरान की इन आयतों से लगाया जा सकता है: "जब वे ऊपर और नीचे से तुम्हारे ऊपर चढ़ आए, उस समय डर के कारण तुम्हारी आंखें स्थिर हो गईं और दिल मुंह को आ गए और तुम लोग अल्लाह के बारे में तरह-तरह के संदेह करने लगे। उस समय सच्चे ईमान वालों की बड़ी परीक्षा हुई और वे पूरी तरह हिला दिए गए।" (क़ुरान, 33:11) इस्लाम के दुश्मनों की यह फौज पूरी तरह हथियार-बंद थी। इसमें साढ़े चार हज़ार ऊंट और तीन सौ घोड़े थे।

दुश्मनों ने मदीना को इस तरह घेर लिया कि बाहर से किसी भी तरह की मदद आना बंद हो गई। खाने-पीने की चीज़ों की इतनी कमी हो गई कि लोग भूखे रहने लगे। ऐसा ही एक वाकया वो है जब नबी (सल्ल०) के एक साथी ने भूख की शिकायत की और अपनी कमीज़ उठाकर दिखाई कि उसने पेट पर एक पत्थर बांधा हुआ है। पैग़म्बर मुहम्मद ने इसका जवाब देते हुए अपनी कमीज़ उठाई तो आपके पेट पर दो पत्थर बंधे हुए थे।

जब अल्लाह के रसूल को पता चला कि अलग-अलग क़बीले मिलकर मदीना पर हमला करने वाले हैं, तो आपने अपने साथियों से सलाह ली। सलमान फ़ारसी की राय के अनुसार तय हुआ कि मदीना में रहकर ही मुक़ाबला किया जाए। उस समय मदीना तीन तरफ से पहाड़ों, घने पेड़ों और मकानों की दीवारों से घिरा हुआ था। सिर्फ उत्तर-पश्चिम दिशा में एक हिस्सा खुला हुआ था। तय हुआ कि इस खुले हिस्से में दो पहाड़ों के बीच एक खाई (ख़ंदक) खोदी जाए। छह दिन की लगातार मेहनत से एक खाई तैयार की गई। यह खाई दुश्मनों के हमले को रोकने में इतनी कारगर साबित हुई कि इस युद्ध को "ख़ंदक की लड़ाई" कहा जाने लगा।

सीरत की किताबों में जब हम इस खाई के बारे में विस्तार से पढ़ते हैं तो एक सवाल सामने आता है—"एक मामूली खाई दुश्मनों की सेना को कैसे रोक सकी?" मिली जानकारियों के अनुसार यह खाई लगभग 6 किलोमीटर लंबी थी और इसकी गहराई और चौड़ाई एक सामान्य नहर से ज़्यादा नहीं थी। यह क़रीब ढाई मीटर गहरी और तीन मीटर चौड़ी थी। इस तरह की एक खाई एक सशस्त्र सेना के लिए एक नाली से ज़्यादा नहीं मानी जाती। वे लोग आसानी से इसे पार करके मदीना में घुस सकते थे। घटनाओं से यह भी साबित होता है कि इस खाई के बावजूद मुसलमान दुश्मनों के तीरों की पहुंच में थे, जैसा कि हज़रत सअद बिन मुआज़ के तीर लगने से ज़ाहिर होता है। इतिहास से यह भी पता चलता है कि कुछ लोग खाई के दूसरी तरफ पहुंचने में सफल हो गए थे। अम्र बिन अब्द-वुद और उसके कुछ साथी घोड़े पर सवार होकर खाई का मुआयना करने आए। उन्होंने

एक जगह खाई को कुछ कम चौड़ी देखकर वहीं रुककर घोड़ा दौड़ाया और दूसरी तरफ पहुंच गए। इसके बाद अम्र बिन अब्द-वुद का मुकाबला हज़रत अली बिन अबी तालिब से हुआ, जिसमें अम्र मारा गया।

यह घेराबंदी लगभग एक महीने चली और अंत में आंधी और तूफान के बाद ख़त्म हो गई। आंधी ने दुश्मनों की सेना में इतनी घबराहट पैदा कर दी कि अबू सुफ़ियान ऊंट की रस्सी खोले बिना ही उस पर बैठकर उसे भगाने लगे। फिर भी यह सवाल बना रहता है कि पूरी तरह से तैयार दस हज़ार से ज़्यादा की सेना मदीना में क्यों नहीं घुस सकी, जबकि वहां सिर्फ तीन हज़ार लोगों का एक कमज़ोर दल उनकी चढ़ाई को रोकने के लिए काफ़ी नहीं था।

इस सवाल का जवाब हमें अल्लाह की एक सुन्नत (परंपरा) में मिलता है। वह सुन्नत यह है कि अल्लाह सच्चे ईमान वालों की ताक़त को उनके दुश्मनों को बढ़ाकर दिखाता है, ताकि वे भयभीत हो जाएं और पीछे हट जाएं। क़ुरान में कहा गया है:"हम अल्लाह का इनकार करने वालों के दिलों में तुम्हारा डर डाल देंगे, क्योंकि उन्होंने ऐसी चीज़ों को अल्लाह का भागीदार ठहराया जिनके लिए अल्लाह ने कोई प्रमाण नहीं भेजा।" (क़ुरान, 3:151) ख़ुदा की यह मदद (डर के रूप में) ख़ंदक की लड़ाई में और दूसरी जगहों पर भी ज़ाहिर हुई। इस युद्ध में मुसलमानों द्वारा खोदी गई नाली दुश्मनों को बहुत बड़ी खाई की तरह दिखाई दी। लेकिन यह ध्यान रहे कि मुसलमानों को अपने हाथों से मेहनत करके यह "नाली" खोदनी पड़ी। अगर वे अपने हाथों से यह नाली न खोदते, तो अल्लाह उसे दुश्मनों को बड़ी खाई के रूप में कैसे दिखाता?

ख़ुदा की यह "डर वाली मदद", जो मुसलमानों की पहली पीढ़ी को सबसे ऊँचे दर्जे में मिली थी, बाद के मुसलमानों को भी मिल सकती है। लेकिन शर्त यह है कि वे उसी रास्ते पर चलें जिस पर पैग़म्बर के साथियों ने चलकर दिखाया। जो कोई दूसरा रास्ता अपनाएगा, वह शैतान का साथी बन जाएगा। फिर उसे अल्लाह की मदद कैसे मिल सकती है? ख़ुदा की मदद का हक़दार वही होता है जो अपने

आप को पूरी तरह सच्चाई के साथ जोड़ दे—जो कुछ उसके पास है, उसे खुदा के हवाले कर दे; अपना ताज किसी और के सिर पर रख दे, जैसा कि मदीना के लोगों ने हिजरत के बाद किया।

ख़ुदा की मदद का हक़दार बनने की शर्त एक ही वाक्य में है: "अगर तुम मदद करोगे, तो तुम्हारी मदद की जाएगी।" ख़ुदा तब हमारी मदद करता है जब हम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा हम ख़ुदा से अपने लिए चाहते हैं। अगर हमारी वजह से दूसरों को परेशानी हो रही हो, तो ख़ुदा के फ़रिश्ते हमारे लिए उसकी रहमत लेकर नहीं आ सकते। अगर हमारा हाल यह हो कि जिस पर हमारा बस चले उसे हम सताने लगें, तो यह मुमकिन नहीं कि जब कोई और हम पर ज़ुल्म करे तब ख़ुदा हमारी मदद करे। अगर कोई व्यक्ति अपनी मुसीबत में हमें पुकारे और हम समर्थ होने के बावजूद उसकी मदद न करें, तो यह कैसे हो सकता है कि जब हम किसी बड़ी मुसीबत से घिर जाएं और अल्लाह को पुकारें, तो वह हमारी पुकार सुन ले? इस दुनिया में हमेशा ऐसा होता है कि किसी के मुक़ाबले में इंसान ताक़तवर होता है और किसी के सामने कमज़ोर। यही स्थिति अल्लाह की मदद के मामले में इंसान की परीक्षा बनती है। जो व्यक्ति या गिरोह अपने से कमज़ोर लोगों पर ज़ुल्म करता हो, वह अपने से ताक़तवर लोगों के मुक़ाबले में अल्लाह की मदद का हक़दार नहीं बन सकता, चाहे वह कितनी ही दुआ करे या 'यौम-ए-दुआ' मनाए।

7. बद्र की लड़ाई (2 हिजरी) से कुछ पहले, क़ुरैश के 60 लोगों वाला एक बड़ा व्यापारिक क़ाफ़िला अबू सुफ़ियान के नेतृत्व में शाम भेजा गया था। इस व्यापारिक काफिले में मक्का के पुरुषों और महिलाओं ने अपनी पूरी पूंजी लगा दी थी। बद्र की लड़ाई में क़ुरैश को पूरी तरह हार का सामना करना पड़ा। हालांकि अबू सुफ़ियान इस बात में सफल रहा कि वह क़ाफिले को समुद्र तट के रास्ते से मक्का वापस ले गया। युद्ध के बाद पूरा मक्का बदले की भावना से भर गया था। क़ुरैश के प्रमुख लोगों की एक बैठक 'दार अल-नदवा' नामक स्थान पर हुई। इस बैठक में सर्वसम्मति से यह तय हुआ कि क़ाफिले में भाग लेने वाले लोग केवल अपनी असली पूंजी वापस लें, और जो लाभ हुआ है,

वह पूरा का पूरा मोहम्मद (सल्ल०) के ख़िलाफ़ युद्ध की तैयारी में लगा दिया जाए। यह लाभ पचास हज़ार दीनार था, जो उस समय के हिसाब से बहुत बड़ी राशि थी। अब क़ुरैश ने पूरी तैयारी के साथ शव्वाल 3 हिजरी में मक्का से निकलकर मदीना पर हमला करने के लिए कूच किया।

इसी युद्ध को 'उहद की लड़ाई' कहा जाता है। जब पैग़म्बर को इसकी सूचना मिली, तो आपने अपने साथियों को इकट्ठा करके सलाह-मशवरा किया। बड़े साथियों में से अधिकांश की राय थी कि मदीना में रहकर ही मुक़ाबला किया जाए। लेकिन नौजवान वर्ग इसके ज़ोरदार विरोध में था। उनका मानना था कि अगर हम यहीं ठहरेंगे, तो दुश्मन इसे हमारी कायरता और कमज़ोरी के रूप में देखेगा। इसलिए हमें बाहर निकलकर मुकाबला करना चाहिए। अब्दुल्लाह बिन उबैय की राय भी वही थी जो वरिष्ठ साथियों की थी (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 64)।

जो लोग यह कहते थे कि मदीना में रहकर ही युद्ध किया जाए, उनकी मुख्य वजह मदीना की भौगोलिक स्थिति थी, जो एक प्राकृतिक सुरक्षा कवच का काम करती थी। मदीना की स्थिति ऐसी थी कि इसके दक्षिण में खजूर के इतने घने बाग़ थे कि उस ओर से कोई भी सेना बस्ती पर हमला नहीं कर सकती थी। इसी तरह पूरब और पश्चिम की ओर बड़े-बड़े पहाड़ थे जो किसी भी सैन्य कार्रवाई के लिए प्राकृतिक बाधा बनते थे। इसलिए कोई भी दुश्मन सिर्फ एक ही दिशा से मदीना पर हमला कर सकता था। इस भौगोलिक स्थिति ने मदीना को युद्ध की दृष्टि से एक सुरक्षित शहर बना दिया था। मानो मदीना एक प्रकार का क़िला बन गया था। अगर शहर से बाहर जाया जाता, तो चारों ओर से दुश्मन के हमले की आशंका थी, जबकि मदीना के अंदर केवल एक ओर से सुरक्षा की योजना बनानी होती। 'खंदक की लड़ाई' (ग़ज़वा-ए-अहज़ाब) में मदीना की इसी भूगोलिक स्थिति का लाभ उठाया गया था, और उत्तर-पश्चिम दिशा में एक खाई खोदकर पूरे शहर को सुरक्षित कर लिया गया था।

हालांकि अधिकांश वरिष्ठ साथियों और अब्दुल्लाह बिन उबैय की राय यह थी कि मदीना में रहकर ही युद्ध किया जाए, लेकिन पैग़म्बर ने नौजवानों की भावना का सम्मान करते हुए एक हज़ार लोगों के साथ मदीना से निकलकर उहद की

ओर कूच किया। अब्दुल्लाह बिन उबैय को जब यह महसूस हुआ कि उसकी राय को महत्व नहीं दिया गया, जो कि हालात के अनुसार सही भी लगती थी, तो वह बेहद दुखी हुआ। वह मदीना से साथ तो चला, लेकिन अंदर ही अंदर नाराज़ था। जब इस्लामी सेना मदीना और उहुद के बीच थी, तभी अब्दुल्लाह बिन उबैय अपने 300 साथियों को लेकर मदीना लौट गया। अब्दुल्लाह बिन उबैय ने कहा:

> "उसने उनकी बात मानी और मेरी नहीं मानी। ऐ लोगो! हमें समझ नहीं आता कि हम यहाँ अपनी जानें क्यों दे रहे हैं।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 64)

उहुद की लड़ाई में हुई हार ने यह साबित कर दिया कि वे लोग सही थे जो मदीना में रहकर युद्ध करने की सलाह दे रहे थे और बाहर निकलने से रोक रहे थे। इसलिए बाद में 'खंदक़ की लड़ाई' (5 हिजरी) में इसी मशवरे को अपनाया गया और योजना बनाई गई कि मदीना में रहकर युद्ध किया जाए। हालांकि इस युद्ध में तमाम सहाबा अपने मतभेद भुलाकर पैग़म्बर के साथ डटकर खड़े रहे और भारी नुक़सान तथा पीड़ा के बावजूद पूरी बहादुरी के साथ मुक़ाबला किया। केवल अब्दुल्लाह बिन उबैय अलग हो गया और इसी कारण उसे 'मुनाफिक़ों के मुखिया' में गिना जाने लगा। अब्दुल्लाह बिन उबैय की राय सिद्धांततः सही थी। अनुभव ने भी उसकी सच्चाई को सिद्ध कर दिया। लेकिन सही राय के बावजूद आदेश का पालन न करना, उसके लिए गुमराही और अल्लाह की नाराज़गी का कारण बन गया।

इस्लाम में मशवरा की अत्यधिक महत्वता है। हर व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपनी राय रखे। लेकिन यदि हर राय देने वाला यह भी चाहता हो कि उसकी राय पर ही ज़रूर अमल हो, तो कोई काम आगे नहीं बढ़ सकता। क्योंकि कई विचारों में से केवल एक पर ही अमल किया जा सकता है, सभी पर नहीं। सच्चे मुसलमान वे हैं जो मशवरा देने के बाद अपनी राय को भूल जाते हैं और जो निर्णय ज़िम्मेदार लोग लें, उसे इस तरह मानते हैं जैसे वही उनकी अपनी राय हो।

"सबसे बड़ी कुर्बानी, अपनी राय की कुर्बानी है,"—किसी व्यक्ति का यह कथन बहुत अर्थपूर्ण है। वास्तव में, राय की कुर्बानी ही वह आधार है जिस पर कोई भी मज़बूत संगठन खड़ा होता है। कोई इमारत तभी बनती है जब कुछ ईंटें खुद ज़मीन में दबने के लिए तैयार हों। इसी तरह, कोई सच्ची एकता तभी बनती है जब कुछ लोग अपनी राय को अपने भीतर दबा लें और मतभेद के बावजूद एकजुटता से कार्य करें। इस तरह की कुर्बानी के बिना किसी संगठन का अस्तित्व में आना उतना ही असंभव है जितना कुछ ईंटों के नीव में दफ़न हुए बिना कोई इमारत खड़ी करना।

8. 6 हिजरी में पैग़म्बर मुहम्मद ने मदीना में सपना देखा कि आप अपने साथियों के साथ उमरा कर रहे हैं। जब आपने यह सपना साथियों को बताया तो वे बहुत खुश हुए कि छह साल बाद अब मक्का जाने और हरम की यात्रा करने का मौक़ा मिलेगा। इसी सपने के अनुसार पैग़म्बर मक्का के लिए रवाना हुए। चौदह सौ साथी भी आपके साथ हो गए। जब आप 'ग़दीर अश्तात' के पास पहुंचे तो पता चला कि क़ुरैश को आपके सफ़र की जानकारी मिल चुकी है और उन्होंने एक फौज तैयार कर ली है। उन्होंने तय किया कि वे आपको मक्का में प्रवेश नहीं करने देंगे।

काबा की ज़ियारत (दर्शन) से किसी को रोकना अरब की परंपराओं के ख़िलाफ़ था। और आप यह यात्रा अल्लाह के इशारे पर कर रहे थे। लेकिन इसके बावजूद आपने यह ख़बर सुनकर कोई गुस्सा नहीं किया। आपके एक जासूस ने बताया कि ख़ालिद बिन वलीद दो सौ सवारों को लेकर 'ग़मीम' तक पहुंच गया है ताकि वह रास्ता रोक सके। यह खबर मिलने पर आपने वह मुख्य रास्ता छोड़ दिया और एक कठिन और अनजान रास्ते से चलकर 'हुदैबिया' पहुंच गए ताकि ख़ालिद से टकराव न हो। इब्न हिशाम ने इस घटना को इस तरह लिखा है:

"पैग़म्बर ने पूछा, "कोई है जो हमें उनके रास्ते से अलग किसी और रास्ते से ले जाए?" एक व्यक्ति ने कहा, "मैं हूं, ऐ अल्लाह के रसूल।" वह उन्हें एक मुश्किल और पथरीले रास्ते से ले गया। जब लोग वह रास्ता पार कर समतल ज़मीन पर

पहुंचे, जो मुसलमानों के लिए बहुत कठिन था, तो पैग़म्बर ने कहा, "कहो, हम अल्लाह से माफ़ी मांगते हैं और उसकी ओर लौटते हैं।" सब ने ऐसा ही कहा। फिर आपने कहा, "अल्लाह की क़सम, यही 'हित्ता' है जो बनी इस्राईल को कहा गया था, लेकिन उन्होंने नहीं कहा।" (*सीरत इबन हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 309-10)

हित्ता का मतलब है तौबा और माफ़ी। इस कठिन समय में तौबा और माफ़ी मांगना यह दिखाता है कि इंसान को अल्लाह के बताए हुए सब्र वाले रास्ते पर इतना सच्चा होना चाहिए कि उस पर चलते समय जो भी कमज़ोरी या झुंझलाहट आए, उसे भी वह ग़लती समझे और उसके लिए माफ़ी मांगे। उसे अल्लाह के बताए रास्ते से संतुष्ट रहना चाहिए, न कि अपनी भावनाओं में बहकर कोई नया तरीक़ा अपनाने लगें।

हुदैबिया, मक्का से 9 मील दूर था। वहां आप ठहर गए ताकि हालात का अंदाज़ा लगाया जा सके। आपने 'ख़िराश बिन उमय्या ख़ुज़ाई' को एक ऊंट पर बिठाकर मक्का भेजा ताकि वह मक्का के लोगों को बता सकें कि हम सिर्फ काबा की यात्रा के लिए आए हैं, लड़ाई के लिए नहीं। जब वह मक्का पहुंचे तो मक्का के लोगों ने उनके ऊंट को मार डाला और उन्हें भी मारने दौड़े। लेकिन वह किसी तरह बचकर लौट आए। फिर आपने हज़रत उस्मान को यह संदेश देकर मक्का भेजा कि "हम विरोध नहीं चाहते, हम उमरा करके चुपचाप लौट जाएंगे।" मक्का के लोगों ने हज़रत उस्मान को भी रोक लिया। फिर 'मिकरज़ बिन हफ्स' पचास लोगों के साथ रात में हुदैबिया पहुंचा और मुसलमानों के पड़ाव पर तीर और पत्थर फेंकने लगा। मिकरज़ को पकड़ लिया गया लेकिन उसे बिना शर्त छोड़ दिया गया। इसी तरह 'तनईम' के स्थान की और से 80 लोग सुबह-सुबह नमाज़ के वक्त मुसलमानों पर हमला करने आए। उन्हें भी पकड़ लिया गया लेकिन उन्हें भी बिना शर्त छोड़ दिया गया।

इसके बाद क़ुरैश से लंबी बातचीत के बाद दोनों पक्षों के बीच समझौता हुआ। लेकिन यह समझौता देखने वालों को ऐसा लगा जैसे पूरी तरह से क़ुरैश की जीत और मुसलमानों की हार है। मुसलमान सोच रहे थे कि वे अल्लाह के आदेश के

अनुसार उमरा करने मक्का जा रहे हैं लेकिन इस समझौते में पैग़म्बर इस बात पर राज़ी हो गए कि वे बिना उमरा किए हुदैबिया से वापस लौट जाएंगे। अगले साल वे उमरा करेंगे लेकिन मक्का में सिर्फ तीन दिन रुकेंगे और फिर लौट जाएंगे। ऐसी अपमानजनक शर्तें मुसलमानों को नाराज़ करने के लिए काफी थीं, लेकिन आपने दिखती हुई हार के बावजूद सारी शर्तें मान लीं।

क़ुरैश ने इस मौके पर जो कुछ किया वह सब आपको गुस्सा दिलाने के लिए किया गया। उनका मक़सद था कि आप गुस्से में आकर कोई हमला करें ताकि उन्हें आपसे लड़ने का बहाना मिल जाए। काबा की यात्रा से रोकना वैसे भी अरब की परंपराओं के ख़िलाफ़ था। ऊपर से यह 'ज़ुल-क़ादा' का महीना था जो पवित्र माना जाता था और जिसमें युद्ध करना मना था। इसलिए मक्का के लोग चाहते थे कि मुसलमानों पर हमला करने की ज़िम्मेदारी डाल दी जाए ताकि वे लड़ सकें। मुसलमान उस समय संख्या में कम थे, उनके पास हथियार नहीं थे। वे मदीना से ढाई सौ मील दूर थे और मक्का की सरहद पर थे। क़ुरैश के लिए यह सुनहरा मौक़ा था कि वे पूरी ताक़त से हमला करें। इसलिए उन्होंने पूरी कोशिश की कि पैग़म्बर को गुस्से में ला सकें, लेकिन पैग़म्बर ने हर उकसावे को अनदेखा किया और किसी भी हालत में टकराव नहीं होने दिया।

मामला इतना नाज़ुक था कि हज़रत अबू बक्र को छोड़कर बाक़ी सभी साथियों को यह महसूस हो रहा था कि हम ज़ुल्म करने वालों के सामने झुक गए और अपमानजनक शर्तें मान लीं। जब इस समझौते पर कुरआन में यह आयत आई कि "यह एक खुली जीत है," तो पैग़म्बर (सल्ल०) के साथियों ने पूछा, "क्या यह जीत है?" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 3182)। एक मुसलमान ने कहा, "ये कैसी जीत है? हमें काबा जाने से रोक दिया गया। हमारे क़ुर्बानी वाले ऊंट नहीं जा सके। पैग़म्बर को हुदैबिया से लौटना पड़ा। हमारे सताए गए भाई (अबू जंदल और अबू बसीर) को ज़ुल्म करने वालों के हवाले कर दिया गया, आदि।" लेकिन इसी अपमानजनक समझौते के ज़रिए अल्लाह ने बड़ी जीत का रास्ता खोल दिया।

यह समझौता देखने में दुश्मन के सामने झुकने जैसा लग रहा था लेकिन असल में यह खुद को मज़बूत बनाने का मौक़ा था। पैग़म्बर ने क़ुरैश की सारी मांगें मान लीं लेकिन सिर्फ एक बात पर ज़ोर दिया — कि दस साल तक कोई लड़ाई नहीं होगी। अब तक हालात यह थे कि लगातार युद्ध की वजह से प्रचार और निर्माण का काम रुका हुआ था। लेकिन हुदैबिया से लौटने के बाद पैग़म्बर ने तुरंत पूरे अरब और आसपास के इलाकों में इस्लाम का संदेश पहुँचाने का काम तेज़ कर दिया। संधि की वजह से माहौल शांत था। शांत हालात में ये काम तेज़ी से होने लगा। हज़ारों लोग इस्लाम स्वीकार करने लगे। अरब के क़बीले एक-एक कर इस्लाम में शामिल होने लगे। अरब के बाहर के देशों में भी इस्लाम का संदेश भेजा गया। मक्का से निश्चिंत होकर पैग़म्बर ने खैबर के यहूदियों के ख़िलाफ़ कार्यवाही की और उन्हें वहां से भगा दिया। प्रचार के साथ-साथ आंतरिक मज़बूती और तैयारी का काम भी तेज़ी से होने लगा। इसका नतीजा यह हुआ कि सिर्फ दो साल के अंदर इस्लाम इतना ताक़तवर हो गया कि क़ुरैश ने बिना लड़े ही हार मान ली। जिस मक्का से मुसलमानों को अपमानित होकर लौटना पड़ा था, उसी मक्का में अब विजयी होकर प्रवेश करने का रास्ता खुल गया।

आज लोगों की हालत यह है कि जैसे ही दुश्मन की ओर से कोई नापसंद बात होती है, वे तुरंत गुस्से में आकर लड़ने लगते हैं। और जब उन्हें बताया जाता है कि यह लड़ाई बेफायदा है, तो वे कहते हैं, " हम खुद से नहीं लड़े, हमें साज़िश करके इसमें फंसाया गया।" वे नहीं जानते कि 'न लड़ने' का मतलब यह नहीं है कि जब तक कोई लड़ने न आए, तब तक आप न लड़ें। 'न लड़ने' का असली मतलब यह है कि लोग लड़ने आएं, फिर भी आप न लड़ें। लोग गुस्सा दिलाएं, लेकिन आप शांत रहें। लोग साज़िश करें, लेकिन आप अपनी समझदारी से उसे नाकाम कर दें। लोग दिल में दुश्मनी रखें, लेकिन आप उन्हें मौक़ा ही न दें कि वे उसे अंजाम तक पहुंचा सकें।

असल ज़िंदगी का राज़ दुश्मन से लड़ना नहीं है। ज़िंदगी का राज़ यह है कि आप बिना लड़े खुद को इतना ताक़तवर बना लें कि सामने वाला सिर्फ आपकी ताक़त देखकर ही हार मान ले। जो लोग सिर्फ गुस्से में आकर लड़ना जानते हैं और

चुपचाप तैयारी करना नहीं जानते, उनके लिए नतीजा सिर्फ बर्बादी होता है। वे अल्लाह की इस दुनिया में कभी कामयाब नहीं हो सकते। कितनी अजीब बात है कि जिस जीत को पैग़म्बर ने टकराव से बचकर हासिल किया, हम वही जीत टकराव करके पाना चाहते हैं। फिर भी हमें लगता है कि हम पैग़म्बर के सच्चे अनुयायी हैं और वे अल्लाह के सामने हमारी सिफारिश ज़रूर करेंगे।

9. मक्का की विजय के बाद अरब के क़बीले बड़ी संख्या में मुसलमान हो गए। लेकिन ये लोग ज़्यादातर इस्लाम की राजनीतिक ताक़त देखकर मुसलमान हुए थे। उनके अंदर वह मानसिक और वैचारिक बदलाव नहीं आया था जो शुरू में मुसलमान होने वालों में आया था। इस्लाम के कुछ नियम, ख़ास तौर पर ज़कात, उन्हें अपनी आज़ाद ज़िंदगी के लिए असहनीय लगने लगे। इसी वजह से, पैग़म्बर मुहम्मद के देहांत से कुछ महीने पहले यमन और नज्द के इलाकों में कुछ ऐसे नेता उभरे जिन्होंने इस्लाम की ऐसी तस्वीर पेश की जिसमें ज़कात को ख़त्म कर दिया गया था। इन नेताओं, जैसे असवद और मुसैलमा, ने अपनी बात को अल्लाह की बात साबित करने के लिए नबी होने का दावा कर दिया। ताकि जिस धार्मिक भाषा में ज़कात को अनिवार्य ठहराया गया है, उसी भाषा में उसकी अनिवार्यता को ख़त्म किया जा सके। इस तरह की "नबूवत" उन क़बीलों को बहुत पसंद आई जो ज़कात को अपने ऊपर बोझ मानते थे। नतीजा यह हुआ कि उन्होंने बड़ी संख्या में इन झूठे नबी होने का दावा करने वालों का साथ देना शुरू कर दिया। पैग़म्बर के देहांत के बाद इन लोगों का हौसला और बढ़ गया और यह गड़बड़ी तेज़ी से फैलने लगी। यहाँ तक कि मक्का, मदीना और ताइफ़ को छोड़कर पूरे अरब में ज़्यादातर लोग बाग़ी हो गए। साथ ही यह खबरें भी फैलने लगीं कि ये लोग संगठित होकर मदीना पर हमला करने की तैयारी कर रहे हैं।

पैग़म्बर (सल्ल०) ने अपने आख़िरी समय में जो काम किए थे, उनमें से एक यह था कि आपने उसामा बिन ज़ैद की अगुवाई में एक सेना तैयार की और उसे

आदेश दिया कि वह रोमियों से मुक़ाबले के लिए शाम (सीरिया) की ओर जाए, जहाँ पहले मूतः नाम की जगह पर रोमियों ने उसामा के पिता हज़रत ज़ैद को शहीद कर दिया था। यह सेना मदीना के बाहर पहुँची ही थी कि उसे पैग़म्बर के देहांत की ख़बर मिल गई और वह पहले ख़लीफ़ा के आदेश के इंतज़ार में वहीं रुक गई। पैग़म्बर के देहांत के बाद हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ ने इस सेना को आगे भेजना चाहा, तो ज़्यादातर साथियों ने इस पर असहमति जताई। उन्होंने कहा कि पूरा अरब बग़ावत कर रहा है और किसी भी समय मदीना पर हमला हो सकता है। ऐसी स्थिति में सेना को मदीना की रक्षा के लिए यहीं रुकना चाहिए, न कि इस नाज़ुक समय में दूर भेज दिया जाए। लेकिन हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ ने ऐसी किसी भी राय को मानने से सख़्ती से इनकार कर दिया।

सभी बड़े-बड़े सहाबा उसामा बिन ज़ैद की नेतृत्व में मदीना के बाहर एकत्र थे। उस समय लोगों में दो बातें चर्चा का विषय बनी हुई थीं। पहली यह कि ऐसे नाज़ुक समय में मुसलमानों का मदीना से दूर जाना समझदारी के खिलाफ़ है। दूसरी यह कि उसामा बिन ज़ैद एक ग़ुलाम के बेटे थे, इसलिए बहुत से लोगों को उनके नेतृत्व पर आपत्ति थी। साथ ही लोग यह भी कहते थे कि उसामा अभी सिर्फ सत्रह साल के युवा हैं और उनकी अगुवाई में कई वरिष्ठ साथी हैं। लोगों का मानना था कि किसी बुज़ुर्ग क़ुरैशी को सेनापति बना देना ज़्यादा ठीक होगा।

हज़रत उमर फ़ारूक़ भी शुरू में इस सेना में शामिल थे, वे लोगों का संदेश लेकर हज़रत अबू बक्र के पास पहुँचे। हज़रत अबू बक्र ने पहली बात सुनकर कहा: "अगर इस सेना के प्रस्थान के बाद मैं मदीना में अकेला रह जाऊँ और जंगली जानवर मुझे फाड़ खाएँ, तब भी मैं उस सेना को रोक नहीं सकता जिसे ख़ुद पैग़म्बर ने रवाना किया हो।" दूसरी बात सुनकर उन्होंने कहा: "क्या अब भी इनके दिलों में पुराने ज़माने के घमंड और अहंकार की भावना बाक़ी है?" यह कहकर वे उठे और सेना को ख़ुद विदा करने के लिए पैदल चलकर शिविर तक गए। उन्होंने उसामा बिन ज़ैद को उनकी सेना के साथ रवाना किया। जब उसामा अपनी सवारी पर चलने लगे तो अबू बक्र भी साथ-साथ चलते हुए बात करने लगे। उसामा ने

कहा: "या तो आप भी सवार हों, या मैं उतर जाता हूँ।" हज़रत अबू बक्र ने कहा: "न मैं सवारी करूंगा और न तुम्हें उतरने की ज़रूरत है।" (*अल-बिदायह व अल-निहायह*, खण्ड 6, पृष्ठ 336)

यह पहले खलीफ़ा की तरफ़ से लोगों के सवाल का एक व्यावहारिक जवाब था। जब लोगों ने खलीफ़ा को उसामा के साथ-साथ चलते देखा तो उनकी सारी आपत्तियाँ ख़त्म हो गईं। जब उसामा की अगुवाई में सहाबा (पैग़म्बर के साथियों) की सेना रोमियों के क्षेत्र की ओर रवाना हुई, तो इसकी खबरें चारों तरफ़ फैल गईं। बहुत से विरोधियों के लिए यह बात मुसलमानों के आत्मविश्वास का एक बड़ा संकेत बन गई। उन्होंने सोचा कि मदीना वालों के पास ज़रूर ताक़त है, तभी तो वे इस नाज़ुक समय में इतनी बड़ी सेना राजधानी से बाहर भेज रहे हैं। कई लोगों ने सोचा कि मदीना पर हमला करने में अभी रुकना चाहिए। पहले यह देखना चाहिए कि मुसलमानों और रोमियों की लड़ाई का क्या नतीजा निकलता है। अगर मुसलमान इस लड़ाई में हारते हैं, तो वे और कमज़ोर हो जाएंगे और फिर उन पर हमला करना ज़्यादा आसान होगा।

उसामा बिन ज़ैद की सेना को रोमियों के ख़िलाफ़ अभियान में ज़बरदस्त सफलता मिली। इस काम में उन्हें चालीस दिन लगे। उसामा बिन ज़ैद इस अभियान की अगुवाई के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति थे, क्योंकि उनके पिता ज़ैद बिन हारिसा को रोमियों ने मूता की जंग में शहीद कर दिया था, और पैग़म्बर का उद्देश्य अच्छी तरह पूरा नहीं हुआ था— यानी दुश्मनों का मनोबल तोड़ना।

उसामा की अगुवाई में इस्लामी सेना बहुत बहादुरी से लड़ी और रोमियों को बुरी तरह हरा दिया। यह देखकर बाग़ियों का हौसला टूट गया और उन्हें ज़्यादा आसानी से काबू में कर लिया गया— पैग़म्बर की राह पर चलना उनके लिए दुश्मनों पर जीत का रास्ता बन गया।

10. बैहक़ी और इब्न असाकिर ने हज़रत उरवा इब्न जुबैर से यह बात बयान की है कि पैग़म्बर मुहम्मद ने "ज़ात-उस-सलासिल" (बेड़ियों वाली) जंग के लिए

एक दल हज़रत अम्र इब्न अल-आस की अगुवाई में रवाना किया। यह जगह सीरिया के आसपास के इलाके में थी। जब हज़रत अम्र इब्न अल-आस वहाँ पहुँचे और हालात का जायज़ा लिया तो दुश्मन की बड़ी संख्या देखकर उन्हें इसका एहसास हुआ। उन्होंने पैग़म्बर के पास संदेश भेजकर और सहायता की माँग की। आप ने मुहाजिर (मक्के से हिजरत कर के आए) मुसलमानों को बुलाया और दो सौ लोगों का एक और दल तैयार किया। इस दल में हज़रत अबू बक्र और हज़रत उमर भी शामिल थे। आपने हज़रत अबू उबैदा बिन अल-जर्राह को इस दल का प्रमुख बनाया और आदेश दिया कि वे तुरंत रवाना हों और जाकर हज़रत अम्र इब्न अल-आस से मिलें।

जब हज़रत अबू उबैदा बिन अल-जर्राह का दल वहाँ पहुँचा और दोनों दल एक साथ हो गए तो यह सवाल उठा कि दोनों में से प्रमुख कौन होगा। हज़रत अम्र इब्न अल-आस ने कहा: "मैं तुम सबका प्रमुख हूँ। मैंने पैग़म्बर से मदद की दरख़्वास्त की थी और तुम लोग उसी के तहत मेरी मदद के लिए भेजे गए हो।" लेकिन हज़रत अबू उबैदा के साथ जो मुहाजिर साथी आए थे, उन्होंने यह बात नहीं मानी। उन्होंने हज़रत अम्र इब्न अल-आस से कहा: "तुम अपने साथ आए लोगों के प्रमुख हो और अबू उबैदा हमारे प्रमुख हैं।" हज़रत अम्र इब्न अल-आस इस बँटवारे को मानने को तैयार नहीं हुए। उन्होंने ज़ोर देकर कहा: "तुम लोगों की हैसियत एक सहायक दल की है, जिसे मेरी मदद के लिए भेजा गया है।" जब हज़रत अबू उबैदा बिन अल-जर्राह ने यह स्थिति देखी तो उन्होंने कहा:

> "ऐ अम्र! तुम जान लो कि जब पैग़म्बर ने मुझे भेजा था, तो उन्होंने आखिरी बात यही कही थी कि जब अपने साथी के पास पहुँचो तो आपसी सहमति और एकता से काम करना, आपस में मतभेद न करना। तो खुदा की कसम, अगर तुम मेरी बात न भी मानो, तब भी मैं तुम्हारी बात मानूँगा।"

रावी (वर्णन करने वाले) कहते हैं कि इसके बाद हज़रत अबू उबैदा ने नेतृत्व हज़रत अम्र इब्न अल-आस को सौंप दिया और उनके मातहत काम करने पर राज़ी हो गए। (*दलाईल अल-नुबूवत*, अल-बैहक़ी, खण्ड 4, पृष्ठ 399)

अगर दोनों ही अपनी-अपनी बात पर अड़े रहते, तो यह मामला हल न होता, और जो शक्ति दुश्मन से मुकाबले के लिए भेजी गई थी, वह आपस की लड़ाई में नष्ट हो जाती। ऐसे मतभेद वाले मौके पर अगर एक व्यक्ति झुक जाता है, तो पूरा दल शक्तिशाली बन जाता है। लेकिन अगर एक व्यक्ति नहीं झुकता, तो पूरा दल कमज़ोर हो जाता है।

11. पैग़म्बर मुहम्मद की संतान में आख़िरी बेटे इब्राहीम थे। वे मारिया किब्तिया की कोख से 9 हिजरी में जन्मे, और लगभग 18 महीने की उम्र में उनकी मृत्यु हो गई। जिस दिन उनकी मृत्यु हुई, उसी दिन सूर्यग्रहण भी हुआ। मिस्र के मशहूर माहिरे फलकियात (खगोलशास्त्री) महमूद पाशा (देहांत 1885) की रिसर्च के मुताबिक़ यह घटना 29 शव्वाल 10 हिजरी को हुई थी। पुराने ज़माने में ग्रहण को लेकर तरह-तरह की ग़लत धारणाएं फैली हुई थीं। इन्हीं में से एक यह थी कि जब कोई बड़ा आदमी मरता है, तब सूरज या चांद को ग्रहण लगता है। जब इब्राहीम की मौत के दिन सूर्यग्रहण हुआ, तो लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि यह ग्रहण पैग़म्बर के बेटे की मौत की वजह से लगा है। पैग़म्बर को जब यह बात मालूम हुई, तो उन्होंने बताया कि मौत से इसका कोई रिश्ता नहीं है। अबू मूसा अशअरी की रिवायत के मुताबिक़, आपने कहा:

> "ये निशानियाँ जो ख़ुदा भेजता है, वो न किसी के मरने की वजह से होती हैं और न किसी के जीने की वजह से। बल्कि इसके ज़रिये अल्लाह अपने बंदों को डराता है। जब तुम ऐसी कोई चीज़ देखो, तो डर के साथ अल्लाह को याद करो, उससे दुआ माँगो और माफ़ी तलब करो।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 1059)

सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण किसी इत्तेफाक़ से नहीं होते, बल्कि निश्चित खगोलीय नियमों के तहत होते हैं। सूरज और चाँद दोनों बहुत सटीक प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलते हैं। जब चंद्रमा, पृथ्वी और सूरज के बीच आ जाता है, तो सूरज की रोशनी पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाती और सूर्यग्रहण होता है। और जब पृथ्वी, सूरज

और चाँद के बीच आ जाती है, तो चाँद की तरफ़ सूरज की रोशनी नहीं पहुँचती और चंद्रग्रहण होता है। यानी, सूर्यग्रहण का मतलब होता है कि चाँद, सूरज के सामने आ जाए, और चंद्रग्रहण का मतलब कि पृथ्वी, सूरज और चाँद के बीच आ जाए। ये सब पहले से तय ग्रहों की व्यवस्था के अनुसार होता है। उदाहरण के लिए, 16 फरवरी 1980 को जो सूर्यग्रहण पड़ा, वह पहले से ही खगोल-शास्त्रियों को मालूम था और उसका सटीक समय भी बहुत सही तरीक़े से पहले से पता किया जा चूका था। तय समय के मुताबिक़ ही वह शुरू और खत्म हुआ। ऐसे ग्रहण समय-समय पर आते रहते हैं, बस उन्हें देखने की जगहें अलग-अलग होती हैं। कहीं पूरा ग्रहण दिखता है और कहीं आंशिक। पूरे सूर्यग्रहण के समय सूरज की रोशनी लगभग हज़ार गुना कम हो जाती है।

इस्लामी परंपरा यह है कि सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण के समय विशेष नमाज़ (*सलात-उल-कुसूफ़* और *सलात-उल-खुसूफ़*) अदा की जाती है। यह नमाज़ अल्लाह के सामने अपनी कमज़ोरी और मजबूरी का इज़हार होती है। सूरज अल्लाह की एक बहुत बड़ी नेमत (कृपा) है। इसके ज़रिये अल्लाह ने हमारे लिए रोशनी और गर्मी का पक्का इंतज़ाम किया है। सूरज का ग्रहण यह बताने के लिए होता है कि जिसने इसे रोशन किया है, वह इसे मद्धम भी कर सकता है। अल्लाह हर चीज़ पर सामर्थ्य रखने वाला है। वह जब चाहे किसी नेमत को वापस ले सकता है। इसलिए जब भी ग्रहण हो तो इंसान को अल्लाह को याद करना चाहिए, और यह महसूस करना चाहिए कि वह खुदा के सामने कितना बेबस है। उसे कहना चाहिए: "ऐ खुदा, अगर तू सूरज को बुझा दे, तो कोई उसे रोशन नहीं कर सकता। अगर तू हमसे रोशनी और गर्मी छीन ले, तो कोई दूसरा उसे हमें दे नहीं सकता।"

"ग्रहण" का यह मामला सिर्फ़ सूरज और चाँद तक सीमित नहीं है। इस तरह के हालात अल्लाह की दूसरी नेमतों के साथ भी अलग-अलग रूपों में पेश आते हैं, जैसे सेहत के साथ बीमारी आ जाना। ये जैसे शरीर का ग्रहण है। अच्छे मौसम के बाद बुरा मौसम आना, ये जैसे फ़ज़ा (वातावरण) का ग्रहण है। यानी अल्लाह

इंसान को दी गई किसी नेमत को कुछ समय के लिए रोककर यह एहसास दिलाता है कि वह कितनी बड़ी नेमत थी। इसका मक़सद यह है कि इंसान के अंदर शुक्र (कृतज्ञता) का भाव पैदा हो और वह यह सोचे कि अगर अल्लाह इस नेमत को हमेशा के लिए छीन ले, तो उसका क्या हाल होगा। अल्लाह को अपने बंदों से जो सबसे अहम चीज़ चाहिए, वो है उसका डर। और इंसान को डरने वाला बनाने के लिए जो तरीक़े अपनाए गए हैं, उनमें से एक तरीक़ा है "ग्रहण"।

पृथ्वी हमेशा हरकत में रहती है और इसका अंदरूनी हिस्सा बहुत गर्म और पिघले हुए पदार्थ से भरा होता है, जो हमेशा उबाल की हालत में रहता है। फिर भी हमारे क़दमों के नीचे ज़मीन की सतह बिल्कुल स्थिर बनी हुई है। यह हमारे लिए एक बहुत बड़ी नेमत है। लेकिन आम हालात में हमें इसका अहसास नहीं होता। इसलिए कभी-कभी ज़मीन को भूकंप के ज़रिये हिला दिया जाता है ताकि इंसान यह समझे कि खुदा ने किस तरह एक विनाशकारी चीज़ को रोके रखा है। अगर वह उसे छोड़ दे, तो इंसान का क्या हाल हो। इसी तरह बारिश भी अल्लाह की एक अजीब और रहमत भरी नेमत है। सूरज की गर्मी से पानी के भाप का उठना, उसका बादलों की शक्ल में जमा होना, फिर हवा के ज़रिये ज़मीन पर रहमत बनकर बरसना और फिर ज़मीन को हरा-भरा कर देना — यह सब अल्लाह की करामात (चमत्कार) हैं जो वह लगातार करता है। लेकिन जब यह नियमित रूप से मिलने लगती है तो इंसान उसकी अहमियत भूल जाता है। इसलिए कभी-कभी सूखे की स्थिति पैदा की जाती है ताकि इंसान जाग जाए और अल्लाह की नेमत की क़दर करे। हवा भी अल्लाह की एक बड़ी नेमत है। हवा हर पल हमें ताज़ा ऑक्सीजन देती है। ठंडी हवा के झोंके खुदा के पंखे की तरह हमें सुकून देते हैं। हवा बारिश के सिस्टम को भी संतुलित करती है। हवा के अनगिनत फायदे हैं। लेकिन जिस तरह वह हमें दिखाई नहीं देती, उसी तरह उसकी अहमियत भी हमारे ज़ेहन से छिपी रह जाती है। इसलिए कभी-कभी हवा को तूफ़ान बना दिया जाता है ताकि इंसान यह समझे कि अल्लाह ने उसकी ज़िंदगी के लिए क्या अद्भुत इंतज़ाम कर रखा है। इसी तरह हर चीज़ का एक "ग्रहण" होता है — और यह इसलिए होता है कि इंसान के अंदर नेमत का अहसास फिर से ज़िंदा हो जाए।

क़ुरान में कहा गया है:

> "क्या तुमने ध्यान दिया उस चीज़ पर जो तुम बोते हो। क्या तुम उसे उगाते हो या हम हैं उगाने वाले। अगर हम चाहें तो उसे चूर-चूर कर दें, फिर तुम बातें बनाते रह जाओ। हम तो तावान (दंड) में पड़ गए। बल्कि हम बिल्कुल वंचित (कंगाल) हो गए। क्या तुमने ध्यान दिया उस पानी पर जो तुम पीते हो। क्या तुमने उसे बादल से उतारा है। या हम हैं उतारने वाले। अगर हम चाहें तो उसे बहुत नमकीन बना दें। फिर तुम शुक्र क्यों नहीं करते। क्या तुमने ध्यान दिया उस आग पर जिसे तुम जलाते हो। क्या तुमने पैदा किया है उसके वृक्ष को या हम हैं उसके पैदा करने वाले। हमने उसे याददिहानी बनाया है। और मुसाफ़िरों के लिए फ़ायदे की चीज़। अतः तुम अपने महान रब के नाम की स्तुति करो।" (क़ुरान, 56:63–74)

हमारी पूरी ज़िंदगी ऐसी खुदाई नेमतों पर टिकी हुई है जो कभी भी वापस ली जा सकती हैं। इसलिए इंसान को चाहिए कि वह अपने रचयिता और मालिक का शुक्रगुज़ार बने — ताकि वह कभी उसे अपनी नेमतों से महरूम न करे। यही शुक्रगुज़ारी इंसान को खुदा की नेमतों का हक़दार बनाती है — इस दुनिया में भी और मरने के बाद की दुनिया में भी।

12. इमाम अहमद और तबरानी ने हज़रत आयशा की एक रिवायत को अलग-अलग शब्दों में बयान किया है। बाद के समय में हज़रत आयशा ने एक व्यक्ति को वे परिस्थितियाँ बताईं जो हिजरत के बाद पैग़म्बर मोहम्मद और उनके परिवार पर गुज़री थीं। उन्होंने एक रात का ज़िक्र किया, जब उन्होंने अंधेरे में टटोल-टटोल कर काम किया था। इसके बाद रिवायत के शब्द इस प्रकार हैं:

> "ऐ ईमान वालों की माँ, क्या वह काम चिराग़ की रोशनी में हुआ?" उन्होंने कहा, "अगर हमारे पास चिराग़ का तेल होता, तो

हम उसे पी जाते।" (*अल-मुअजम अल-अवसत,* अल-तबरानी, हदीस संख्या 8872)

हिजरत के बाद जिस बस्ती को "मदीना-ए-रसूल (पैग़म्बर का शहर)" और "मदीना तैयबा (पवित्र शहर)" कहा जाने लगा, वहां उस समय एक भी पक्का मकान नहीं था। मस्जिद-ए-नबवी सिर्फ एक बड़ा सा झोपड़ा थी, जिसे चारों ओर से मिट्टी और खजूर की पत्तियों से ढक दिया गया था। मस्जिद में रात के समय रोशनी का कोई प्रबंध नहीं था। मस्जिद-ए-नबवी में हिजरत के नौवें वर्ष पहली बार चिराग़ जलाया गया। पहले व्यक्ति जिन्होंने मदीना की मस्जिद-ए-नबवी में रात को चिराग़ जलाया, वह थे तमीम दारी। (*मारिफ़तुस्सहाबा*, अबू नुऐम अल-इसबहानी, खण्ड 1, पृष्ठ 448) तमीम दारी ने 9 हिजरी में इस्लाम अपनाया। उस समय मक्का फतह हो चुका था और लगभग पूरा अरब इस्लाम में शामिल हो चुका था।

जब मुसलमानों के पास अपने घरों को रोशन करने के लिए चिराग़ नहीं थे और मस्जिद में रात के समय अंधेरा रहता था, तब इस्लाम और मुसलमानों को दुनिया में सम्मान और प्रभाव प्राप्त था। आज मुसलमानों के घर जगमगा रहे हैं। उनकी मस्जिदें आधुनिक किस्म की लाइटों से चमक रही हैं, लेकिन आज मुसलमानों को कहीं भी सम्मान प्राप्त नहीं है।

इसका कारण यह है कि सम्मान और प्रभाव पाने के लिए असली अहमियत "इंसान" की होती है। आज मुसलमानों के पास सब कुछ है, लेकिन वही चीज़ नहीं है जिसे "इंसान" कहा जाता है। मुस्लिम दुनिया आज मरी हुई आत्माओं का एक विशाल कब्रिस्तान लगती है, जहाँ रोशनी की चकाचौंध और इमारतों की भव्यता तो है, पर ऐसे लोग नहीं हैं जो अल्लाह के लिए तड़पें, जो सत्य के सामने झुक जाएं, जो परलोक की खातिर अपनी सांसारिक इच्छाओं का त्याग कर सकें, जो अपनी इच्छाओं को उच्च सिद्धांतों के अधीन कर सकें। इस्लाम को सम्मानित करने के लिए ऐसे मनुष्यों की ज़रूरत है जिन्हें अल्लाह की महानता का बोध नम्र

बना दे, परलोक का डर जिनके घमंड को समाप्त कर दे। और आज वही लोग इस्लाम के भव्य मंच में कहीं दिखाई नहीं देते।

13. प्राचीन अरब के उत्तर और दक्षिण के उपजाऊ भाग उस समय की दो बड़े साम्राज्य—सासानी राज्य और बाइजेंटाइन (रोमी) राज्य—के क़ब्ज़े में थे। उत्तर में ग़स्सान और बुसरा की रियासतें थीं। ये दोनों बाइजेंटाइन साम्राज्य यानी रोमियों के अधीन थीं, और यहां उनकी तरफ़ से अरब नेता शासन करते थे। रोमी असर के कारण यहां की ज़्यादातर आबादी ईसाई धर्म अपना चुकी थी। अरब के दक्षिण में बहरीन, ओमान और यमामा की रियासतें थीं। ये राज्य सासानी (ईरानी) साम्राज्य के अधीन थे और उनके असर से यहां के लोगों में पारसी धर्म फैल चुका था।

6 हिजरी में जब हुदैबिया के स्थान पर क़ुरैश से दस साल का अयुद्ध-संधि (no-war pact) हुई और हालात शांतिपूर्ण हो गए, तो पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने अरब के आसपास के राज्यों को इस्लाम का संदेश भेजना शुरू किया। इसी कड़ी में एक संदेश हारिस बिन अबी शमर ग़स्सानी के नाम था। अल्लाह के रसूल के प्रतिनिधि शुजाअ बिन वहब यह संदेश लेकर उसके पास गए। उस पत्र में यह भी लिखा था कि ''अल्लाह पर विश्वास करो, तुम्हारी हुकूमत बनी रहेगी''। जब उसने यह वाक्य पढ़ा तो उसे गुस्सा आ गया। उसने पत्र ज़मीन पर फेंक दिया और कहा: ''मेरी हुकूमत मुझसे कौन छीन सकता है'' (*तारीख़ अल-तबरी*, खण्ड 2, पृष्ठ 652)

बुसरा का शासक शर्जील बिन अम्र ग़स्सानी ने इससे भी ज़्यादा बुरा व्यवहार किया। इस रोमी गवर्नर के पास अल्लाह के रसूल के प्रतिनिधि हारिस बिन उमैर अज़दी आपका पत्र लेकर गए थे। जब वे शाम की सरहद पर मूता नाम के गांव में दाखिल हुए, तो बुसरा के शासक के इशारे पर एक देहाती ने आपके प्रतिनिधि की हत्या कर दी (*अल-तबक़ात अल-कुबरा*, इब्ने सअद, खण्ड 4, पृष्ठ 255)।

अंतरराष्ट्रीय परंपराओं के मुताबिक़ यह घटना एक देश द्वारा दूसरे देश पर हमला करने के बराबर मानी जाती थी। अलग-अलग संकेत यह भी बता रहे थे कि शाम की फौजें आगे बढ़कर मदीना में दाख़िल होना चाहती थीं। रोमी बादशाही यह बर्दाश्त नहीं कर सकती थी कि अरब में कोई स्वतंत्र सरकार बने और तरक्की करे।

जब हारिस बिन उमैर की हत्या की ख़बर मदीना पहुंची तो पैग़म्बर (सल्ल०) ने इसका सैनिक जवाब देना ज़रूरी समझा। आपने आदेश दिया कि मुसलमान अपने-अपने हथियार लेकर 'हरक' नाम की जगह पर जमा हो जाएं। नतीजतन तीन हज़ार लोगों की इस्लामी सेना तैयार हो गई। आपने इस सेना का नेता ज़ैद बिन हारिसा को बनाया और ज़रूरी सलाह देकर उन्हें शाम की ओर रवाना किया।

इस्लामी सेना ने 'मआन' (शाम) पहुंचकर डेरा डाला। दूसरी ओर, बुसरा का शासक भी युद्ध के लिए तैयार हो गया। उसे इस बात से भी हिम्मत मिली कि संयोग से उस समय रोमी सम्राट 'हिरक्ल' बल्क़ा के इलाके 'मआब' में आया हुआ था। उसके साथ एक लाख सशस्त्र सैनिक थे। साथ ही इस क्षेत्र के ईसाई क़बीले—लख़्म, जुज़ाम, क़ैन, बहराअ और बली—भी ईसाई भावना के जोश में खड़े हो गए और बनी बली के प्रमुख मालिक बिन ज़ाफ़िला की अगुवाई में लड़ने के लिए तैयार हो गए। इस तरह शाम के मोर्चे पर एक लाख से ज़्यादा की सेना इकट्ठा हो गई, जबकि मुसलमानों की संख्या सिर्फ़ तीन हज़ार थी।

यह लड़ाई जमादी अल-ऊला 8 हिजरी में हुई। इसमें ज़ैद बिन हारिसा दुश्मनों के हाथों शहीद हो गए। उसके बाद जाफ़र बिन अबी तालिब और अब्दुल्लाह बिन रवाहा भी सेना की अगुवाई करते हुए शहीद हो गए। मुसलमानों का झंडा गिरने से सेना में बिखराव की स्थिति पैदा हो गई। उस समय इस्लामी फौज के एक सिपाही साबित बिन अक़रम ने आगे बढ़कर झंडा उठा लिया और ज़ोर से कहा: ''मुसलमानो! किसी एक व्यक्ति को अपना नेता चुन लो'' मुस्लिम सैनिकों ने आवाज़ लगाई: ''हम तुम्हारी क़यादत पर राज़ी हैं''। लेकिन साबित बिन अक़रम ने जवाब दिया: "मैं यह काम नहीं कर सकता," तो मुसलमानों ने खालिद बिन वलीद को अपना नेता बना लिया। खालिद बिन वलीद आगे बढ़े, झंडा अपने हाथ में लिया और रोमी सेना पर हमला करके उन्हें पीछे धकेल दिया।" (देखें: *तारीख अल-तबरी*, खण्ड 3, पृष्ठ 36–42; *अल-कामिल फी अल-तारीख़*, इबन अल-असीर, खण्ड 2, पृष्ठ 234–238)

लेकिन यह युद्ध पूरी तरह से खत्म नहीं हुआ था। हमेशा यह डर बना हुआ था कि रोमी मदद से ग़स्सानी मदीना पर हमला कर सकते हैं और इस नई बनी इस्लामी

सरकार को खत्म कर सकते हैं। ज़िलहिज्जा 5 हिजरी में बनू कुरैज़ा का संकट समाप्त करने के बाद जब मदीना में कुछ आर्थिक समस्याएं आईं और पैग़म्बर की पत्नियों ने खर्च बढ़ाने की मांग की, तो आप को बहुत दुख हुआ और आपने एक महीने तक घर में न जाने की क़सम खा ली। इतिहास में आता है कि जब पैग़म्बर के एक साथी हज़रत उमर से मिले और कहा, ''कुछ सुना आपने?'' तो हज़रत उमर के मुँह से तुरंत निकला: ''क्या ग़स्सानी आ गए?'' इससे अंदाज़ा होता है कि उस समय ग़स्सानी राज्य की तरफ़ से मदीना को कितना बड़ा ख़तरा महसूस किया जा रहा था।

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) को इस समस्या का गहरा आभास था। इसलिए अपने जीवन के अंतिम दिनों में जिन कार्यों के लिए आपने विशेष रूप से तैयारी की, उनमें ग़स्सानियों या सीधे शब्दों में कहें तो रोमियों से मुकाबले के लिए सेना तैयार करना भी शामिल था। आपने इस उद्देश्य के लिए एक सैन्य दल संगठित किया। इस दल में यद्यपि अबू बक्र और उमर जैसे वरिष्ठ सहाबी (साथी) भी थे, किंतु आपने अत्यधिक सूझ-बूझ का परिचय देते हुए इस सेना का नेतृत्व उसामा बिन ज़ैद को सौंपा। उसामा एक साहसी युवक थे। वे उस कार्य को पूरा कर सकते थे जो उनके पिता के समय मूता की लड़ाई में अधूरा रह गया था। मूता की लड़ाई में मुसलमानों ने उसामा के पिता ज़ैद बिन हारिसा के नेतृत्व में रोमियों का सामना किया था, और ज़ैद इस युद्ध में शहीद हो गए थे। जब मुसलमानों को यह समझ में आया कि युद्ध को आगे जारी रखना उनके हित में नहीं है, तो हज़रत ख़ालिद बीच में ही वापस मदीना लौट आए।

हालांकि, पैग़म्बर (सल्ल०) के जीवनकाल में उसामा की यह सेना रवाना नहीं हो सकी, क्योंकि इसी समय आपको बीमारी ने पूरी तरह जकड़ लिया था। आपके देहांत के बाद अबू बक्र (रज़ि०) ने पहले खलीफ़ा के रूप में इस सेना को शाम की ओर रवाना किया।

यह प्रस्थान भी इस्लामी इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना थी। पैग़म्बर (सल्ल०) के देहांत के बाद चारों ओर से इर्तिदाद (इस्लाम के कुछ बुनयादी

आधारों को मानने से इंकार) की खबरें आने लगीं। लोगों ने पहले खलीफ़ा को सलाह दी कि अब जबकि मुसलमानों की राजधानी संकट में है और मदीना पर हमले की तैयारियाँ हो रही हैं, इस सेना को रवाना करने की योजना को स्थगित कर दिया जाए। लेकिन अबू बक्र (रज़ि०) का यह उत्तर लोगों को शांत करने के लिए पर्याप्त था: ''अगर मुझे यह विश्वास हो कि सेना के रवाना होने के बाद कोई दरिंदा मुझे मदीना में अकेला पाकर मार डालेगा, तब भी मैं उस सेना को नहीं रोकूंगा जिसे स्वयं पैग़म्बर ने संगठित किया है।"

"ख़ुदा की कसम! मैं उस गाँठ को कभी नहीं खोलूँगा जो रसूल अल्लाह (सल्ल०) ने बाँधी थी, चाहे परिंदे हमें नोच-नोच कर खा जाएँ, और शहर मदीना के चारों ओर दरिंदे घूम रहे हों, और अगर कुत्ते उम्महातुल मोमिनीन (ईमान वालों की माताओं – नबी (सल्ल०) की बीवियाँ) को पैरों से घसीटें, तब भी मैं उसामा की फौज को ज़रूर रवाना करूँगा।" (*अल-बिदाया वा अन-निहाया*, खण्ड 6, पृष्ठ 304)

हज़रत अबू बक्र (रज़ि०) का यह ईमान से भरा साहस काम आया। उसामा की सेना न केवल रोमियों से संघर्ष में सफल रही, बल्कि रोम साम्राज्य के विरुद्ध मुसलमानों की विजय ने धर्म-त्याग करने वालों का मनोबल भी तोड़ दिया, और उन्हें ज़्यादा आसानी से पराजित किया जा सका।

यह घटना अपने भीतर एक गहरी दूरदर्शिता भी समेटे हुए थी। अरब क़बीले लंबे समय से आपसी संघर्षों में उलझे रहते थे। ऐसी स्थिति में यह संभावना बनी रहती थी कि यदि अपनी ऊर्जा और सामर्थ्य को दिशा देने के लिए कोई बाहरी अवसर न मिला, तो वे फिर से परस्पर टकराव में पड़ सकते थे। परिस्थितियों ने पैग़म्बर के जीवन के अंतिम समय में अरब शक्ति को रोम साम्राज्य की ओर केंद्रित करके इस चुनौती का समाधान प्रस्तुत किया। इससे अरबों की साहसी और योद्धा प्रवृत्ति को एक रचनात्मक दिशा और नया मंच मिल गया।

इसके परिणामस्वरूप इतिहास ने यह परिवर्तन देखा कि जो लोग पहले आपसी संघर्षों तक सीमित थे, वे एक सदी से भी कम समय में विशाल क्षेत्र तक अपना प्रभाव स्थापित करने में सफल हो गए।

ब्रिटिश लेखक सर जॉन बैगट ग्लब (1897–1986) ने अपनी पुस्तक *The Life and Times of Muhammad* में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है:

> "अरब क़बीले प्राचीन काल से ही आपसी युद्धों और झगड़ों में जीवन व्यतीत करते थे। ये झगड़े किसी विशेष कारण से नहीं होते थे, बल्कि उनके जीवन का स्वाभाविक हिस्सा बन चुके थे। अब जब वे इस्लाम स्वीकार कर चुके थे और आपस में टकराव से रोके जा चुके थे, तो फ़ितरी तौर पर यह आवश्यक था कि उनकी सैन्य प्रवृत्ति को किसी रचनात्मक दिशा में प्रयुक्त किया जाए। इस्लाम के पैग़म्बर ने स्वयं उस अभियान को पुनः आरंभ करके, जो पहले मूता में विफल हुआ था, इस प्रश्न का व्यावहारिक उत्तर दे दिया।"

इसके बाद घटनाक्रम तेज़ी से आगे बढ़ा। 634 ईस्वी की सर्दियों में अरब सेनाएँ फिलिस्तीन और सीरिया की ओर बढ़ीं। उसी समय, पूर्वी अरब के कुछ क़बीलों ने, जो हीरा की लख़मी रियासत पर क़ब्ज़े के बाद से ईरान के विरोधी बन गए थे, फ़ुरात की दिशा में प्रस्थान किया और हीरा पर नियंत्रण स्थापित कर लिया। 26 अगस्त 636 को यरमूक के मैदान में बाइज़ेंटाइन सेनाएँ पराजित हुईं और सीरिया का पूरा इलाक़ा तबरिया तक अरबों के नियंत्रण में आ गया। फरवरी 637 में क़ादिसिया में ईरानी सेना पर निर्णायक जीत के बाद प्राचीन इराक़, जिसमें राजधानी मदायन भी शामिल थी, अरबों के अधीन आ गया। 640 में मिस्र पर अभियान के दौरान बाइज़ेंटाइन सत्ता को पुनः हार का सामना करना पड़ा और सितंबर 642 तक पूरा मिस्र अरब शासन के अधीन आ गया। उसी वर्ष नहावंद में ईरान की शेष सेना भी परास्त हुई और ईरानी साम्राज्य का अंत हो गया।

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) और उनके बाद पहले ख़लीफ़ा अबू बक्र (रज़ि०) ने बेहद संवेदनशील परिस्थितियों के बावजूद हज़रत उसामा की सेना को रोमियों की ओर भेजा। यह मुसलमानों की आने वाली नस्लों के लिए एक महान सबक़ था: मुसलमानों के लिए शक्ति का प्रयोग बाहरी दुनिया में करना चाहिए, न कि अपने ही समाज में। लेकिन यह अजीब बात है कि बाद के दौर में मुसलमान इस

सबसे महत्वपूर्ण सबक़ को भूल गए। विशेष रूप से वर्तमान समय में तो स्थिति यह है कि मुस्लिम देश आपस में दो गुटों (तरक्क़ी-पसंद और परंपरावादी) में बंटे हुए हैं और एक-दूसरे के विरोधी बन गए हैं। उनकी सशस्त्र सेनाएं अपने ही देशों को "विजय" करने में लगी हुई हैं, मुस्लिम संगठन अपने ही देशों की सरकारों से टकराव में हैं। बाहरी दुश्मनों से मुक़ाबले के लिए हर कोई कमजोर है, और अपने भाइयों से लड़ने के लिए हर कोई तैयार खड़ा है। ऐसी स्थिति में अगर इस्लाम का संदेश पहुँचाने का काम ठहर जाए, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

14. प्रसिद्ध ऐतिहासिक विवरणों के अनुसार, काबा का कुल चार बार पुनर्निर्माण हुआ है। पहली बार, जब हज़रत इब्राहीम ने अपने पुत्र इस्माईल की सहायता से इसे बनाया। दूसरी बार इस्लाम से पहले क़ुरैश ने इसका पुनर्निर्माण किया, जब अधिक वर्षा के कारण वह ढह गया था। इस दूसरी मरम्मत में पैग़म्बर मुहम्मद (उनकी पैग़म्बरी से पूर्व) भी शामिल हुए थे। क़ुरैश ने इसकी लंबाई में छह हाथ की कमी कर दी थी, जहाँ अब 'हतीम' स्थित है। पैग़म्बर ने इस संदर्भ में हज़रत आयशा से कहा:

> "अगर तुम्हारे लोग अभी जल्द ही अज्ञानता (इस्लाम से पहले की रीत-व-रिवाज) से बाहर न आए होते, तो मैं काबा को गिराकर इब्राहीम के नक़्शे के अनुसार उसका पुनर्निर्माण करता... और इसके दो दरवाज़े बनाता, एक पूर्व दिशा में और दूसरा पश्चिम में।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1333)

तीसरी बार इसका निर्माण 36 हिजरी में यज़ीद बिन मुआविया के शासनकाल में हुआ। यज़ीद की सीरियाई सेना ने हुसैन बिन नुमैर के नेतृत्व में अब्दुल्ला बिन ज़ुबैर का मक्का में घेराव किया और काबा पर पत्थरबाज़ी की, जिससे उसमें आग लग गई और वह गिर गया। इसके बाद अब्दुल्ला बिन ज़ुबैर ने इसका पुनर्निर्माण कराया। उन्होंने पैग़म्बर की उपरोक्त हदीस को ध्यान में रखते हुए इसे फिर से इब्राहीम की बनावट पर तैयार कराया और उसमें दो दरवाज़े बनाए, ताकि एक दरवाज़े से प्रवेश हो और दूसरे से बाहर निकला जाए। जब अब्दुल्ला बिन ज़ुबैर

की हत्या हुई, तो हज्जाज ने ख़लीफ़ा अब्दुल मलिक बिन मर्वान को स्थिति से अवगत कराया। अब्दुल मलिक ने आदेश दिया कि "हमें अब्दुल्ला बिन ज़ुबैर के कार्यों का पालन नहीं करना है। काबा को फिर से पहले की नींव पर पुनः निर्माण कराओ और वह दूसरा दरवाज़ा बंद कराओ जो अब्दुल्ला बिन ज़ुबैर ने खोला था।" ये चौथी बार था (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1333)।

जब ख़लीफ़ा हारून रशीद का दौर आया तो उन्होंने फिर से काबा को अब्दुल्ला बिन ज़ुबैर की बनावट के अनुसार निर्माण कराने का इरादा किया। उस समय प्रसिद्ध विद्वान इमाम मालिक बिन अनस ने ख़लीफ़ा से कहा:

> "ऐ अमीरुल मोमिनीन! मैं आपको अल्लाह की क़सम देता हूँ कि इस घर को अपने बाद के शासकों के लिए खिलवाड़ न बनने दीजिए, कि वे जब चाहें उसमें बदलाव करते रहें। इससे इस घर की गरिमा लोगों के दिलों से समाप्त हो जाएगी।" (*अल-रौज़ अल-उन्फ़*, अल-सुहैली, खण्ड 2, पृष्ठ 173)

इस प्रकार इमाम मालिक ने ख़लीफ़ा हारून रशीद को उसकी योजना पर अमल करने से रोक दिया।

परंपराओं को तोड़े बिना चुपचाप बदलाव लाना पैग़म्बरी तौर-तरीकों का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। सामाजिक जीवन में परंपराओं का अत्यंत महत्व होता है। अधिकतर लोग इन्हीं परंपराओं के सहारे जीवन जीते हैं। यदि परंपराएँ अचानक तोड़ दी जाएँ, तो सामान्य लोगों के पास नैतिकता का कोई आधार नहीं बचता।

किसी समाज में परंपराएँ सदियों की ऐतिहासिक प्रक्रिया से बनती हैं। किसी ने सही कहा है: "एक छोटी सी परंपरा बनाने के लिए बहुत बड़ी ऐतिहासिक प्रक्रिया चाहिए।"

> It requires a lot of history to make a little tradition.

यही कारण है कि पैग़म्बर धीरे-धीरे हिकमत के साथ सुधार लाते हैं, न कि उग्र और शोरगुल वाले तरीक़ों से।

पैग़म्बर (सल्ल०) की सुन्नत

अरबी भाषा में 'सुन्नत' का मतलब होता है तरीक़ा। इससे मुराद (आशय) ख़ुदा का वो पसंदीदा तरीक़ा है जिसे अल्लाह ने अपने भेजे गए पैग़म्बर के ज़रिये इंसानों को बताया। क़ुरान में यह शब्द अल्लाह की व्यवस्था के सभी तरीक़ों के लिए आया है। क़ुरान में इस्लामी समाज के नियमों को बताते हुए कहा गया है:

> "ख़ुदा चाहता है कि वह तुम्हारे लिए स्पष्ट करे और तुम्हें उन लोगों के तरीक़े पर चलाए जो तुमसे पहले थे, और तुम्हारी ओर ध्यान दे। और अल्लाह सब जानने वाला और बुद्धिमान है।" (क़ुरान, 4:26)

जब अल्लाह ने इस दुनिया को बनाया, तभी यह भी तय कर दिया कि दुनिया को चलाने के लिए उसका कौन सा तरीक़ा सबसे पसंदीदा होगा। इस तरीक़े को उसने बाक़ी सृष्टि में पूरी ताक़त से लागू किया, यहाँ तक कि कोई भी चीज़ उससे ज़रा भी अलग नहीं हो सकती। लेकिन इंसान को उसने इसकी पाबंदी नहीं दी। इंसान को सोचने और करने की पूरी आज़ादी दी गई, और कहा गया कि जो लोग अपनी मरज़ी से मेरे पसंदीदा तरीक़े पर चलेंगे, उनके लिए जन्नत के बाग़ हैं, और जो उससे हटेंगे, उनके लिए जहन्नम की आग है।

अल्लाह के इसी पसंदीदा तरीक़े को इंसानों के सामने साफ़ करने के लिए ख़ुदा ने अपने रसूलों (पैग़म्बरों) को भेजा। रसूलों ने उसे बोलकर भी बताया और अपने व्यवहार से करके भी दिखाया कि अल्लाह की पसंद के अनुसार ज़िंदगी कैसे जीनी चाहिए। यही चीज़ 'रसूल की सुन्नत' कहलाती है। रसूल की सुन्नत का संबंध दाँत साफ़ करने (मिस्वाक) और नहाने जैसे व्यक्तिगत कामों से भी है, और समाज की तरक्क़ी व सुधार जैसे सामूहिक मामलों से भी। जो लोग अल्लाह के यहां उसके पसंदीदा बंदों में शामिल होना चाहते हैं, उनके लिए ज़रूरी है कि वे अपनी पूरी ज़िंदगी में रसूल की सुन्नत की पैरवी करें। अपनी ज़िंदगी के किसी भी मामले को इससे अलग या असंबंधित न समझें।

रसूल की व्यक्तिगत सुन्नतों में सबसे महत्वपूर्ण सुन्नत है — अल्लाह से उसके बन्दों का परिचय कराना। पैग़म्बर मुहम्मद की ज़िंदगी के अध्ययन से पता चलता है कि दिन-रात उन्हें सबसे ज़्यादा चिंता इसी बात की होती थी कि वो कैसे अल्लाह के बन्दों को अल्लाह के क़रीब लायें इस मामले में आप इतने चिंतित रहते थे कि खुद अल्लाह ने कहा: "शायद तुम इस ग़म में खुद को मिटा डालोगे कि लोग ईमान नहीं ला रहे।" (क़ुरान, 26:3)

रसूल का यह कथन है: "जिसे मेरी सुन्नत से लगाव न हो, वह मुझसे नहीं।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 5063) यह हदीस जिस तरह शादी-विवाह जैसे मामलों पर लागू होती है, वैसे ही अल्लाह की ओर उसके बन्दों को बुलाने के काम पर भी लागू होती है। रसूल के आदर्श को अपनाने वाला वही है जो बाक़ी मामलों के साथ-साथ अल्लाह की ओर बुलाने के मामले में भी पैग़म्बर के तरीक़े की ही पैरवी करे।

रसूल की तमाम सुन्नतों में से एक महत्वपूर्ण सुन्नत है — धीरे-धीरे सुधार लाना (तदरीज) या यथार्थवाद। यानी सिद्धांतों को लागू करते समय वास्तविक हालात का ध्यान रखना। रसूल ने सामाजिक सुधार के सभी मामलों में हमेशा तदरीज (एक के बाद एक) की नीति अपनाई। आज की भाषा में कहा जाए तो आपका तरीक़ा कोई क्रांतिकारी (Revolutionary) नहीं था बल्कि क्रमिक (Evolutionary) था। हज़रत आयशा एक हदीस में इस बात को इस तरह बताती हैं:

> "सबसे पहले जो क़ुरान की सूरतें उतरीं, उनमें जन्नत और जहन्नम का ज़िक्र था। जब लोगों के दिल इस्लाम के लिए तैयार हो गए तब हलाल और हराम की बातें आईं। अगर सबसे पहले यह आदेश आता कि शराब न पियो, तो लोग कहते — हम कभी शराब नहीं छोड़ेंगे। और अगर यह आता कि व्यभिचार न करो, तो कहते — हम कभी इसे नहीं छोड़ेंगे।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 4993)

8 हिजरी, रमज़ान के महीने में मक्का फ़तह हुआ। इसके बाद मक्का पैग़म्बर के अधिकार में आ गया। लेकिन इतिहास बताता है कि आपने काबा से जुड़े धार्मिक आदेशों को तुरंत लागू नहीं किया, बल्कि जो कुछ भी किया, वह धीरे-धीरे किया। मक्का की फ़तह के बाद, 8 हिजरी का जो हज हुआ वह पुराने रिवाज के अनुसार ही हुआ। इसके बाद 9 हिजरी में दूसरा हज इस तरह हुआ कि मुसलमानों ने अपने तरीक़े से हज किया और ग़ैर-मुसलमानों ने अपने तरीक़े से। फिर जब 10 हिजरी में तीसरा हज आया, तो आपने आदेश दिया कि यह हज पूरी तरह इस्लामी तरीक़े से किया जाए। यही वह हज है जो इस्लामी इतिहास में हज्जतुल विदा (विदाई हज) के नाम से जाना जाता है।

स्वाभाविक रूप से रसूल को यह पसंद नहीं था कि लोग काबा में पुराने रिवाजों के अनुसार हज करें। क्योंकि उसमें लोग नंगे होकर हज करते और दूसरी जाहिलियत की रस्में करते थे। लेकिन अधिकार मिलने के बावजूद आपने उन्हें इससे रोकने में जल्दबाज़ी नहीं की। इसी वजह से मक्का की फ़तह के बाद दो साल तक आपने खुद हज नहीं किया। जब हज का महीना आया, तो आपने कहा: "लोग काबा में आएंगे और नंगे होकर तवाफ़ करेंगे। मैं तब तक हज नहीं करना चाहता जब तक यह सब बंद न हो जाए।" (*तफ़्सीर इब्ने कसीर*, खण्ड 4, पृष्ठ 103)

मक्का की विजय के बाद पहला वर्ष (8 हिजरी) ऐसा था जब मुसलमानों ने हज किया, किंतु पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) स्वयं हज के लिए नहीं गए। अगले वर्ष (9 हिजरी) आपने मुसलमान हाजियों के एक क़ाफ़िले को हज़रत अबू बक्र (रज़ियल्लाहु अन्हु) के नेतृत्व में मदीना से मक्का के लिए रवाना किया।

इसके बाद क़ुरान में यह निर्देश अवतरित हुआ कि जो लोग अल्लाह के साथ किसी को साझी ठहराते हैं, वे उस वर्ष के बाद हरम (काबा के पवित्र क्षेत्र) के निकट न आएँ (9:28)। इस निर्देश के अनुपालन में पैग़म्बर मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) ने हज़रत अली (रज़ियल्लाहु अन्हु) को हज के अवसर पर मक्का भेजा और उन्हें यह ज़िम्मेदारी सौंपी कि वे सार्वजनिक रूप से यह घोषणा करें कि अगले वर्ष से हज केवल उन लोगों के लिए होगा जो एकेश्वरवाद में

विश्वास रखते हैं, और काबा की परिक्रमा नग्न अवस्था में करने की प्राचीन प्रथा अब समाप्त की जा रही है (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 369)।

आने वाले वर्षों में, जब बहुदेववादी प्रथाएँ क्रमशः समाप्त होती चली गईं, तब हज अपने मूल एकेश्वरवादी स्वरूप में पुनः स्थापित हुआ। हिजरत के दसवें वर्ष में पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने स्वयं हज अदा किया — यह उनका एकमात्र हज था जो उन्होंने मदीना हिजरत के बाद किया और इतिहास में हज्जतुल विदा (विदाई हज) के नाम से प्रसिद्ध है।

इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि पैग़म्बर ने धार्मिक आदेशों को लागू करने में एक-एक करके लागू की जाने वाली नीति (step-by-step policy) की बुद्धिमत्ता को किस प्रकार ध्यान में रखा। यहां तक कि सत्ता प्राप्त होने के बावजूद आपने तदरीज के सिद्धांत को नहीं छोड़ा। अल्लाह के पैग़म्बर ने स्वयं को रोका, किंतु शिर्क करने वालों को समय से पहले रोकने हेतु कोई बलपूर्वक कार्रवाई नहीं की।

पैग़म्बर की जीवन शैली केवल वही नहीं है जिसे आम लोग "सुन्नत" के नाम से जानते हैं। इसके अतिरिक्त भी उनकी अनेक सुन्नतें हैं। इन्हीं में से एक सुन्नत है, जिसे धीरे-धीरे सुधार या वास्तविकता पर आधारित दृष्टिकोण कहा जा सकता है। पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) मक्का में तेरह वर्षों तक नबी के रूप में रहे, लेकिन उन्होंने कभी भी काबा की अपवित्रता के विरोध में प्रदर्शन नहीं किया। यहां तक कि मक्का की विजय और प्रभुत्व प्राप्त होने के बाद भी आपने तत्काल अनुचित धार्मिक प्रथाओं को समाप्त करने में जल्दबाज़ी नहीं की। शक्ति-संपन्न होने के बावजूद आपने दो वर्षों तक प्रतीक्षा की, और तीसरे वर्ष जो हज हुआ, उस में वे सभी सुधार लागू किए जिन्हें आप इस्लामी राज्य में लागू करना चाहते थे।

एक-एक करके लागू की जाने वाली नीति को अपनाने में अनेक लाभ हैं, जो किसी अन्य विधि से प्राप्त नहीं किए जा सकते:

1. इसका एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इच्छित परिणाम तक पहुँचना सुनिश्चित हो जाता है। धीरे-धीरे आगे बढ़ना अर्थात् प्रत्येक क़दम को मज़बूती से

जमाकर और परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हुए आगे बढ़ना। ऐसा व्यक्ति केवल जोश में आकर मैदान में नहीं कूद पड़ता, बल्कि बाहरी कारणों का लिहाज़ करते हुए, परिस्थिति के अनुसार अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। और जो व्यक्ति इस नीति को अपनाता है, वह अंततः अपने लक्ष्य तक अवश्य पहुँचता है।

2. इसका दूसरा लाभ यह है कि व्यक्ति अनावश्यक हानि से बच जाता है। जो व्यक्ति अचानक लक्ष्य तक पहुँचना चाहे, उसे अक्सर ऐसी शक्तियों से पूर्व-समय में भिड़ना पड़ता है, जिनसे प्रभावी ढंग से निपटने के लिए वह अभी तैयार नहीं होता। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति को जान-माल की ऐसी क्षति सहनी पड़ती है जिसकी भरपाई वर्षों तक भी नहीं हो पाती।

भाग दो

पैग़म्बर-ए-इंक़लाब

अल्लाह यह चाहता है कि उसका धर्म दुनिया में इज़्ज़त और बुलंदी के साथ फैले। और उसे दुनिया में प्रमुख विचारधारा का स्थान प्राप्त हो, लेकिन धर्म की वैचारिक श्रेष्ठता के लिए वैश्विक परिस्थितियों का अनुकूल होना ज़रूरी है। अल्लाह ने हज़ारों वर्षों की प्रक्रिया से अंतिम पैग़म्बर के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कीं। उन्होंने उन परिस्थितियों को पहचाना और हिकमत (दूरदर्शिता) से उनका उपयोग करके इस्लाम को दुनिया में एक प्रमुख विचारधारा का स्थान प्रदान किया।

अब फिर से, बीते हज़ार साल की प्रक्रिया के बाद, अल्लाह ने वैसे ही सारे अनुकूल हालात इकट्ठा कर दिए हैं, जिनका सही तरह से इस्तेमाल करके इस्लाम को फिर से वही श्रेष्ठता और महानता दी जा सकती है, जैसी पहले थी।

लेकिन इन मौक़ों को हक़ीक़त बनाने के लिए एक ऐसी गंभीर कोशिश चाहिए, जो वक्त को सही तरीक़े से समझकर की जाए। जो ग़ुस्से या बदले की भावना से नहीं, बल्कि सकारात्मक सोच के साथ आगे बढ़े। जो हर दूसरी भावना को छोड़कर सिर्फ़ दीन को श्रेष्ठता प्रदान करने की कोशिश करे। जो अल्लाह से प्राप्त दूरदर्शिता के मार्गदर्शन में आगे बढ़े, न कि इंसानों की ग़लतफ़हमियों के साथ। जिसका मक़सद अल्लाह की महानता को दिखाना हो, न कि किसी जाति या देश का झंडा ऊँचा करना। इसी तरह के लोगों ने पहले भी अल्लाह के धर्म को सम्मानित स्थान दिया था, और आज भी वही लोग इसे ऊँचाई देंगे। इसके उलट, जो लोग सिर्फ़ नारों से भीड़ इकट्ठा करना ही काम समझते हैं, जो हर छोटी-बड़ी बात पर बिना सोचे समझे कूद पड़ते हैं — ऐसे लोग सिर्फ़ अल्लाह की दी हुई इन संभावनाओं को बर्बाद कर देंगे। ये लोग कभी इन मौक़ो को असली हक़ीक़त नहीं बना सकते।

एक तुलना

पैग़म्बर मुहम्मद के ज़माने में जो इस्लामी क्रांति आई, उसके बारे में इतिहास बताता है कि इस पूरे दौर में कुल 1018 लोग मारे गए। ये क्रांति 23 साल में पूरी

हुई। इन 23 सालों में कुल 81 मुठभेड़ (ग़ज़वात) हुईं। हालाँकि, पैग़म्बर मुहम्मद ख़ुद सिर्फ़ 27 लड़ाइयों में शरीक हुए — और इन में भी औपचारिक लड़ाई बस कुछ ही मौक़ो पर हुई। इन लड़ाइयों में मारे गए लोगों की कुल संख्या इस तरह है:

मुसलमान	—	259
ग़ैर-मुस्लिम	—	759
कुल	—	1018

प्राथमिक अवस्था का यह बदलाव इतिहास का सबसे बड़ा बदलाव था, जिसने इंसानी इतिहास की दिशा ही बदल दी। इतने बड़े बदलाव में जो लोग मारे गए उनकी तादाद इतनी कम थी कि इसे 'बिना खून-खराबे वाली क्रांति' (Bloodless Revolution) कहा जा सकता है।

हमारे लिखने और बोलने वाले अक्सर जोश में इस क्रांति की तुलना आज के दौर की ग़ैर-इस्लामी क्रांतियों से करते हैं। वे गर्व से कहते हैं कि इस्लामी क्रांति सिर्फ़ एक हज़ार लोगों की जान लेकर कामयाब हो गई। जबकि फ्रांस में लोकतांत्रिक क्रांति और रूस में साम्यवादी क्रांति लाने के लिए लाखों लोगों की जानें गईं।

यह तुलना हमें बहुत पसंद है, क्योंकि इससे हमारे गर्व वाले मन को सुकून मिलता है। लेकिन यहां एक और तरह की तुलना है, जिस पर मुसलमानों ने कभी ध्यान नहीं दिया। शायद इसकी वजह यह है कि यह दूसरी तुलना एक सीख देने वाली तुलना है, और सीख अक्सर कड़वी लगती है।

यह दूसरी तुलना यह है कि आप शुरुआती दौर की इस्लामी दावत में मरने वालों की तुलना आज के मुस्लिम आंदोलनों में मरने वालों से करें। दूसरे शब्दों में, शुरुआती दौर की क्रांति से अपनी आज की कोशिशों का मुकाबला करें। मुसलमानों ने आज के ज़माने में मज़हबी क्रांति और इस्लामी जिहाद के नाम पर बड़े-बड़े आंदोलन चलाए हैं। जिस तरह मुसलमान पैग़म्बर के ज़माने की मज़हबी क्रांति की तुलना ग़ैर-मुसलमानों की ग़ैर-धार्मिक क्रांतियों से करते हैं, वैसे ही उन्हें

चाहिए कि वे पैग़म्बर के ज़माने की क्रांति को सामने रखकर अपनी चलाई गई तहरीकों को तौलें और उनके नतीजों का जायज़ा लें।

अगर मुसलमान ऐसा करें तो हैरानी होगी कि जिस जगह उन्होंने पैग़म्बर की क्रांति के मुक़ाबले में दूसरों की ग़ैर-धार्मिक क्रांतियों को खड़ा किया है, वहीं खुद उनकी आज की तहरीकें भी खड़ी हैं। अल्जीरिया की आज़ादी की जंग में 25 लाख मुसलमान मरे, भारत की आज़ादी के लिए 5 लाख उलेमा और मुसलमान शहीद हुए, और पाकिस्तान को बनाने में एक करोड़ लोग मारे गए। इसी तरह सीरिया, इराक, ईरान, मिस्र, फिलिस्तीन और बाक़ी इलाक़ों में जो लोग इस्लाम के नाम पर जान दे रहे हैं, उनकी तादाद भी लाखों से ज़्यादा है। लेकिन इन सारी कुर्बानियों का कोई ठोस नतीजा नहीं निकला। शुरुआती दौर की इस्लामी तहरीक में सिर्फ़ एक हज़ार लोग मरे, और उसके बाद ऐसा गहरा असर पड़ा कि पूरी दुनिया ने उसे महसूस किया।

आज की इस्लामी तहरीकों में मिलाकर क़रीब दस करोड़ लोग मरे या बर्बाद हो चुके हैं। इसके बावजूद धरती पर ऐसा कोई छोटा-सा हिस्सा भी नहीं है जहां इस्लामी क्रांति सही मायनों में कामयाब और असरदार नज़र आती हो।

और बात सिर्फ़ इतनी नहीं है, बल्कि इससे भी ज़्यादा सख़्त है। हक़ीक़त यह है कि आज के दौर में हमारी सारी कोशिशों का उल्टा नतीजा निकला है। हमारे बारे में बाइबिल के वो अल्फ़ाज़ पूरी तरह सही उतरते हैं, जो यहूदियों के लिए कहे गए थे—

> "और तुम्हारा बीज बोना बेकार जाएगा, क्योंकि तुम्हारे दुश्मन उसकी फसल खा जाएंगे। और मैं खुद भी तुम्हारा विरोधी बन जाऊंगा, और तुम अपने दुश्मनों के सामने हार जाओगे। जिन लोगों को तुम अपना दुश्मन समझते हो, वही तुम पर हुकूमत करेंगे, और जब कोई तुम्हें सता भी नहीं रहा होगा, तब भी तुम डरकर भागोगे। और अगर इन बातों के बावजूद भी तुम मेरी न

> मानो, तो मैं तुम्हारे पापों के कारण तुम्हें सात गुना और सज़ा दूँगा। मैं तुम्हारे ताक़त के घमंड को तोड़ दूँगा, और तुम्हारे लिए आसमान को लोहे जैसा और ज़मीन को तांबे जैसी बना दूँगा। तुम्हारी मेहनत बेकार जाएगी, क्योंकि तुम्हारी ज़मीन से कुछ भी पैदा नहीं होगा, और मैदानों के पेड़ फल नहीं देंगे।" (अहबार, 26:16-20)

मुसलमानों का मौजूदा इतिहास इन शब्दों को पूरी तरह सच साबित कर रहा है। उन्होंने इस्लामी ख़िलाफ़त और दुनिया की एकता के लिए शक्तिशाली आंदोलन चलाए और इस रास्ते में अनगिनत कुर्बानियाँ दीं। लेकिन जब नतीजा निकला तो पूरी मुस्लिम दुनिया कई राष्ट्रीय सरकारों में बंट चुकी थी। उन्होंने देश की आज़ादी के लिए जिहाद किया, लेकिन जब देश आज़ाद हुआ, तो असल में वह दूसरों के हाथों में चला गया। मुसलमानों के एक ख़ास तबक़े ने इस्लामी पाकिस्तान को वजूद में लाने के लिए बड़े पैमाने पर अपने जान-माल को बर्बाद किया, लेकिन जब पाकिस्तान बना, तो वहाँ ग़ैर-इस्लामी लोगों की हुकूमत क़ायम हो गई। इसी तरह उन्होंने मिस्र में इस्लामी हुकूमत बनाने के लिए बड़ी-बड़ी तहरीकें चलाईं, लेकिन जब मिस्र की तक़दीर का फैसला हुआ, तो वह इस्लाम पसंदों के बजाय सेना के क़ब्ज़े में चला गया। इसी की एक मिसाल फ़िलस्तीन भी है। क़रीब एक तिहाई सदी से फ़िलस्तीन में यहूदी हुकूमत को मिटाने के लिए "जिहाद" जारी है, और मुसलमानों के जान-माल बेहिसाब तबाह हो रहे हैं। लेकिन हक़ीक़त यह है कि इन सबके बावजूद सिर्फ़ इतना हुआ है कि यहूदी हुकूमत की ताक़त और इलाक़ा दोनों बढ़ते जा रहे हैं।

ये इस दौर की वो गंभीर सच्चाइयाँ हैं जो पत्थर से भी ज़्यादा भारी हैं। कोई आदमी यह कर सकता है कि अपने दिमाग़ में झूठी उम्मीदों की एक दुनिया बसा ले और उसी में जीता रहे। लेकिन आने वाला इतिहासकार यक़ीनन हमारे इस ख़्वाब को सही साबित नहीं करेगा। वह मजबूर होगा यह लिखने के लिए कि फ्रांस और रूस की क्रांतियों में जो लोग मरे, उन्हें कम से कम यह फ़ायदा तो मिला कि उन्होंने

दुनिया की सोच का रुख़ बदल दिया। इसके बाद दुनिया में तानाशाही सोच की जगह लोकतांत्रिक सोच फैल गई और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पर समाजवादी सोच का प्रभाव बढ़ गया। लेकिन इस्लाम के नाम पर जो लोग मारे गए, जो संख्या में उनसे भी ज़्यादा थे, वे दुनिया की सोच पर कोई सकारात्मक असर नहीं डाल सके।

अगर कोई किसान यह कहे कि मैंने गेहूं का बीज डाला, लेकिन उसमें से गेहूं के बजाय झाड़-झंखाड़ उग आया, तो ऐसा किसान झूठ बोल रहा है। क्योंकि अल्लाह की इस दुनिया में यह मुमकिन ही नहीं कि कोई गेहूं का बीज बोए और उसमें से कांटे उग आएं। यह नामुमकिन है, लाखों बार नामुमकिन है। ठीक इसी तरह, अगर आज के दौर की हमारी कुर्बानियाँ वाक़ई उसी रास्ते पर होतीं जिस पर पैग़म्बर और उनके साथियों ने क़दम बढ़ाया और अपनी जानें दीं, तो मुमकिन नहीं था कि इतनी बड़ी कोशिशों के बाद भी कोई सकारात्मक नतीजा न निकलता। घटनाएँ अपना खुला फैसला सुना रही हैं, अगर इसके बावजूद कोई शख़्स झूठी उम्मीदों के महल में रहना चाहता है, तो रहे। लेकिन बहुत जल्द क़यामत उसका वह महल तोड़ देगी। और तब वह देखेगा कि वहाँ झूठी उम्मीदों के खण्डहरों के सिवाय और कुछ नहीं है।

अल्लाह की मदद

क़ुरान में कहा गया है:

> "ऐ ईमान वालो, अगर तुम अल्लाह की सहायता करोगे तो वह तुम्हारी सहायता करेगा और तुम्हारे क़दमों को जमा देगा।" (47:7)

यहाँ ख़ुदा की मदद करने का मतलब है — ख़ुदा की योजना के अनुरूप चलना। यानी अल्लाह ने कामयाबी के जो उसूल मुक़र्रर कर रखे हैं और उनके लिए जो

अनुकूल हालात पैदा किए हैं, उनकी दिशा में अपनी कोशिशों को जोड़ देना। जो लोग इस तरह ख़ुदा की मदद करते हैं, उन्हें स्थिरता मिलती है और अंततः वे सफल होते हैं। इस दुनिया में कोई भी ठोस परिणाम तभी मिल सकता है जब कार्य अल्लाह की योजना के साथ तालमेल में हो — न कि मनमर्जी से कार्य करके।

इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक पादरी साहब अपने घर के सामने एक हरा-भरा पेड़ देखना चाहते थे। उन्होंने सोचा कि अगर मैं बीज बोऊँ, तो इसमें दस साल लगेंगे। उन्होंने सोचा कि क्यों न मैं कहीं से एक बड़ा पेड़ ही लाकर लगा दूँ। उन्होंने ऐसा ही किया — एक बड़ा पेड़ जड़ से खुदवाया, कई लोगों की मदद से उसे वहां से उठवाया और अपने घर के सामने लगवा दिया। उन्हें लगा कि उन्होंने दस साल का सफ़र एक दिन में तय कर लिया। मगर अगली सुबह जब वह उठे तो देखा कि पेड़ के पत्ते मुरझा चुके थे। शाम तक डालियाँ भी झुक गईं। कुछ दिन बाद पत्ते सूखकर गिर गए और वहाँ सिर्फ़ सूखी लकड़ी का एक ढांचा बचा रह गया।

इन्हीं दिनों उनका एक मित्र मिलने आया। उसने देखा कि पादरी साहब बेचैनी से घर के सामने टहल रहे हैं। उसने पूछा, "आपको आज असामान्य रूप से परेशान देख रहा हूँ, बात क्या है?" पादरी साहब ने जवाब दिया, "मैं जल्दी में हूँ, लेकिन अल्लाह जल्दी नहीं चाहता।"

"I am in hurry, but God doesn't."

इसके बाद पादरी साहब ने पेड़ वाली घटना सुनाई और कहा: इस दुनिया में जो घटनाएँ होती हैं, उनमें एक हिस्सा अल्लाह का होता है और एक हिस्सा इंसान का। यह ठीक वैसा है जैसे दो दाँतेदार चक्र (Cogwheels) मिलकर मशीन को चलाते हैं — एक पहिया अल्लाह का है और दूसरा इंसान का। जब इंसान अल्लाह के पहिए के साथ तालमेल रखता है, तभी वह सफल होता है। लेकिन अगर वह अल्लाह के पहिए की गति का ध्यान रखे बिना चलेगा, तो वह टूट जाएगा। क्योंकि अल्लाह का पहिया मज़बूत है और इंसान का कमज़ोर।

अल्लाह ने करोड़ों वर्षों की प्रक्रिया से ज़मीन पर उपजाऊ मिट्टी की परत बिछाई, जिस पर पेड़ उग सकें। सूर्य की मदद से आवश्यक ताप दिया। प्राकृतिक व्यवस्था के तहत पानी पहुँचाया। ऋतुओं के परिवर्तन के ज़रिए उसकी परवरिश का इंतज़ाम किया। खरबों की संख्या में जीवाणु बनाए जो पेड़ की जड़ों को नाइट्रोजन की खाद दें। यह सारी व्यवस्था मानो अल्लाह का दाँतो वाला पहिया है। अब इंसान को चाहिए कि वह अपना पहिया इसमें जोड़े — वह एक बीज ले और उसे ज़मीन में बो दे। अगर वह ऐसा करता है, तो वह अपने पहिए को अल्लाह के पहिए से जोड़ देता है। इसके बाद प्रकृति की मशीन चल पड़ती है और समय पर परिणाम देती है। इसके उलट, अगर कोई व्यक्ति बीज को पत्थर पर डाल दे, या बीज की जगह उसकी नकली प्लास्टिक की शक्ल ज़मीन में बोए, या यह करे कि पूरा पेड़ उखाड़कर लाए और ज़मीन में गाड़ दे — तो यह अल्लाह की योजना से मेल नहीं होगा। उसने खुद को अल्लाह की व्यवस्था में शामिल नहीं किया। ऐसे व्यक्ति के नसीब में इस धरती पर हरे भरे पेड़ का मालिक बनना नहीं लिखा होता।

यही बात इस्लामी क्रांति के बारे में भी सच है। वह भी तभी आती है जब कोई व्यक्ति अल्लाह के दिए अवसरों को समझे और उनका इस्तेमाल करे — न कि अपनी मनमानी से उछल-कूद करे। प्रारंभिक इस्लामी युग में जो क्रांति आई, वह इसलिए आई क्योंकि कुछ लोगों ने अपना पहिया अल्लाह के पहिए से मिला दिया। इसके विपरीत, आज के समय में हमारी तमाम कुर्बानियाँ इसलिए व्यर्थ चली गईं, क्योंकि हम अल्लाह की योजना के अनुसार नहीं चले, बल्कि खुद बनाई हुई राहों पर ग़ैर-ज़रूरी शोरगुल मचाते रहे।

एकेश्वरवादी और बहुदेववादी धर्म

क़ुरान (2:213) से पता चलता है कि जब हज़रत आदम के बाद इंसान धरती पर आबाद हुआ, तो सबका धर्म तौहीद (एकेश्वरवाद) था। यह स्थिति कुछ सौ वर्षों तक जारी रही। इसके बाद लोगों में प्रकृति-पूजा की शुरुआत हुई, जिसे शिर्क

(अनेकेश्वरवाद) कहा जाता है। न दिखने वाले अल्लाह को अपने ध्यान का केंद्र बनाना इंसान के लिए कठिन था, इसलिए उसने यह किया कि अल्लाह को मानते हुए भी ध्यान का केंद्र उन चीज़ों को बना लिया जो दिखाई देती थीं। यही वह दौर था जब सूर्य, चंद्रमा और तारों की पूजा शुरू हुई। पहाड़ों और समुद्रों को देवता मान लिया गया। यहाँ तक कि जिन इंसानों के पास महानता और सत्ता दिखी, उन्हें भी अल्लाह का साझीदार बना लिया गया। इस तरह लगभग एक हज़ार साल के बाद वह समय आया जब तौहीद का वैचारिक प्रभाव ख़त्म हो गया और इंसान की सोच पर बहुदेववाद हावी हो गया।

प्रारंभिक एकेश्वरवादी धर्म में इस गिरावट के बाद अल्लाह ने अपने पैग़म्बरों (दूतों) को भेजना शुरू किया। लेकिन इन पैग़म्बरों को कभी इतनी व्यापक स्वीकार्यता नहीं मिली कि वे शिर्क के धर्म के असर को ख़त्म करके दोबारा एकेश्वरवाद को प्रभावशाली और श्रेष्ठ बना सकें। उस समय मानव समाज जिन-जिन इलाकों में फैला हुआ था, वहाँ-वहाँ लगातार अल्लाह के पैग़म्बर आते रहे (क़ुरान, 23:44)। एक हदीस के अनुसार, इन पैग़म्बरों की संख्या लगभग एक लाख चौबीस हज़ार थी (*मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 22288)। लेकिन इन सभी पैग़म्बरों के साथ यह हुआ कि उनका मज़ाक़ उड़ाया गया (क़ुरान, 36:30)।

जब कोई व्यक्ति सच्चाई को नकारता है, बल्कि उसका मज़ाक उड़ाने लगता है, तो वह ऐसा बेवजह नहीं करता। ऐसा रवैया इंसान किसी चीज़ के बल पर अपनाता है, जब उसके पास किसी चीज़ का घमंड होता है, जिसकी वजह से वह सच्चाई से बेपरवाह हो जाता है। यह घमंड किस बात का होता है? इसका जवाब क़ुरान की इस आयत में मिलता है:

> "जब उनके पास उनके रसूल स्पष्ट दलीलों के साथ आए तो वे उसी ज्ञान पर इतराते रहे जो उनके पास था, और जिस बात का वे मज़ाक उड़ाते थे, उसी ने उन्हें घेर लिया।" (क़ुरान, 40:83)

यहाँ "ज्ञान" से मतलब वह बिगड़ा हुआ धर्म है, जो समय के गुज़रने के बाद उन क़ौमों के लिए पवित्र बन गया था। इस तरह का पारंपरिक धर्म हमेशा एक जमी-

जमाई व्यवस्था होती है। उसके साथ पूर्वजों और मान्यता प्राप्त बुज़ुर्गों के नाम जुड़े होते हैं। उसके ऊपर बड़े-बड़े धार्मिक संस्थान काम कर रहे होते हैं। उसकी बुनियाद पर पूरी क़ौमी पहचान बनी होती है। लंबे समय की परंपराओं ने उसे ऊँचे दर्जे की धार्मिक गरिमा दी हुई होती है।

इन क़ौमों के पास एक तरफ़ उनका स्वीकार्य धर्म था जो शिर्क की बुनियाद पर टिका हुआ था, दूसरी तरफ़ पैग़म्बर तौहीद की वह आवाज़ उठा रहा था जो उस दौर के सामाजिक माहौल में बिलकुल अजनबी लगती थी। पैग़म्बर का "सच्चाई का दावेदार" होना ऐसा दावा था जिसके पीछे अभी ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद नहीं थे। उसके पास अपनी पैग़म्बरी को साबित करने के लिए केवल शब्दों की दलील होती थी। इस तुलना में वह पैग़म्बर उन्हें स्पष्ट रूप से मामूली दिखाई देता, जबकि उनका पारंपरिक धर्म उन्हें महान लगता। हज़रत मसीह बेघर थे और पेड़ के नीचे सोते थे, जबकि यहूदियों का धार्मिक मुखिया एक भव्य मंदिर (हैकल) में बैठा होता था। ऐसे में, मंदिर में विराजमान व्यक्ति की तुलना में पेड़ के नीचे सोने वाला उन्हें कैसे सच्चा मार्गदर्शक दिखाई देता? यही वजह थी कि ये क़ौमें अपने समय के पैग़म्बरों को हँसी का पात्र बनाती रहीं। इस मज़ाक़ उड़ाने के पीछे जो भावना काम करती थी, वह यह थी कि हम तो स्वीकृत बुज़ुर्गों का दामन थामे हुए हैं, फिर इस साधारण व्यक्ति की हमारे सामने क्या औक़ात? इन बुज़ुर्गों की सूची में अगरचे पुराने पैग़म्बर भी होते थे, लेकिन उनकी हैसियत वहाँ एक तरह के क़ौमी नायक (National Heroes) की होती थी, न कि वास्तव में ख़ुदा के सच्चे पैग़म्बर की।

अल्लाह के कलिमा (दीन) को सर्वश्रेष्ठ बनाना

आपने देखा होगा कि सड़कों के चौराहों पर ट्राफिक का एक खंभा होता है, जिसमें हरी और लाल बत्तियाँ लगी होती हैं। जिस दिशा में हरी बत्ती जल रही हो, वहाँ गाड़ियों को जाने की अनुमति होती है। और जिस दिशा में लाल बत्ती हो, उसका मतलब होता है कि उस ओर गाड़ियाँ न जाएँ। अगर कोई गाड़ी वाला इस संकेत

का उल्लंघन करता है, तो वह यातायात के नियमों के मुताबिक सज़ा का हक़दार माना जाता है।

दाई-ए-हक़ (सत्य का संदेश पहुँचाने वाले) की स्थिति असल में इसी तरह के एक मार्गदर्शक खंभे जैसी होती है। उसे ख़ुदा की तरफ़ से इसलिए खड़ा किया जाता है कि वह ज़िंदगी के रास्तों पर खड़े होकर लोगों को बताए कि उन्हें किस ओर जाना है और किस ओर नहीं। कौन-सा रास्ता जन्नत की तरफ़ जाता है और कौन-सा जहन्नम की तरफ़। क़ुरान की इस आयत में इसी बात की तरफ़ इशारा किया गया है:

> "और इसी तरह हमने तुम्हें एक मध्यस्थ उम्मत बनाया, ताकि तुम लोगों पर गवाह बनो, और रसूल तुम्हारे ऊपर गवाह बने।" (क़ुरान, 2:143)

प्रारंभिक दौर-ए-तौहीद के बाद, जब शिर्क का प्रभुत्व हुआ, तब अल्लाह की ओर से जो पैग़म्बर भेजे गए, वे इसी ख़ास मक़सद से भेजे गए। उन्हें अल्लाह ने सत्य का सही ज्ञान देकर खड़ा किया, ताकि वे समुदायों का मार्गदर्शन करें और उन्हें यह बताएं कि सांसारिक जीवन में उनके लिए क्या सही है और क्या गलत। हर नबी ने अपनी इस ज़िम्मेदारी को पूरी तरह निभाया। उन्होंने अपनी क़ौम की समझ में आने वाली भाषा में, तर्क और प्रमाण के साथ, लोगों के सामने सच्चाई को रखा और लगातार इतनी स्पष्टता से बात को समझाया कि उनके सामने 'इतमाम-ए-हुज्जत' की सीमा तक अल्लाह का संदेश पहुँच गया। फिर जिसने रसूल का साथ दिया, वह अल्लाह के निकट अहले-जन्नत में से ठहरा, और जिसने रसूल को नहीं माना, उसे सरकश और बाग़ी मानकर नरक में डाल दिया गया।

हालाँकि, अल्लाह चाहता था कि सच सिर्फ़ बोला ही न जाए, बल्कि खुलकर सामने आए और फिर से उसका बोलबाला भी हो। सच का ऐलान करने का मतलब है कि लोगों को सच्चाई से पूरी तरह अवगत करा दिया जाए। — सद्भावना और बुद्धिमत्ता के सभी मानकों को ध्यान में रखते हुए, बात को इस तरह स्पष्ट कर दिया जाए कि सुनने वालों के पास यह कहने का कोई अवसर न रहे

कि "हमें पता नहीं था", "हम नहीं जानते थे कि जीवन में क्या सही है और क्या ग़लत" यही है इतमाम-ए-हुज्जत।

इज़हार इससे एक क़दम आगे की चीज़ है। इज़हार का अर्थ यह है कि धर्म की सोच, दुनिया की प्रमुख सोच बन जाए। और उसके मुक़ाबले में अन्य विचारधाराएँ अपनी स्वीकार्यता खो दें। इसी को दूसरे शब्दों में ए'लाए कलिमतुल्लाह कहा गया है।

इज़हार-ए-दीन या ए'लाए कलिमतुल्लाह का उद्देश्य मूल रूप से शरीअत के क़ानूनों को जबरन लागू करना नहीं है, बल्कि इसका मक़सद है फ़िक्री ग़लबा — यानी दूसरे विचारों पर श्रेष्ठता वैसी ही है जैसी कि आधुनिक युग में कुछ नए ज्ञानों ने पारंपरिक ज्ञान पर श्रेष्ठता प्राप्त की है।

उदाहरण के तौर पर:

> पूंजीवाद पर समाजवाद की वैचारिक बढ़त,
>
> राजशाही पर लोकतंत्र की वैचारिक बढ़त,
>
> और तर्क आधारित दर्शन पर प्रयोग आधारित विज्ञान की वैचारिक बढ़त।

आज की वैज्ञानिक दुनिया में कुछ तरह के ज्ञान को ऊँचा दर्जा मिला है, जबकि कुछ ने अपना पहले वाला महत्व खो दिया है। इसी तरह, सच्चे मूल्यों और सही विचारों को झूठे या कमज़ोर विचारों पर बौद्धिक और वैचारिक बढ़त मिलनी चाहिए — यही मतलूब (वांछित) है।

ख़ुदा क़ादिर-ए-मुतलक़ (सर्वशक्तिमान) है। उसके लिए यह बहुत आसान था कि वह हक़ (सत्य) को अन्य सभी बातों पर वैसे ही कर देता जैसे उसने सूरज की रौशनी को धरती की अन्य सारी रौशनियों पर श्रेष्ठ रखा है। लेकिन यह दुनिया इम्तिहान की जगह है। यहाँ ख़ुदा अपने इरादों को असबाब (कारणों) की शक्ल में ज़ाहिर करता है, न कि चमत्कारों की शक्ल में। इसी वजह से अल्लाह ने फ़ैसला किया कि इस मक़सद को हासिल करने के लिए ज़रूरी परिस्थितियाँ तैयार की

जाएँ और फिर एक ऐसा पैग़म्बर भेजा जाए जिसे विशेष रूप से नेतृत्व का गुण दिया गया हो। वह केवल सत्य का ऐलान ही न करे, बल्कि उसे व्यवहारिक रूप से जीवंत उदाहरण के रूप में प्रस्तुत भी कर दे— ताकि अल्लाह के बंदों पर उसकी नेमत पूरी हो जाए और उन पर उन बरकतों के दरवाज़े खुल जाएँ जो उनकी नादानी की वजह से उन पर बंद हो गए थे।

इसी हक़ीक़त को क़ुरान की इन आयतों में बयान किया गया है:

> "वे चाहते हैं कि अल्लाह के नूर को अपनी फूँकों से बुझा दें, लेकिन अल्लाह अपने नूर को पूरा करके रहेगा, चाहे (इंकार करने वालों) को यह कितना ही नापसंद हो। वही है जिसने अपने रसूल को हिदायत (मार्गदर्शन) और दीन-ए-हक़ के साथ भेजा, ताकि उसे सारे दीनों पर ग़ालिब कर दे, चाहे मुशरिकों को यह कितना ही नापसंद हो।" (क़ुरान, 61:8–9)

एक नई क़ौम की स्थापना

रसूलुल्लाह (सल्ल०) ने फ़रमाया: "अना दावतु इब्राहीम" (मैं इब्राहीम की दुआ हूँ) — (*तबक़ात अल-कुबरा*, खण्ड 1, पृष्ठ 119)

हज़रत इब्राहीम ने काबा की तामीर के वक्त यह दुआ की थी: "ऐ अल्लाह! तू मेरी औलाद (इस्माईल की नस्ल) में एक नबी पैदा कर।" (क़ुरान, 2:129) हालाँकि, हज़रत इब्राहीम की इस दुआ और रसूलुल्लाह (सल्ल०) की पैदाइश के बीच तक़रीबन ढाई हज़ार साल का फ़ासला है। यह सोचने की बात है कि हज़रत ज़करिया ने जब अपनी औलाद में एक पैग़म्बर के लिए दुआ की, तो सिर्फ़ एक साल के अंदर ही हज़रत याह्या (अलैहिस्सलाम) का जन्म हुआ (क़ुरान, 3:39)। जबकि हज़रत इब्राहीम ने जब वैसी ही दुआ की, तो उसकी क़बूलियत में ढाई हज़ार साल लगे। आख़िर इसका कारण क्या था?

इस फ़र्क़ की वजह यह थी कि हज़रत याह्या को एक वक़्ती किरदार अदा करना था। वे इसलिए भेजे गए थे कि यहूद के बनावटी धर्म को लोगों के सामने लाएं,

और आख़िरकार उनके हाथों शहीद होकर यह सिद्ध कर दें कि यहूद अब इतने भ्रष्ट हो चुके हैं कि उन्हें इस ज़िम्मेदारी से हटा दिया जाए — और उनकी जगह किसी दूसरी क़ौम को किताब-ए-इलाही (अल्लाह की पुस्तक) का वाहक बनाया जाए। इसके मुक़ाबले में पैग़म्बर-ए-इस्लाम को यह ज़िम्मेदारी दी गई थी कि वे बहुदेववाद की जगह एकेश्वरवाद को एक मज़बूत और प्रभावी विचार के रूप में स्थापित करें। इस कार्य को स्वाभाविक कारणों और साधनों के दायरे में पूरा करने के लिए एक नई, नेक और गुणवान क़ौम तथा अनुकूल परिस्थितियों की ज़रूरत थी। ऐसी क़ौम और ऐसे हालात बनने में लगभग ढाई हज़ार साल लग गए।

इस योजना के अंतर्गत हज़रत इब्राहीम को आदेश मिला कि वे इराक़ के विकसित इलाक़े से निकलकर हिजाज़ के सूखे और निर्जन स्थान में अपनी पत्नी हाजरा और बेटे इस्माईल को बसा दें (क़ुरान, 14:37)। यह स्थान उस समय बंजर और सुनसान था। यहाँ सभ्यताओं की मिलावट से दूर रहकर, प्रकृति की गोद में एक ऐसे समाज की नींव रखी जा सकती थी जिसमें अल्लाह द्वारा दी गई प्राकृतिक योग्यताएँ (जन्म से मिली प्रतिभाएँ) सुरक्षित रहें (क़ुरान, 2:128)। इस दुआ के पूरे होने में ढाई हज़ार साल लगे, जिससे यह साफ़ हो गया कि धीरे-धीरे एक ऐसा माहौल और क़ौम तैयार करनी थी जो आने वाली पीढ़ियों में सच्चाई को सही तरह से आगे बढ़ा सके। ऐसी क़ौम जो पूरी तरह सजीव हो और उन बनावटी कमज़ोरियों से मुक्त हो जिनकी वजह से पहले दौर में धर्म की घोषणा के लिए उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिल सका। जब योजना के अनुसार ज़मीन तैयार हो गई, तब बनू हाशिम परिवार में आमिना बिन्ते वहब के गर्भ से वह महान पैग़म्बर जन्मे जिनकी दुआ हज़रत इब्राहीम ने की थी।

हज़रत इब्राहीम ने अल्लाह के आदेश पर हाजरा और इस्माईल को आज के मक्का के स्थान पर लाकर बसा दिया, जहाँ उस समय सूखी ज़मीन और पत्थरों के अलावा कुछ भी नहीं था। जब पानी ख़त्म हो गया और इस्माईल प्यास से तड़पने लगे, तो सूखे रेगिस्तान में ज़मज़म का चश्मा (फ़व्वारा) फूट पड़ा। यह इस बात का संकेत था कि भले ही अल्लाह ने तुम्हें एक कठिन मोर्चे पर खड़ा किया

है, लेकिन वह तुम्हें बेसहारा नहीं छोड़ेगा। तुम्हारा मामला अल्लाह से जुड़ा है और वह हर कठिन मोड़ पर तुम्हारी सहायता करेगा। जब इस्माईल युवा हुए तो हज़रत इब्राहीम ने सपना देखा कि वे अपने बेटे को क़ुर्बान कर रहे हैं। उन्होंने इस सपने को अल्लाह का आदेश समझा और बेटे की क़ुर्बानी के लिए तैयार हो गए, लेकिन ऐन वक्त पर जब उनकी छुरी इस्माईल के गले तक पहुँच गई थी, अल्लाह ने आवाज़ देकर उन्हें रोक दिया और बदले में एक मेढा (भेड़) दिया जिसे वे अल्लाह के नाम पर क़ुर्बान करें। इससे यह दिखाना था कि भले ही तुमसे बड़ी क़ुर्बानी माँगी जाए, लेकिन वह सिर्फ़ तुम्हारे जज़्बे की परीक्षा है। अस्ल चीज़ क़ुर्बानी देने का जज़्बा है, न की जान लेना। मक़सद तुम्हें एक बड़े काम के लिए तैयार करना है, न कि यूँ ही नष्ट कर देना।

जब हज़रत इस्माईल बड़े हुए तो उन्होंने जुरहुम क़बीले की एक लड़की से विवाह कर लिया जो ज़मज़म के निकलने के बाद मक्का में आकर बस गया था। हज़रत इब्राहीम, जो उस समय शाम (सीरिया) में थे, एक दिन घोड़े पर सवार होकर आए। उस समय इस्माईल घर पर नहीं थे, सिर्फ उनकी पत्नी मौजूद थीं जो अपने ससुर को पहचानती नहीं थीं। हज़रत इब्राहीम ने पूछा कि इस्माईल कहाँ गए हैं। पत्नी ने बताया कि वे शिकार पर गए हैं। फिर पूछा कि तुम लोगों का गुज़र-बसर कैसा है। पत्नी ने आर्थिक तंगी और घर के सूनेपन की शिकायत की। इसके बाद हज़रत इब्राहीम ये कहते हुए वापस हो गए कि जब इस्माईल लौटें तो मेरा सलाम कहना और यह संदेश देना कि "अपनी दहलीज़ बदल दो" (ग़य्यिर अ़तबत बाबिक)। इस्माईल ने लौटने के बाद जब पूरी बात सुनी, तो वे समझ गए कि यह मेरे पिता थे और 'दहलीज़ बदल दो' का प्रतीकात्मक मतलब था कि इस औरत से अलग हो जाओ, क्योंकि अपनी नकारात्मक सोच की वजह से यह अल्लाह की योजना के अनुसार अपने बच्चों की सही परवरिश नहीं कर पाएगी। ऐसे बच्चे उस महान नस्ल के पूर्वज नहीं बन सकेंगे, जिनको इतिहास में एक रूहानी बदलाव लाना था।

कुछ समय बाद हज़रत इब्राहीम फिर से घोड़े पर सवार होकर आए। इस बार भी इस्माईल घर पर नहीं थे। हज़रत इब्राहीम ने दूसरी पत्नी से वही सवाल किए जो उन्होंने पहली से किए थे। इस पत्नी ने इस्माईल की तारीफ़ की और कहा कि जो

कुछ है वह अच्छा है, सब अल्लाह का शुक्र है। इसके बाद हज़रत इब्राहीम यह कहकर लौट गए कि जब इस्माईल लौटें तो मेरा सलाम कहना और यह संदेश देना कि "दहलीज़ को कायम रखो" (अन-तुसबित अ़तबत बाबिक)। इसका मतलब था कि तुम्हारी यह पत्नी अल्लाह की योजना के लिए बिल्कुल उपयुक्त है, इसके साथ संबंध बनाए रखो (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 3364)।

इस तरह अरब के एक अलग-थलग इलाके में इस्माईल के आरंभिक परिवार से एक नई नस्ल बननी शुरू हुई, जिसने अंततः एक जीवंत क़ौम (बनू इस्माईल) का रूप ले लिया — जो आख़िरी पैग़म्बर के लिए पालना बन सकी और इतिहास की उस महानतम ज़िम्मेदारी को निभा सकी जिसे अल्लाह उनके हवाले करना चाहता था।

यह क़ौम जो अरब के रेगिस्तानों और पथरीले मैदानों में तैयार हुई, उसकी विशेषताओं को एक शब्द में "मुरूअत" कहा जा सकता है। "मुरूअत" का शाब्दिक अर्थ है —मर्दानगी (पुरुषोचित गुण)। यह शब्द अरबों के यहाँ इंसान के भीतर मौजूद उच्चतम मानवीय गुणों को बताने के लिए सबसे ऊँचा माना जाता था। एक पुराने अरबी कवि ने कहा है —

> "यदि कोई व्यक्ति अपनी नौजवानी में मरूअत (मानवीय गुण)
> प्राप्त नहीं कर पाता,
> तो जवानी के बाद इसे पाना बहुत कठिन होता है।"

प्रोफेसर फिलिप के. हिट्टी ने अरब के इतिहास का गहरा अध्ययन किया है। उनका कहना है कि अरब के रेगिस्तानों में सदियों के विकास के नतीजे में जो क़ौम बनी, वह दुनिया की एक अनोखी क़ौम थी, जो निम्नलिखित नैतिक गुणों में उत्कृष्टता की मिसाल थी –

> Courage, endurance in time of trouble (sabr), observance of the rights and obligations of neighbourliness (jiwar), manliness (muruah) generosity and hospitality, regard for women and fulfilment of solemn promises. (*History of the Arabs*, p. 253)

बेहतरीन समुदाय

इस तरह ढाई हज़ार साल के लंबे समय के दौरान एक ऐसी क़ौम तैयार हुई जो अपने इंसानी गुणों के लिहाज़ से सभी क़ौमों में सबसे बेहतर थी। इस सिलसिले में क़ुरान में आया है: "तुम वह सबसे बेहतरीन समुदाय हो जिसे लोगों के लिए निकाला गया है" (3:110)। पैगंबर के साथी अब्दुल्लाह बिन अब्बास के मुताबिक, इस "बेहतरीन समुदाय" से मतलब मुहाजिरीन हैं — यानी वो लोग जो पैगंबर (सल्ल०) के साथ मदीना हिजरत करके गए थे। (*तफ़सीर अल-तबरी*, खण्ड 5, पृष्ठ 672) दरअसल, उसी दौर में मुहाजिरीन ही पूरे मुस्लिम समुदाय की पहचान माने जाते थे। और अगर इसे थोड़ा व्यापक मतलब में लें, तो इसमें पूरा अरब समाज शामिल था, जिसे असहाब-ए-रसूल, यानी रसूल के साथी कहा जाता है।

हर दौर में पैग़म्बरों को एक ही सबसे बड़ी रुकावट का सामना करना पड़ा है। जिन क़ौमों को वे संदेश देते थे, उनके पास एक परंपरागत धर्म होता था जिसके साथ भौतिक चमक-दमक और इमारतों की भव्यता जुड़ी होती थी। दूसरी ओर, उस समय का पैग़म्बर सिर्फ़ तर्क के स्तर पर खड़ा होता था। अरब में जो क़ौम बनी, उसकी ख़ास बात यह थी कि वह उस सच्चाई तक पहुँच सकती थी जो तर्क और समझ पर आधारित हो। वह खुद को उस सच्चाई के हवाले कर सकती थी जिसे अभी तक कोई बाहरी चमक दमक हासिल नहीं थी। खुले आसमान और रेगिस्तान में बसने वाली क़ौम इतनी काबिल थी कि वह सच्चाई को बिल्कुल साफ़ और शुद्ध रूप में देख सकती थी। हैरानी की बात है कि वह ऐसी सच्चाई के लिए भी सब कुछ कुर्बान कर सकती थी, जिससे दुनिया में ज़ाहिरी तौर पर कोई सीधा फ़ायदा मिलता दिखाई नहीं देता था। रसूल के साथियों की इस ख़ासियत को हज़रत अब्दुल्लाह बिन मसऊद ने तीन शब्दों में यूं बयान किया है: "वे इस उम्मत के सबसे बेहतर लोग थे। वे सबसे ज़्यादा नेक दिल, सबसे गहरे इल्म वाले और सबसे कम दिखावा करने वाले थे। अल्लाह ने उन्हें अपने नबी की संगत और धर्म की स्थापना के लिए चुन लिया था।" (*शरह अल-सुन्ना,* अल-बग़वी, खण्ड 1, पृष्ठ 214, असर संख्या 104)

शिर्क के दौर में इंसान से जो सबसे ज़रूरी बात छिन गई थी, वह थी — सच्चाई को केवल बुद्धि और तर्क के आधार पर पहचानने की क्षमता। अब इंसान सच्चाई को सिर्फ आंखों से देखी और कानों से सुनी चीज़ों में ही ढूंढ़ता था, और केवल महसूस करने के स्तर तक ही उसे समझ पाता था। वह सच्चाई को बिना किसी बाहरी रूप के समझने की ताक़त खो चुका था। यही असली रुकावट थी जिसकी वजह से पहले ज़माने में नबियों का मज़ाक उड़ाया जाता था।

वे लोग ख़ुदा का इंकार करने वाले नहीं थे, मगर उन्होंने ख़ुदा को दिखने वाली चीज़ों के रूप में ढाल लिया था। वे अदृश्य ख़ुदा को समझ नहीं पाते थे। इसलिए उन्होंने दिखाई देने वाली चीज़ों को ही ख़ुदा का रूप मान लिया और उन्हीं को अपनी इबादत का केंद्र बना लिया, चाहे वो सृष्टि की विशालता हो या महान इंसान। यही उनकी कमज़ोरी थी, जो उन्हें पैग़म्बर की पैग़म्बरी को मानने से रोकती थी। हर पैग़म्बर जब आता है, तो अपने समय के लोगों के लिए वह सिर्फ एक आम इंसान होता है। अभी उसके नाम के साथ वे ऐतिहासिक महानताएँ नहीं जुड़ी होतीं जो बाद में जुड़ जाती हैं।

क़ुरान के मुताबिक, हज़रत इब्राहीम ने अपनी दुआ में कहा था: "ऐ मेरे रब! इस शहर (मक्का) को तू शांति वाला शहर बना दे, और मुझे और मेरी संतानों को इस बात से बचा कि हम मूर्तियों को पूजें। ऐ मेरे पालनहार! इन मूर्तियों ने बहुत से लोगों को रास्ते से भटका दिया है। फिर जिसने मेरा अनुसरण किया, वह मेरा है, और जिसने मेरी बात नहीं मानी, तो तू बहुत क्षमा करने वाला, दयालु है। ऐ मेरे रब! मैंने अपनी संतानों को एक ऐसे मैदान में बसाया है जहाँ कोई खेती नहीं होती, तेरे सम्मानित घर के पास, ऐ हमारे रब! ताकि वे नमाज़ क़ायम करें।" (क़ुरान, 14:35–37)

हज़रत इब्राहीम के समय में शिर्क (अनेकेश्वरवाद) का बोलबाला अपने चरम पर था। चारों तरफ़ शानदार मूर्ती-घर बने हुए थे। इंसान के लिए यह लगभग असंभव हो गया था कि वह इससे अलग कोई सोच रख सके। ऐसे समय में, ख़ुदा के आदेश से हज़रत इब्राहीम ने एक चटियल ज़मीन में एक नई नस्ल तैयार करने की

योजना बनाई। यह योजना एक सुरक्षित स्थान पर ऐसे लोगों को तैयार करने की थी जो दिखाई देने वाली चीज़ों से ऊपर उठकर सच्चाई के चाहने वाले बन सकें। इसी मानव नस्ल से वह गिरोह तैयार हुआ जिसके बारे में क़ुरान में यह शब्द आए हैं: "अल्लाह ने तुम्हें ईमान की मुहब्बत दी और उसे तुम्हारे दिलों में प्रिय बना दिया, और इनकार और पाप और अवज्ञा को तुम्हारे लिए अप्रिय बना दिया।" (क़ुरान, 49:7)

हम इस आयत को उस समय बेहतर समझ सकते हैं जब इसे पंद्रह सौ साल पहले की स्थिति में रखकर देखें, जब पैग़म्बर के साथियों का ईमान का मामला सामने आया। उन्होंने दिखाई देने वाले कई खुदाओं की भीड़ में उस ख़ुदा को पाया जो नज़र नहीं आता था, और उसे ही सब कुछ बना लिया। महानता के मीनारों के बीच उन्होंने उस पैग़म्बर को पहचाना जिसमें कोई ज़ाहिरी शान नहीं थी, और उन्होंने खुद को उनके हवाले कर दिया। एक अजनबी धर्म, जो हर तरह की कमज़ोरी और साधनहीनता के बावजूद, उन्हें इतना प्यारा हो गया कि उसके लिए कोई भी कुर्बानी देना उनके लिए मुश्किल नहीं रहा। संक्षेप में कहें तो उन्होंने एक ऐसी सच्चाई को देख लिया जो उस समय केवल एक विचार के रूप में थी, जिसकी पुष्टि अभी इतिहास ने नहीं की थी, जो अभी किसी राष्ट्रीय गर्व का प्रतीक नहीं बनी थी, जिसमें अपना सब कुछ दे देना था लेकिन दुनिया में उसके बदले कुछ भी पाना नहीं था।

इस पूरे मामले की एक ज़िंदा मिसाल वह है जो हिजरत (प्रवास) से पहले 'बैअत-ए-अक़बा सानिया' के समय सामने आई। ठीक उस समय जब मक्का में इस्लाम की हालत बहुत तंगी में थी, मदीना में कुछ मुसलमानों के आह्वान से इस्लाम फैलने लगा। यहाँ तक कि यह हर घर तक पहुँच गया। उस समय मदीना के कुछ व्यक्तियों ने मक्का जाकर पैग़म्बर के सामने पैग़म्बर की सहायता का संकल्प (बैअत) लिया और उन्हें मक्का छोड़कर मदीना आने का निमंत्रण दिया। हज़रत जाबिर अंसारी कहते हैं कि जब मदीना के हर घर में इस्लाम पहुँच गया, तो हमने आपस में मशविरा किया कि हम कब तक अल्लाह के रसूल को इस हाल में छोड़ेंगे कि वे मक्का के पहाड़ों में परेशान और डरे-सहमे फिरते रहें। (*मुसनद*

अहमद, हदीस संख्या 14456) पैग़म्बर की इस बेबसी को देखकर ऊपरी नज़र रखने वाले लोगों के लिए यह इस बात का प्रमाण था कि आप अल्लाह के रसूल नहीं हो सकते। अगर आप वास्तव में अल्लाह के रसूल होते तो आपकी यह हालत क्यों होती। लेकिन मदीना के लोगों ने आपके मामले को वास्तविकता की नज़र से देखा। उन्होंने यह सच्चाई जान ली कि आपका मामला एक ख़ुदाई मामला है और आपकी मदद करके वे ख़ुदा की रहमत और बरकतों के हक़दार बन सकते हैं।

बैअत-ए-अक़बा सानिया (अक़बा की दूसरी बैअत) के मौक़े पर मदीना के सत्तर से अधिक प्रतिनिधियों ने मक्का आकर अल्लाह के रसूल के हाथ पर बैअत (वचन) की। यह बैअत कितने नाज़ुक हालात में हुई, इसका अंदाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि इस दल के एक सदस्य काब बिन मालिक अंसारी कहते हैं कि हम मदीना से मक्का के लिए इस तरह रवाना हुए कि हमारा क़बीला, जो हमेशा की तरह काबा की ज़ियारत (reverential visit) के लिए जा रहा था, उसके साथ चुपचाप हज के बहाने शामिल हो गए। मक्का के पास क़बीले ने डेरा डाला। रात को हम सब उनके साथ यूँ ही सो गए। यहाँ तक कि जब रात का एक तिहाई हिस्सा बीत गया, तो हमने पैग़म्बर के सुझाव के अनुसार अपने बिस्तरों से चुपचाप उठकर उस तय जगह की ओर इस तरह बढ़ना शुरू किया जैसे चिड़िया झाड़ियों में धीरे-धीरे छुपती हुई चलती है (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 441)।

वह पल कितना अजीब था, जब पूरी दुनिया पैग़म्बर को नकार चुकी थी, उस समय कुछ लोग उन्हें अपनाने के लिए आगे बढ़ रहे थे। वह ऐसा समय था जब पैग़म्बर से उनका वतन छीना जा चुका था। तायफ से उन्हें पत्थर मारकर भगा दिया गया था। तमाम क़बीलों ने उन्हें पनाह देने से इनकार कर दिया था। ऐसे कठिन समय में मदीना के लोगों ने उनकी सच्चाई को पहचाना और उनकी पुकार पर "लब्बैक" कहा। उस समय जब की मदीना के अंसार बैअत (पैग़म्बर के प्रति निष्ठा की प्रतिज्ञा) करने के लिए आगे बढ़े, तो एक आदमी ने खड़े होकर कहा, क्या तुम जानते हो कि तुम किस चीज़ पर बैअत (प्रतिज्ञा) कर रहे हो? यह अपने माल और अपनी औलाद को नष्ट करने की बैअत है। उन्होंने कहा, हाँ, हम यह बैअत कर रहे हैं। फिर उन्होंने पैग़म्बर से पूछा कि अगर हम इस बैअत के वादे को

आख़िर तक निभा दें, तो हमें क्या मिलेगा? आपने कहा — जन्नत। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 446) उन्होंने कहा, अपना हाथ बढ़ाइए, हम आपके हाथ पर बैअत करते हैं। खुद को किसी विवादित सच्चाई के हवाले कर देना, अपना सब कुछ एक ऐसी सच्चाई पर लगा देना जो अभी साबित भी नहीं हुई थी — यह इतनी अनोखी घटना है जो इतिहास में सिर्फ़ एक बार ही हुई है, न उससे पहले और न उसके बाद।

ग़ैर-ज़रूरी मुद्दों में न उलझना

रसूलुल्लाह जब इस दुनिया में आए, उस समय अरब में वे सभी समस्याएं पूरी तरह मौजूद थीं जिन्हें आज के समय में "राष्ट्रीय मुद्दे" कहा जाता है, और जिनके नाम पर अक्सर दुनिया में आंदोलन खड़े होते हैं। ये मुद्दे बुद्धिमान लोगों को प्रभावित करते हैं और वे इन्हीं नारों को लेकर खड़े हो जाते हैं। पैग़म्बर के समय में ये सभी मुद्दे मौजूद थे, लेकिन आपने इनमें से किसी में भी कोई दख़ल नहीं दिया। अगर आप इन मुद्दों में उलझते, तो यह अल्लाह की योजना में खुद को शामिल करने के खिलाफ़ होता। वे सारे मौक़े जो ढाई हज़ार साल की प्रक्रिया से तैयार किए गए थे, बर्बाद हो कर रह जाते।

1. हबश (इथोपिया) ने 525 ई. में अरब के सरहदी इलाके यमन पर क़ब्ज़ा कर लिया था। उस समय अबरहा, हबश के बादशाह की ओर से यमन का गवर्नर था। अबरहा का साहस इतना बढ़ चुका था कि पैग़म्बर की पैदाइश के साल (570 ई.) उसने हाथियों की सेना लेकर मक्का पर हमला किया ताकि काबा को नष्ट कर दे और मक्का की प्रमुख भूमिका को समाप्त कर दे। लगभग 50 साल के कब्जे के बाद यमन पर हबश की हुकूमत ख़त्म हुई और वहाँ ईरान के शाह (फ़ारस के बादशाह) की हुकूमत क़ायम हो गई, जिसकी ओर से बाज़ान यमन का गवर्नर नियुक्त हुआ।

जब पैग़म्बर (सल्ल०) को पैग़म्बरी मिली और इसकी ख़बर फ़ारस के बादशाह तक पहुँची, तो उसने बाज़ान को लिखा कि उस आदमी के पास

जाओ जो पैग़म्बर होने का दावा करता है, और उससे कहो कि वह यह दावा छोड़ दे। अगर वह नहीं मानता, तो उसका सिर काटकर मेरे पास भेज दो। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 69)

इससे अंदाज़ा होता है कि जब पैग़म्बर (सल्ल०) को अरब में नबूवत मिली, उस समय अरब की सीमाओं पर विदेशी क़ब्ज़ों ने कितने गंभीर हालात पैदा कर रखे थे। इन हालात में एक रास्ता यह था कि आप अपने लोगों को विदेशी क़ब्ज़ों के ख़िलाफ़ भड़काते और उनके ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ देते। लेकिन अगर आपने ऐसा किया होता तो यह ख़ुदा की योजना के विरुद्ध जाने के बराबर होता। क्योंकि ख़ुदा की योजना यह थी कि लोगों से ऐसे ग़ैर-ज़रूरी मामलों में टकराव न किया जाए, बल्कि चुपचाप ख़ुदा के संदेश को लोगों तक पहुँचाने का काम जारी रखा जाए। आपने यही किया, और इतिहास ने देखा कि आख़िरकार खुद बाज़ान पैग़म्बर (सल्ल०) के अच्छे साथी बन गए, और यमन के ईसाई निवासियों में से अधिकांश ने भी इस्लाम को अपना लिया । वह लक्ष्य जिसे कोई राष्ट्रीय नेता नाकाम तौर पर राजनीतिक तरीक़ों से पाने की कोशिश करता, वही आपने शांतिपूर्ण तरिक़े से अल्लाह के संदेश को लोगों तक पहुंचा कर हासिल कर लिया।

2. अबू तालिब की मृत्यु के बाद क़बाइली परंपरा के अनुसार बनू हाशिम क़बीले का सरदार अबू लहब नियुक्त हुआ। उसने पैग़म्बर को अपनी सुरक्षा में लेने से इनकार कर दिया। अब आपको किसी और समर्थन देने वाले क़बीले की ज़रूरत महसूस हुई। आप समर्थक की तलाश में अलग-अलग क़बीलों के पास गए। अरब का एक सरहदी क़बीला था—बनू शैबान बिन सालबा। जब आप उनसे मिले, तो क़बीले के सरदार मुसन्ना बिन हारिसा ने कहा, "हम फ़ारस के बादशाह की हुकूमत के क़रीब रहते हैं। यहाँ हम एक समझौते के तहत रहते हैं जो फ़ारस के बादशाह ने हमसे किया है। वह यह है कि हम कोई नई बात शुरू नहीं करेंगे और न ही किसी नई बात करने वाले को पनाह देंगे। और शायद जिस बात की ओर आप हमें बुला रहे हैं, वह बात शासकों को नापसंद हो।" (*सीरत इब्ने कसीर*, खण्ड 2, पृष्ठ 168)

इस घटना से यह समझा जा सकता है कि अरब के पडोसी राज्यों के प्रभाव ने कैसे-कैसे मुश्किल हालात पैदा कर दिए थे—जो सिर्फ़ राजनीतिक या राष्ट्रीय ही नहीं थे, बल्कि अल्लाह के संदेश को लोगों तक पहुँचाने के काम तक को प्रभावित कर रहे थे। इसके बावजूद आपने ऐसा नहीं किया कि यह कह कर उनसे लड़ाई छेड़ दें कि जब तक ये रुकावटें हटेंगी नहीं, तब तक अल्लाह का संदेश लोगों को नहीं दिया जा सकता। अगर आप पहले ही चरण में इन बाहरी ताक़तों से लड़ाई शुरू कर देते, तो यह अल्लाह की योजना के ख़िलाफ़ होता।

जैसा कि बाद में रोम और फारस के साम्राज्य आपस में लड़कर इतने कमज़ोर हो गए की मुसलमानों के लिए उनको हराना मुश्किल न रहा। यदि मुसलमान शुरु में ही उनसे युद्ध करने लगते, तो नतीजा बिल्कुल विपरीत होता। बाद में इन शक्तियों से युद्ध के जो चौंका देने वाले नतीजे सामने आये वो कभी न आते।

अल्लाह की योजना से मेल

किसान का मामला प्रकृति के दाँतेदार चक्र (Cogwheel) में अपना कंगूरा मिलाने जैसा है। अल्लाह ने हमारी धरती पर फसल उगाने की बेहतरीन संभावनाएँ पैदा की हैं। लेकिन इन संभावनाओं को अपने हक़ में बदलने के लिए किसान को अपना एक हिस्सा देना पड़ता है। उदाहरण के तौर पर, ज़मीन की सतह पर उपजाऊ मिट्टी की एक परत रखी गई है, जो अब तक की ज्ञात दुनिया में कहीं और नहीं पाई जाती। लेकिन ज़मीन कितनी भी उपजाऊ क्यों न हो, फसल तभी उगती है जब उसमें नमी होती है। नमी न होने की वजह से सूखे इलाक़ों के रेगिस्तान ख़ाली और बंजर बनकर रह गए हैं। इस सच्चाई को प्रकृति लाउडस्पीकर पर ऐलान करके नहीं बताती, बल्कि ख़ामोश इशारे की भाषा में बताती है। किसान को इस खामोश इशारे की भाषा को समझना होता है। इसलिए किसान या तो बारिश के बाद नम ज़मीन में फसल बोता है, या फिर सिंचाई के ज़रिए पहले उसमें नमी लाता है, फिर अपना बीज उसमें डालता है। ठीक यही मामला अल्लाह का पैग़ाम पहुँचाने वाले का होता है। पैग़म्बर मुहम्मद साहब के लिए अगरचे अरब में

बेहतरीन हालात बना दिए गए थे, फिर भी यह ज़रूरी था कि आप अल्लाह की हिकमत को ध्यान में रखते हुए अपना काम आगे बढ़ाएं। अगर आपका तरीक़ा अल्लाह की योजना के अनुसार न होता, तो आपको कभी वह सफलता नहीं मिलती जो वास्तव में आपको मिली।

1. पैग़म्बर के आह्वान (संदेश) का बुनियादी सिद्धांत यह था कि इस काम में पूरी अहमियत आखिरत (परलोक) के मसले को दी जाए। दुनिया से जुड़े मसले को किसी भी हालत में इस्लाम के संदेश का मुख्य विषय न बनाया जाए। इसकी वजह यह है कि यही मसला इंसान का स्थायी और असली मुद्दा है। बाक़ी सभी मुद्दे अस्थायी और सीमित महत्व रखते हैं। परलोक के बिना इंसान की सफलता भी उतनी ही अर्थहीन है जितनी उसकी नाकामी।

दूसरी बात यह है कि इंसानी ज़िंदगी में हर तरह की सफलता का ताल्लुक़ इंसान के चरित्र से है। और इंसान के अंदर असली और स्थायी चरित्र केवल परलोक पर गहरे विश्वास से ही पैदा होता है। परलोक में विश्वास का मतलब यह है कि इंसान आज़ाद और पूरी तरह अपने इरादे का मालिक नहीं है, बल्कि हर वक्त अल्लाह की निगरानी में है। यह विश्वास इंसान से भटकाव की प्रवृत्ति को छीन लेता है और उसे ज़िम्मेदार और अनुशासित इंसान बना देता है। अगर क़ुरान और हदीस को पक्षपात के बिना पढ़ा जाए, तो उनमें परलोक का मुद्दा सबसे ज़्यादा उभरा हुआ नज़र आता है। बाक़ी मुद्दों का ज़िक्र भी आता है, मगर वह अतिरिक्त रूप में होता है, न कि मूल रूप में।

2. दूसरी बात यह है कि संदेशवाहक और जिसके पास संदेश पहुँचाना है, उनके बीच किसी भी हालत में कोई दुनियावी चीज़ों को लेकर कोई झगड़ा खड़ा न होने पाए। जिस तक संदेश पहुँचाना है, उसे किसी भी हालत में विरोधी न बनने दिया जाए, चाहे इसकी जो भी कीमत चुकानी पड़े। पैग़म्बर की ज़िंदगी में इस नीति की एक ज़बरदस्त मिसाल "हुदैबिया की संधि" है। क़ुरैश ने मुसलमानों के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़कर यह हालात पैदा कर दिए थे कि मुसलमान और ग़ैर-मुसलमान दो अलग-अलग लड़ने वाले पक्ष बन गए थे। पूरा समय युद्ध की

बातें और तैयारी में बीतने लगा था। इसी समय पैग़म्बर ने क़ुरैश की हर शर्त मानते हुए उनसे दस साल की युद्धविराम संधि कर ली। यह समझौता इतना एकतरफा था कि बहुत से मुसलमानों ने इसे अपमानजनक माना। लेकिन अल्लाह की नज़र में यह एक "खुली जीत" (क़ुरान, 48:1) का दरवाज़ा था। क्योंकि इसके ज़रिए लड़ाई का माहौल ख़त्म हुआ और मुसलमानों व ग़ैर-मुसलमानों के बीच संदेशवाहक और संदेश पाने वाले का रिश्ता फिर से बन गया। नतीजा ये हुआ कि जैसे ही अरब के लोग लड़ाई छोड़कर आम इंसानों की तरह हो गए, उनके बीच इस्लाम की शिक्षा फैलने लगी। यहाँ तक कि सिर्फ़ दो साल में मुसलमानों की संख्या लगभग दस गुना बढ़ गई। मक्का जो युद्ध से जीता नहीं जा सकता था, वह शांति से जीत लिया गया।

3. पैग़म्बर के काम करने के तरीक़े का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह था कि जिन लोगों पर विजय हासिल हो गई हो, उनके साथ भी उदारता का बर्ताव किया जाए। इस बात की मिसालें पैग़म्बर की पूरी ज़िंदगी में फैली हुई हैं। मक्का की जीत के बाद क़ुरैश के वे सारे लोग पूरी तरह आपके क़ाबू में आ चुके थे जिन्होंने आपके साथ और मुसलमानों के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया था। लेकिन आपने अतीत के अपराधों के आधार पर किसी को सज़ा नहीं दी। सबको बिना शर्त माफ़ कर दिया। जब क़ुरैश के लोगों को बाँधकर आपके सामने लाया गया, तो आपने कहा: "जाओ, तुम सब आज़ाद हो।" (सीरत इब्न हिशाम, खण्ड 2, पृष्ठ 412) कुछ लोगों के बारे में आपने शुरू में सज़ा देने का आदेश दिया, लेकिन बाद में उनमें से भी हर उस व्यक्ति को माफ़ कर दिया गया जिसने खुद या उसकी ओर से किसी ने आकर आपसे रहम की अपील की। ऐसे सत्रह लोगों में से केवल पाँच को सज़ा दी गई, जिन्होंने माफ़ी नहीं माँगी थी।

उहुद की लड़ाई में वहशी बिन हरब ने हज़रत हमज़ा को शहीद कर दिया। फिर हिंद बिंत उतबा ने उनके शरीर को बुरी तरह नुकसान पहुँचाया। जब पैग़म्बर को यह पता चला, तो आपके मुंह से एक बार यह निकल गया कि—"अगर अल्लाह ने मुझे इन पर विजय दी, तो मैं उनके 30 लोगों के साथ ऐसा ही करूंगा।" (सीरत

इब्न कसीर, खण्ड 3, पृष्ठ 79) मक्का की जीत के बाद जिन 17 लोगों के बारे में मौत का आदेश दिया गया था, उनमें वहशी और हिंद दोनों शामिल थे। लेकिन जब दोनों ने आकर आपसे माफ़ी माँगी, तो दोनों को माफ़ कर दिया गया। क्योंकि यही तरीक़ा अल्लाह की योजना के अनुसार था।

यह सिद्धांत बहुत गहरी हिकमत पर आधारित है। इंसान पत्थर नहीं है कि अगर एक पत्थर को तोड़ा जाए, तो उसके पास के दूसरे पत्थर तोड़ने वाले के बारे में कोई प्रतिक्रिया न दें। इंसान एक ज़िंदा समाज का ज़िंदा हिस्सा होता है। जब किसी इंसान पर ज़ुल्म होता है, तो उसके करीबियों में बदले की भावना जाग उठती है। ऐसे ही समाज में प्रतिरोध की घटनाएँ जन्म लेती हैं। विजय (फतह) के बाद जो समय नए निर्माण में लगना चाहिए, वह समय उपद्रवियों से निपटने में लगने लगता है। पैग़म्बर ने मक्का की जीत के बाद अपने पुराने दुश्मनों को सामूहिक क्षमा देकर भविष्य के हर तरह के विद्रोह और बदले की भावना का रास्ता बंद कर दिया। इसके अलावा, उनमें से अधिकतर ने इस्लाम कबूल कर लिया और वही लोग इस्लाम की ताक़त बन गए—जैसे कि इक्रिमा बिन अबू जहल।

4. जीत और सत्ता मिलने के बाद समाज के कामकाज ठीक करने का काम सामने आया। यहाँ पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने जल्दी नहीं की, बल्कि सब्र के साथ एक-एक करके सुधार लागू किए।

मक्का के क़ुरैश, हज़रत इब्राहीम के धर्म के वारिस माने जाते थे। लेकिन उन्होंने असली इब्राहीमी धर्म को बिगाड़ दिया था और उसमें कई नयी बातें शामिल कर दी थीं। जैसे कि हज़रत इब्राहीम ने हज को चंद्र कैलेंडर (क़मरी साल) के हिसाब से ज़िल-हिज्जा महीने में रखा था। चंद्र वर्ष, सौर वर्ष (शम्सी साल) से ग्यारह दिन छोटा होता है। इसी वजह से चंद्र महीनों की तिथियाँ मौसम के साथ स्थिर नहीं रहतीं। हज कभी एक मौसम में आता और कभी दूसरे में। यह स्थिति क़ुरैश के व्यापारिक हितों के खिलाफ़ थी। इसलिए उन्होंने यह तरीक़ा अपनाया कि हज को हमेशा गर्मी के मौसम में रखा जाए। इसके लिए उन्होंने 'नसी' (कबीसा: अतिरिक्त दिन जोड़ने की विधि) का तरीक़ा अपनाया, जिसमें हर साल चंद्र महीनों में ग्यारह दिन जोड़ दिए जाते थे। नाम भले ही चंद्र महीनों का होता, लेकिन हक़ीक़त में

उसका साल सौर्य साल (Gregorian calendar) के मुताबिक चलता था। इस वजह से तारीखें 33 साल के लिए बदल जाती थीं। जब एक बार महीनों को अपनी जगह से हटा दिया जाता, तो 33 साल बाद फिर से हज असली ज़िल-हिज्जा में आता। पैग़म्बर पर यह जिम्मेदारी थी कि वे क़ुरैश की इन नई बातों को ख़त्म करें और हज को फिर से इब्राहीमी तरीक़े पर वापस लाएं। फ़तह मक्का (रमज़ान, 8 हिजरी) के बाद आप अरब के शासक बन गए थे। आप चाहते तो उसी समय 'नसी' की इस परंपरा को तुरंत ख़त्म करने की घोषणा कर सकते थे। लेकिन आपने धैर्य से काम लिया। उस समय 'नसी' के 33 साल के चक्र को पूरा होने में अभी दो साल बाक़ी थे। आपने दो साल इंतज़ार किया। मक्का पर विजय पाने के बावजूद, आपने दो साल तक हज में भाग नहीं लिया। आपने केवल तीसरे साल (10 हिजरी) में हज किया, जब यह 33 साल का चक्र पूरा हो चुका था और हज सही इब्राहीमी तारीख़ पर, ज़िल-हिज्जा में हो रहा था। उसी समय, हज के दौरान आपने यह घोषणा की कि इस साल हज जैसे हो रहा है, अब हर साल वैसे ही होगा। अब 'नसी' का नियम हमेशा के लिए ख़त्म किया जा रहा है। यही बात आपने अपने 'हज्जतुल विदा' के खुत्बे (संबोधन) में इन शब्दों में कही:

> "सुनो! आज ज़माना घूम कर फिर उसी स्थिति पर आ गया है, जिस पर था जब अल्लाह ने आकाश और धरती की रचना की थी। और अल्लाह की किताब में महीनों की संख्या 12 है।"
> (*मग़ाज़ी अल-वाक़िदी*, खण्ड 3, पृष्ठ 1112)

इस देरी में बहुत बड़ी भलाई थी। क्योंकि धर्म में जब कोई तरीक़ा लंबे समय तक चलता रहे, तो वह लोगों के लिए पवित्र बन जाता है। लोग उसके ख़िलाफ़ सोच भी नहीं पाते। चूंकि दो साल बाद खुद ही हज उन तारीख़ों पर आ रहा था जिन पर आप चाहते थे, इसलिए आपने पहले ही कोई क़दम उठाकर एक बेकार का विवाद खड़ा करने से परहेज़ किया। जब क़ुदरती ढंग से हज अपनी असली तारीख़ पर आ गया, तब आपने ऐलान कर दिया कि यही हज की असली तारीख़ है और अब आगे भी इन्हीं तारीख़ों में हज होगा।

यह कुछ उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि पैग़म्बर मुहम्मद ने किस तरह अपने पूरे अभियान में अल्लाह की दूरदर्शिता को ध्यान में रखा। आपने ख़ुदा के दाँतेदार चक्र (Cogwheel) में अपना काग मिलाया। आपने अल्लाह की योजना के अनुसार हर कार्य किया। यही वजह थी कि आपकी कोशिशों के बहुत ही महान और प्रभावशाल नतीजे निकले।

हालात से ऊपर उठकर

प्राचीन अरब के बारे में सोचिये। दक्षिण में अरब सागर और पूर्व व पश्चिम में फ़ारस की खाड़ी और लाल सागर (Red Sea) के बीच बना यह प्रायद्वीप गंभीर राजनीतिक उलझनों से घिरा हुआ था। अरब के पूर्व में ईरान था, जहाँ ताक़तवर सासानी साम्राज्य स्थापित था। उत्तर में रोम या बिज़ैन्टाइन (Byzantine) साम्राज्य था, जो प्राचीन समय का सबसे बड़ा साम्राज्य माना जाता था। इन दोनों साम्राज्यों ने अरब के भूगोल को अपनी राजनीति का मैदान बना रखा था। अरब के सबसे उपजाऊ इलाके सीधे उनके कब्ज़े में थे। इराक पर ईरानियों ने कब्ज़ा कर रखा था, जबकि शाम, जॉर्डन, फ़िलिस्तीन और लेबनान रोम साम्राज्य का हिस्सा बने हुए थे। अरब के पूर्व और पश्चिम में भले ही फ़ारस की खाड़ी और लाल सागर जैसी प्राकृतिक जल-रक्षक दीवारें थीं, लेकिन यह क्षेत्र भी ताक़तवर पड़ोसी साम्राज्यों की साज़िशों से सुरक्षित नहीं था। पूर्व से ईरान के जहाज़ी बेड़े, ओमान की खाड़ी पार करके आसानी से अरब के इलाक़ों में घुस आते थे। पश्चिम में, लाल सागर के उस पार के दोनों देश—मिस्र और हब्शा—रोमी साम्राज्य के अधीन थे, और वे इनके माध्यम से अरब के उस हिस्से में, जो देखने में सुरक्षित लगता था, किसी भी समय हस्तक्षेप कर सकते थे।

अरब के अंदरूनी क्षेत्र में क़बीलाई प्रमुखों की छोटी-छोटी रियासतें थीं, लेकिन रोमी और ईरानी साम्राज्यों के प्रभाव के कारण उनके लिए जीने का एकमात्र रास्ता यही था कि वे इन विदेशी साम्राज्यों की अधीनता स्वीकार करें और अपनी

राजनीतिक स्वतंत्रता एक सीमित क्षेत्र में बनाए रखें। उत्तर में, शाम की सरहद से लगा अरब राज्य गसासिना था, जो रोमी साम्राज्य के अधीन था और पैग़म्बर मुहम्मद के समय में वहाँ का शासक हारिस बिन अबी शमर ग़स्सानी था। इसी तरह एक और अरब राज्य बुसरा था, वो भी रोमी साम्राज्य के अधीन था। यहाँ रोमी संस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक था और इस प्रभाव की वजह से यहाँ की बड़ी आबादी ईसाई हो चुकी थी।

इराक की सरहद पर अरब राज्य हीरा था, जो ईरान के अधीन था। फ़ारस की खाड़ी के किनारे किनारे कई अरब राज्य थे और वे सब ईरान के अधीन थे। जैसे कि अरब राज्य बहरीन, जिसका शासक मुनज़िर बिन सावा था। यहाँ की बड़ी आबादी ईरानी संस्कृति के प्रभाव से अग्नि-पूजक (मजूसी) हो गई थी। अरब राज्य उमान, जिसके शासक जलंदी के दो बेटे, जैफ़र और अब्द थे। अरब राज्य यमामा, जिसका शासक हौज़ा बिन अली हनफ़ी था।

रोमी और ईरानी साम्राज्यों के बीच राजनीतिक होड़ के चलते अक्सर युद्ध होते रहते थे। इनमें रोम की अधीन अरब रियासतें (जैसे ग़सासिना) रोम का साथ देती थीं और ईरान की अधीन रियासतें (जैसे हीरा) ईरान का। इस तरह रोम और ईरान की आपसी लड़ाइयों में अरबों का खून भी बहुत बहता था।

प्राचीन यमन, आज के यमन से कहीं अधिक विस्तृत था। वहाँ विभिन्न क़बीलों की सरकारें स्थापित थीं। सबसे बड़ा यमनी क्षेत्र वह था जिसकी राजधानी सनआ (सना) थी। नज्रान भी उसी के भीतर आता था। यमन में बाहरी हस्तक्षेप की शुरुआत शायद 343 ईस्वी से होती है, जब रोम साम्राज्य ने वहाँ अपने ईसाई प्रचारक भेजने शुरू किए। इन ईसाई प्रचारकों को नज्रान में सफलता मिली और वहाँ की अधिकतर आबादी ईसाई बन गई।

धर्म के प्रचार की इस घटना में रोम का दुश्मन ईरान इसे एक राजनीतिक साजिश समझ बैठा। उन्हें लगा कि रोमी राजा अरब के दक्षिणी हिस्से में अपना असर

बढ़ाना चाहता है। इसका जवाब देने के लिए ईरानियों ने यमन की यहूदी जनजातियों को अपने साथ मिला लिया। ये वही लोग थे जिन्हें रोमी शासन ने 70 ईस्वी में शाम (Syria) से निकाल दिया था और जो वहां से निकलकर यमन आ गए थे। ईसाइयों और रोमियों के विरोध में यहूदी जल्दी ही ईरानियों से जा मिले। यूसुफ़ ज़ू नुवास नाम का एक अरब, जो बाद में यहूदी बन गया था, उसने ईरानियों की मदद से सनआ (यमन) में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। यह एक तरह की आधी स्वतंत्र स्थानीय सरकार थी, लेकिन ईरान के अधीन थी। यूसुफ़ ज़ू नुवास ने जब यमन की सत्ता संभाली तो उसने ईसाइयों को यमन से ख़त्म करने की कोशिश शुरू कर दी। यहाँ तक कि 534 ईस्वी में नजरान के बहुत से ईसाइयों को ज़िंदा जला दिया गया।

अब बारी रोम की थी। रोमी राजा ने यमन में ईसाई धर्म की रक्षा के नाम पर — और असल में फिर से अपना दबदबा क़ायम करने के लिए — एक योजना बनाई। उसने हबश (आज का इथियोपिया) के राजा नजाशी को इसके लिए तैयार किया। नजाशी खुद ईसाई था और रोमी शासन के अधीन था। रोमी राजा ने नजाशी को कहा कि वह यूसुफ़ ज़ू नुवास से बदला ले। नजाशी ने अपने एक सेनापति अरियात को सेना के साथ भेजा। थोड़ी ही लड़ाई में अरियात ने सनआ पर क़ब्ज़ा कर लिया। यूसुफ़ ज़ू नुवास ने समुद्र में कूदकर आत्महत्या कर ली। कुछ समय बाद अरियात की ही सेना के एक अधिकारी अब्राहा ने विद्रोह करके अरियात को मार डाला और नजाशी को मना लिया कि वह उसे यमन का शासक मान ले। यही अब्राहा था जिसने 571 ईस्वी में काबा पर हमला किया। अब्राहा के बाद उसका बेटा यक्सूम और फिर उसका दूसरा बेटा मसरूक़ राजा बना।

यमन के पहले के शासकों की पीढ़ी में एक व्यक्ति था — सैफ बिन ज़ी यज़न। उसे लगा कि अपने देश को बाहरी शासन से आज़ाद कराना चाहिए और अपने पुरखों की राजगद्दी को दोबारा हासिल करना चाहिए। उसने यमन में आज़ादी की एक

मुहिम चलाई। लेकिन सिर्फ स्थानीय मदद काफ़ी नहीं थी। इसलिए वह ईरान के राजा नौशेरवां के पास गया और उससे निवेदन किया कि वह अपनी सेना से यमन की आज़ादी में मदद करे। ईरानी राजा के लिए यह एक अच्छा मौक़ा था। उसने अपने एक सेनापति 'दहरज़' के नेतृत्व में सेना भेजने की सहमति दी। इसी बीच सैफ़ बिन ज़ी यज़न की मौत हो गई। लेकिन उसका बेटा मअदी-करिब ईरानी सेना को यमन लाने में सफल हो गया। ये लोग ओमान की खाड़ी पार करके हज़रमौत के किनारे पर उतरे और वहां से सनआ पहुंचे। मअदी-करिब ने ईरानी सेना की मदद से हबशी सेना को हरा दिया और उन्हें यमन से भगा दिया। अब वह सनआ का राजा बन गया, लेकिन ईरानी सेना वहीं बनी रही। मअदी करिब की मौत के बाद ईरानी सेना ने सनआ पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह सनआ ईरान का समुद्र पार एक इलाक़ा बन गया। जब इस्लाम यमन पहुंचा, तब वहां ईरान का राज्यपाल बाज़ान था — जो बाद में मुसलमान हो गया।

इन बातों से साफ़ पता चलता है कि जब पैग़म्बर मुहम्मद को नबी बनाकर भेजा गया, उस समय अरब का इलाक़ा ईरानी और रोमी वर्चस्व (नियंत्रण) के लिए रणभूमि बना हुआ था। ऐसे हालात में किसी सुधार करने वाले के सामने दो रास्ते थे — या तो समय की परिस्थितियों से प्रभावित होकर इन ताक़तों से सीधी राजनीतिक टक्कर ली जाए, या फिर अपने अंदर की शक्ति को इतना मज़बूत किया जाए कि बड़ी से बड़ी ताक़त भी बिना किसी टकराव के गिर जाए। पैग़म्बर ने पहला रास्ता नहीं अपनाया बल्कि उन्होंने दूसरा रास्ता चुना। क़ुरान की सूरा 105 (फील) और सूरा 106 (क़ुरैश) में अब्राहा के मक्का पर हमले की योजना का ज़िक्र है। लेकिन इसके जवाब में जो बात कही गई है, वह यह है कि 'काबा के पालनहार की इबादत करो' (106:3)। मतलब इस्लामी सोच यह है कि अगर कोई राजनीतिक चुनौती सामने हो, तो उसका हल भी अल्लाह की इबादत और आत्मिक मज़बूती से खोजा जाए।

पैग़म्बर (सल्ल०) की कार्य-शैली

इस्लाम का आरंभ 610 ईस्वी में हुआ, जब हज़रत मुहम्मद (570–632 ई.) पर पहली बार अल्लाह की ओर से संदेश (वह्य) उतरा। उस समय आप पूरी दुनिया में अकेले ऐसे व्यक्ति थे जो अल्लाह पर विश्वास करते थे और इस्लाम को मानने वाले थे। 622 ईस्वी में आपने मक्का से हिजरत (प्रवास) की और मदीना पहुँचे। वहां आपने पहली शासन-व्यवस्था की स्थापना की। उस समय यह इस्लामी शासन सिर्फ एक छोटे से शहर के कुछ हिस्सों तक सीमित था, क्योंकि मदीना का ज़्यादातर हिस्सा यहूदियों या उन अरब लोगों के कब्ज़े में था जिन्होंने अब तक इस्लाम स्वीकार नहीं किया था। लेकिन इसके ग्यारह साल बाद जब पैग़म्बर इस दुनिया से विदा हुए, तब तक इस्लामी राज्य लगभग दस लाख वर्ग मील (पूरा अरब और दक्षिणी फिलिस्तीन) में फैल चुका था। इसके बाद सौ साल से भी कम समय में इस्लाम एक ओर उत्तर अफ्रीक़ा के रास्ते स्पेन तक और दूसरी ओर ईरान के रास्ते चीन की सरहदों तक पहुंच गया। यूरोप के पूर्वी हिस्से में इस्लाम की आखिरी सीमा हंगरी का बुडापेस्ट था, जहां आज भी डेन्यूब नदी (Danube River) के किनारे "गुल बाबा" की तुर्की शैली की मज़ार इसका निशान है। फ्रांस के कुछ गिरजाघरों की मीनारों में ऐसे पत्थर लगे हैं जिन पर अरबी लिपि में शब्द खुदे हुए हैं। ये आठवीं सदी की यादगार हैं, जब फ्रांस का दक्षिणी हिस्सा दमिश्क़ के ख़लीफ़ा के अधीन यूरोपीय राज्य हुआ करता था। अरबों की यह क़ौम, जो ऊंट चराने से जीवन की शुरुआत कर रही थी, उसने हिजरत के केवल दो सौ वर्षों के अंदर यह दर्जा हासिल कर लिया कि वह दुनिया की अगुवाई करने लगी। ईरान का इस्तख़र, मिस्र का रमेसिस और यूरोप का रोम की जगह अब दुनिया का बौद्धिक और सांस्कृतिक केंद्र बग़दाद बन गया था।

यह शानदार कामयाबी एक बहुत ही सादा (simple) योजना के ज़रिए हासिल हुई, जिसे क़ुरान की इन आयतों में बताया गया है:

> "ऐ कपड़ा ओढ़ने वाले, उठ! और लोगों को चेतावनी दे, और अपने रब की बड़ाई बयान कर, और अपने व्यवहार को शुद्ध

> बना, और गंदी बातों को छोड़ दे, और ऐसा न कर कि किसी पर एहसान करके बदले की उम्मीद रखे, और अपने रब के लिए धीरज से काम ले।" (क़ुरान, 74:1–7)

अगर इस योजना का सार निकाला जाए तो यह तीन मुख्य बातों में समझाई जा सकती है:

1. अपना सुधार इस तरह कि अल्लाह की सच्चे दिल से इबादत की जाए, अपने आचरण को अच्छा बनाया जाए, और हर तरह की बुरी बातों और बुरे कामों से दूर रहा जाए।
2. दूसरों को यह समझाना कि हर इंसान सिर्फ एक ही अल्लाह का बंदा है और मरने के बाद उसे उसी अल्लाह के सामने हाज़िर होना है।
3. अपनी इस्लाह (सुधार) और दूसरों को चेतना देने की इस कोशिश में जो भी मुश्किलें और तकलीफ़ें आएं, उन पर सब्र किया जाए और अल्लाह के फ़ैसले का इंतज़ार किया जाए।

अंदरूनी शक्ति

इस्लाम की जो असली कोशिश है, वह एक इंसान की अपनी निजी कोशिश होती है। एक सच्चे ईमानदार को जो चीज़ आगे बढ़ने पर मजबूर करती है, वह बस यही जज़्बा होता है कि वह अल्लाह की माफ़ी प्राप्त कर सके। जब किसी के दिल में सच्चे तौर पर इस्लाम उतरता है, तो उसके सारे जज़्बात इसी बात पर टिक जाते हैं कि वह कैसे अपने रब की दयालुता और माफ़ी का हक़दार बने। वह अपने सोचने के तरीक़े, अपने विश्वास, अपने आचरण, अपने कर्म और अपनी पूरी ज़िंदगी को उस रास्ते पर ले जाने की चिंता करने लगता है जो उसे आख़िरत (परलोक) में अल्लाह की सज़ा से बचा सके। वह दूसरों को इस्लाम की तरफ़ बुलाने से पहले खुद "सबसे पहला मुसलमान" बनने की कोशिश करता है:

> "कह दो, मुझे हुक्म दिया गया है कि मैं सबसे पहला मुस्लमान (अल्लाह के आगे झुकने वाला) बनूं।" (क़ुरान, 6:14)

"सबसे पहला मुसलमान" बनना, सोच और नीयत के हिसाब से एक बिल्कुल निजी बात होती है। लेकिन उसके नतीजे इतने बड़े हो सकते हैं कि वह एक बहुत बड़ी समाजिक (सामूहिक) बात बन जाती है। यह कुछ ऐसा है जैसे अंदर ही अंदर एक ज्वाला बन रहा हो जो बाहर से दिखता नहीं, लेकिन जब निकलता है तो पूरे माहौल को अपने असर में ले लेता है।

क़ुरान के उतरने की ये क्रमबद्धता थी कि शुरू में वे सूरतें (अध्याय) उतरीं जिनमें अंदरूनी (आत्मिक और नैतिक) सुधार पर ज़ोर दिया गया, और बाहरी सुधार से जुड़े आदेश बाद में आए—इसकी व्याख्या करते हुए मोहम्मद मार्माड्यूक पिकथॉल (1875–1936) ने क़ुरान के अपने अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा है कि इसमें एक गहरी सूझ-बूझ छुपी हुई है। वह यह कि पैग़म्बर को मिलने वाली वह्य (अल्लाह का संदेश) पहले अंदरूनी मामलों से शुरू होती है और फिर बाहरी चीज़ों की ओर बढ़ती है।

> The inspiration of the Prophet progressed from inmost things to outward things.

अक्सर लोग अमल (कर्म) का मतलब यह समझते हैं कि बाहरी दुनिया के ख़िलाफ़ आक्रमण शुरू कर दिया जाए। लेकिन असल और गहरा अमल यह है कि अपने अंदर को इतना मज़बूत बनाया जाए कि जब वह फटे, तो कोई भी चीज़ उसकी पहुँच से बच न सके। अंदरूनी ताक़त से मतलब कोई आध्यात्मिक साधना या "अमलियात" नहीं है, बल्कि वही चीज़ है जिसे क़ुरान में ईमान, नेक काम और सब्र कहा गया है। अपनी आत्मा और अपने दिल-दिमाग की गहराइयों में अल्लाह की सच्चाइयों को उतारना, अपने आप को अनुभूति के स्तर पर अधिक से अधिक आख़िरत की दुनिया से जोड़ना, अपने को पूरी तरह से इस सोच में ढाल लेना कि मेरा किसी पर कोई हक़ नहीं है, इस दुनिया में मेरी केवल ज़िम्मेदारियाँ ही ज़िम्मेदारियाँ हैं। अल्लाह के रास्ते में जो भी पेश आए, उसे चुपचाप अपने ऊपर लेते रहना चाहिए, बजाय इसके कि उसे दूसरों पर डालने की कोशिश की जाए।" बस यही वे चीज़ें हैं जिन्हें अपनी अंतरात्मा को ताक़तवर बनाना कहा जाता है।

पैग़म्बर मुहम्मद इन सब बातों का पूर्ण आदर्श बन गए। यही वजह है कि उनकी शख्सियत इतनी प्रभावशाली हो गई कि जो भी उनके दायरे में आया, वह उन पर मोहित हो गया। उनका यह अंदरूनी तूफ़ान जब फटा, तो वह इतना व्यापक सिद्ध हुआ कि लगभग पूरी आबाद दुनिया ने उसके असर को महसूस किया।

हिंदी साहित्यकार सरदार पूरण सिंह (1882–1931) के एक लेख का शीर्षक है "वीरता"। इसमें उन्होंने पैग़म्बर-ए-इस्लाम को इतिहास का सबसे बड़ा वीर (बहादुर) बताया है जो "अरब के रेगिस्तान को बारूद की तरह आग लगा गए। 'कुल पृथ्वी भय से कांप उठी।' जो लोग उनके सामने आए, वे उनके दास बन गए।" वह वीरता क्या है जो किसी को इतना बलशाली बना देती है — उन्हीं के शब्दों में पढ़िए:

> "अपने आप को हर घड़ी, हर पल महान से भी महानतम बनाने का नाम वीरता है। कायर पुरुष कहते हैं, 'आगे बढ़ो, चलो', वीर कहते हैं, 'पीछे चलो।' कायर कहते हैं, 'तलवार उठाओ', वीर कहते हैं, 'सिर आगे करो।' वीरों की नीति बल को हर तरह से इकट्ठा करने और बढ़ाने की होती है। वीर तो अपने अंदर ही अंदर आगे बढ़ते हैं, क्योंकि वे हृदय के आकाश के केंद्र में खड़े होकर पूरे संसार को हिला सकते हैं। वह कैसा वीर जो टिन के बर्तन की तरह झट गर्म और झट ठंडा हो जाए? सदियों तक नीचे आग जलती रहे, तो भी शायद ही वह गर्म हो, और हज़ारों वर्षों तक बर्फ़ उस पर जमती रहे, तो भी उसकी आत्मा तक ठंडी नहीं होती। लोग कहते हैं, 'काम करो, काम करो', पर हमें ये बातें निरर्थक लगती हैं। पहले काम करने की काबिलियत पैदा करो, अपने अंदर ही अंदर वृक्ष की तरह बढ़ो। दुनिया किसी कूड़े के ढेर पर नहीं खड़ी कि जिस मुर्गे ने बांग दी वही सिद्ध हो गया। दुनिया धर्म और अटल आध्यात्मिक नियमों पर खड़ी है — जो अपने आप को इन नियमों के साथ एकरूप कर के खड़ा हुआ, वह विजयी हुआ।" (*निबंध चेयनिका*, सं. महेन्द्र चतुर्वेदी)

इस "वीरता" या अंदरूनी ताक़त का राज़ कोई रहस्यमय साधनाएँ या आध्यात्मिक कसरतें नहीं हैं, जो एकांत में बैठ कर की जाती हैं। "अमलियात" के ज़रिए जो ताक़त हासिल होती है, वह पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों की दुनिया में कुछ चमत्कार दिखा सकती है, लेकिन ज़िंदगी की वास्तविक चुनौती में वह एक दिन भी किसी के काम नहीं आती। असली ताक़त तो वही है जो जीवन की कठिन परिस्थितियों में इंसान को विजयी बनाए।

भीतरी शक्ति वास्तव में उस स्थिति का नाम है, जब इंसान अपने आप को अपने मन की इच्छाओं और कमज़ोरियों से आज़ाद करके उस उच्च मानसिक स्तर पर पहुँचा दे, जहाँ उसके फैसलों में निजी लाभ या सांसारिक असर का कोई स्थान न रहे। और हदीस के शब्दों में वह "ऐ मेरे अल्लाह, हमें चीज़ों को वैसा ही दिखा जैसा वे वास्तव में हैं" (*तफ्सीर-ए-राज़ी*, खण्ड 1, पृष्ठ 119) के मुकाम तक पहुँच जाए। ज़िद, ग़ुस्सा, लालच, नफ़रत, सत्ता की भूख, आत्म-मोह, व्यक्तिगत स्वार्थ और इस तरह की प्रवृत्तियाँ उसकी राय और फ़ैसलों को प्रभावित करने के लिए उसके चारों ओर मौजूद न रहें। ऐसा व्यक्ति बेहद प्रभावशाली हो जाता है। वह हर कसौटी पर खरा उतरता है। उसकी हर कार्रवाई लोहे के हथौड़े जैसी प्रभावशाली साबित होती है। उसके फैसलों में समस्या के सभी संभावित और असंभावित पहलुओं का ध्यान रखा जाता है। विरोध भी उसकी सच्चाई और क्षमता को और निखार देने वाला बन जाता है।

यहां हम मक्का की फतह के तुरंत बाद सामने आने वाली एक स्थिति का ज़िक्र करेंगे, जिसने एक साथ कई समस्याएं खड़ी कर दीं, लेकिन इस्लाम के पैग़म्बर की बहादुरी या आपकी अंदरूनी ताक़त ने हर हर समस्या को हल कर दिया। इस अंदरूनी ताक़त का ज़ाहिर होना कभी माफ़ करने के रूप में हुआ, कभी ऊँचे हौसले और अल्लाह पर भरोसे के रूप में। कभी आप इसलिए सफल हुए क्योंकि आपको वह दूरदर्शिता मिली थी जो हमेशा भविष्य को देखती थी। कभी आपके बर्ताव ने यह साबित कर दिया कि जो खुद को निस्वार्थ बना लेता है, वह इतना ऊँचा दर्जा पा लेता है कि फिर कोई उसे नीचा नहीं कर सकता।

हिजरत के आठवें साल जब आपने मक्का पर विजय पाई तो क़ुरैश के कुछ लोग भागकर हवाज़िन और सक़ीफ़ के क़बीलों में पहुंच गए और उन्हें उकसा कर एक

नई लड़ाई के लिए तैयार कर दिया। वे लोग अपनी तमाम क़बीलाई शाखाओं को जमा करके 20 हज़ार की संख्या में एकत्र हो गए। हुनैन में मुकाबला हुआ। युद्ध की शुरुआत में ही हवाज़िन के तीर चलाने वालों ने, जो घाटी में छुपकर बैठे थे, इस्लामी सेना पर इतनी तेज़ तीरबाज़ी की कि मुसलमानों के पैर उखड़ गए और 12 हज़ार की सेना में से ग्यारह हज़ार से ज़्यादा लोग भाग खड़े हुए। हालांकि इतिहास बताता है कि शुरुआती हार के बाद आखिरकार मुसलमानों को बहुत बड़ी जीत मिली। इस जीत का राज़ पैग़म्बर की वही अंदरूनी ताक़त थी, जो इस नाज़ुक मौके पर दिल की शांति (क़ुरान, 9:26) और अल्लाह पर भरोसे के रूप में सामने आई। और इसने अचानक बाज़ी पलट दी। आपने दुश्मनों के बीच खड़े होकर यह शेर पढ़ा:

أَنَا النَّبِيُّ لاَ كَذِبْ أَنَا ابْنُ عَبْدِ الْمُطَّلِبْ

"मैं पैग़म्बर हूं, यह कोई झूठ नहीं, मैं अब्दुल मुत्तलिब का बेटा हूं।"

आपने ज़ोर से पुकार कर कहा: "ऐ अल्लाह के मददगारो, और उसके पैग़म्बर के मददगारो! मैं अल्लाह का बंदा और उसका पैग़म्बर हूं" हज़रत अब्बास की आवाज़ बहुत ऊँची थी। आपके आदेश से उन्होंने ज़ोर से कहा: "ऐ शजरतुर-रिज़वान (यह वह पेड़ था जिसके नीचे हज़रत मुहम्मद ने हुदैबिया में अपने साथियों से वफ़ादारी की शपथ ली थी।) के साये में बैठ कर सब कुछ कुर्बान करने की बैअत करने वालो, कहां हो?" (*मग़ाज़ी वाक़िदी*, खण्ड 3, पृष्ठ 897-899)। जब लोगों ने देखा कि उनके पैग़म्बर अपनी जगह खड़े हैं और दुश्मनों के तेज़ हमले भी उन्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचा सके, तो उन्हें यक़ीन हो गया कि ख़ुदा की मदद उनके साथ है। वे नए जोश के साथ मैदान-ए-जंग की तरफ़ लौट पड़े। यहां तक कि जिसके ऊँट ने मुड़ने में देर की वह अपनी सवारी से कूद कर पैदल आपकी तरफ़ दौड़ पड़ा। अब लड़ाई का नक्शा बदल गया। दुश्मन की पंक्तियों में भगदड़ मच गई। मुसलमानों को जीत मिली और बहुत सारा माल-ए-ग़नीमत हाथ आया — जिसमें 24 हज़ार ऊँट, 40 हज़ार बकरियां, 4 हज़ार चांदी के सिक्के और 6 हज़ार क़ैदी थे।

इस जीत के बावजूद समस्या ने एक बार फिर नई और ज़्यादा मुश्किल शक्ल ले ली। सक़ीफ़ क़बीला, जो क़ुरैश के बाद अरब का दूसरा सबसे ताक़तवर क़बीला था और अरब के एकमात्र चार-दिवारी वाले शहर का मालिक था — तायफ़ में क़िले में छिप गया। तीन हफ़्तों की घेराबंदी में उन्होंने मुसलमानों को इतना नुक़सान पहुँचाया जितना हुनैन की लड़ाई में नहीं पहुंचा था। उनकी हठ इतनी थी कि इस दौरान तायफ़ का एक आदमी पैग़म्बर (सल्ल०) की सेवा में आया और उसने इस्लाम स्वीकार किया। यह आदमी उर्वह बिन मसऊद सक़फ़ी थे जो अपने क़बीले में "कुंवारी लड़की की तरह प्यारे" थे। मगर जब वह इस्लाम स्वीकार करके तायफ़ गए तो तायफ़ वालों ने उन्हें तीर मार-मार कर मार डाला।

यहां आपकी अंदरूनी ताक़त एक और रूप में ज़ाहिर हुई। जब घेराबंदी सख़्त हो गई, तो हज़रत उमर ने नबी (सल्ल०) से कहा कि आप तायफ वालों के लिए बद-दुआ करें। मगर आपने उनके लिए हिदायत की दुआ की। आपने ग़ुस्से और बदले के जज़्बे में उनके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की। तीन हफ़्तों के बाद आपने सेना को आदेश दिया कि वापस लौट चलो। फिर आप जिअराना के मक़ाम तक पहुंचे जहां हुनैन की लड़ाई का माल-ए-ग़नीमत जमा था। यहां आपके पास मौक़ा था कि सक़ीफ़ की ज़िद का बदला उनके साथी हवाज़िन से लें, मगर इसके उलट आपने ये किया कि हवाज़िन क़बीले के कुछ लोगों की एक अर्ज़ी पर उनके सारे के सारे 6 हज़ार क़ैदी रिहा कर दिए और उन्हें कपड़े व सफ़र का सामान देकर उनके घरों को भेज दिया। यह दरियादिली और बड़े दिल के इस व्यवहार ने ऐसा असर दिखाया कि हवाज़िन के सारे लोग पैग़म्बर (सल्ल०) के साथी बन गए।

इस घटना का तायफ वालों पर गहरा असर पड़ा। हवाज़िन और सक़ीफ़ एक ही बड़े क़बीले की शाखाएं थीं। जब सक़ीफ़ को हवाज़िन के अनुयाई बन जाने की ख़बर मिली तो यह उनके लिए घेराबंदी से भी ज़्यादा भारी साबित हुई। उन्हें महसूस हुआ कि उनका दायां हाथ टूट गया है और अब वे मुक़ाबले में सफल नहीं हो सकते।

> "फिर सक़ीफ़ क़बीले ने आपस में सलाह की और देखा कि उनके पास अब अपने चारों ओर के अरबों से लड़ने की

> ताक़त नहीं रही। वे सब लोग पैगम्बर (सल्ल०) के साथी बन चुके हैं और बैअत कर चुके हैं।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 538)

हिजरत के नौवें साल (630 ईस्वी) तायफ़ का एक प्रतिनिधिमंडल मदीना आया। उन्होंने रसूलुल्लाह का अनुयाई बनने की पेशकश की, मगर साथ ही अपने लिए अजीब-अजीब शर्तें रखीं — "उनकी ज़मीन को फौजी रास्ता नहीं बनाया जाएगा, वे ज़कात नहीं देंगे, इस्लाम की ख़िदमत में हिस्सा नहीं लेंगे, नमाज़ नहीं पढ़ेंगे, और उन पर कोई दूसरा शासक नहीं होगा।" आपने फ़रमाया, "तुम्हारी सारी शर्तें मंजूर हैं, लेकिन उस धर्म में कोई भलाई नहीं जिसमें रुकू (अल्लाह के आगे झुकना) न हो।" (*मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 17913)। आपके साथियों को इतनी छूट देना अजीब लगा, मगर आपकी नज़रें भविष्य को देख रही थीं। आपने उन्हें यह कहकर संतुष्ट कर दिया:

> "जब ये लोग इस्लाम में आ जाएंगे तो अपने आप ज़कात भी देंगे और इस्लाम की ख़िदमत में भी भाग लेंगे।" (*सुनन अबू दाऊद*, हदीस संख्या 3025)

इमाम अहमद ने हज़रत अनस से बयान किया है कि जब भी किसी ने पैग़म्बर (सल्ल०) के संदेश को मानने के लिए उनसे कोई चीज़ मांगी, आपने ज़रूर दी (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 2312)। एक आदमी पैग़म्बर (सल्ल०) के पास आया। आपने उसके लिए इतनी बकरियां देने का आदेश दिया जो दो पहाड़ों के बीच आंखों की हद तक फैली थीं। वह आदमी अपनी क़ौम में गया और बोला: "ऐ मेरी क़ौम, तुम इस्लाम कबूल कर लो, क्योंकि मोहम्मद इतना ज़्यादा देते हैं कि उन्हें कभी कमी का डर नहीं होता।" रावी कहते हैं:

> "कोई आदमी पैग़म्बर के पास आता, उसका इरादा सिर्फ़ दुनिया होता, मगर शाम तक ऐसा होता कि रसूलुल्लाह का दीन उसे दुनिया और उसमें जो कुछ है उससे ज़्यादा प्यारा लगने लगता।" (*मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 14029)

ह़वाज़िन और स़क़ीफ़ का मसला हल हुआ ही था कि एक और गंभीर मामला सामने आ गया। ह़वाज़िन की जीत के बाद जो बड़ी मात्रा में माल-ए-ग़नीमत मिला था, उसे आपने मक्का के नए मुसलमानों में खुले दिल से बांट दिया। यह बात अंसार के कई लोगों को बुरी लगी। उन्हें लगा कि मक्का पहुंचकर पैग़म्बर पर "कुरैश-प्रेम" हावी हो गया और आपने अपने रिश्तेदारों को खुश करने के लिए सारा माल उन्हें दे दिया। यह एक बहुत नाज़ुक मसला था। मगर आपने जो किया था, वह भावनाओं से ऊपर उठकर किया था। इसलिए आपके पास इसका जवाब देने के लिए एक बहुत असरदार तरीक़ा था।

आपने अंसार के सभी लोगों को एक जगह इकट्ठा किया और खड़े होकर फ़रमाया:

> "ऐ अंसार! यह क्या बातें हैं जो मेरे कानों तक पहुंच रही हैं? क्या यह सच नहीं कि तुम रास्ता भटके हुए थे, मेरे ज़रिए ख़ुदा ने तुम्हें रास्ता दिखाया? तुम गरीब थे, मेरे ज़रिए ख़ुदा ने तुम्हें अमीर बनाया? तुम एक-दूसरे के दुश्मन थे, फिर ख़ुदा ने मेरे ज़रिए तुम्हें जोड़ दिया?" लोगों ने कहा: "हाँ।" आपने दोबारा कहा:
>
> "ख़ुदा की क़सम! तुम चाहो तो कह सकते हो— और अगर कहो तो सच कहोगे — कि (ऐ पैग़म्बर) आप हमारे पास ठुकराए हुए आए थे, हमने आपको सच्चा माना। आप असहाय आए थे, हमने आपकी मदद की। आप बेघर थे, हमने आपको आसरा दिया। आप ग़रीब थे, हमने आपकी सहायता की। तो ऐ अंसार के लोगो! क्या तुम थोड़ी सी दुनिया की चीज़ को लेकर दिल में शिकायत पाल बैठे, जिससे मैंने कुछ लोगों को इसलिए दिया कि वे इस्लाम में आएं, और तुम्हें उस चीज़ का भरोसा दिलाया जो ख़ुदा ने तुम्हें दी है — यानी इस्लाम? क्या तुम इससे खुश नहीं कि लोग ऊँट और बकरियां लेकर लौटें, और तुम ख़ुदा के

पैग़म्बर को अपने साथ लेकर जाओ?" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 499-500)

यह भाषण सुनकर सभी लोग रो पड़े। उन्होंने ज़ोर से कहा: "हमें अल्लाह के रसूल ही चाहिए।"

इसी तरह आपकी अंदरूनी ताक़त एक ऐसी चाबी बन गई जिसने हर बंद दरवाज़ा खोल दिया। आपकी शख्सियत की बाढ़ के आगे कोई चीज़ टिक नहीं सकी।

आपका निशाना अल्लाह का संदेश देना

पैग़म्बर (स्ल्ल०) ने मक्का में जो व्यावहारिक संघर्ष (जिद्दोजहद) शुरू किया, उसकी सबसे अहम बात यह थी कि वह बाहरी दुनिया के विरोध में किसी प्रतिक्रिया के रूप में नहीं शुरू हुआ, जैसा कि आमतौर पर होता है। बल्कि वह आपके अपने सकारात्मक विचार के आधार पर तय किया गया था। जब आपकी पैग़म्बरी शुरू हुई, तो आपके आस-पास वे तमाम हालात पूरे जोर-शोर के साथ मौजूद थे, जो अक्सर किसी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक आंदोलन की बुनियाद बनते हैं। लेकिन आपने इनमें से किसी को भी अपने पैग़ाम (संदेश) का विषय नहीं बनाया। बल्कि पूरी एकाग्रता और अमन के साथ ऊपर बताए गए अपने कार्यक्रम की ओर शांतिपूर्ण संघर्ष की शुरुआत की।

मुहम्मद (स्ल्ल०) के नबी बनने का जो समय था, उस वक्त उनका देश बड़ी ताकतों की शिकार-गाह बना हुआ था। ख़ासकर अरब का वह हिस्सा जो ज़्यादा उपजाऊ और अमीर था, वह पूरी तरह बाहर वालों के क़ब्जे में था। अरब के उत्तर में जो शाम का इलाक़ा था, वह पूरा रोम की हुकूमत के अधीन था। वहां अरब के कुछ सरदार रोम के अधीन सरकार चला रहे थे। इसी तरह दक्षिण में यमन का इलाक़ा ईरान के क़ब्जे में था। उस वक्त वहां ईरान का जो अफ़सर था, उसका नाम बाज़ान था। अरबों के पास बस हिजाज़, तिहामा और नज्द के कुछ हिस्से ही थे। इनके अलावा कुछ बंजर रेगिस्तानी ज़मीनें थीं, जिनमें कहीं-कहीं थोड़ी उपजाऊ ज़मीन मिलती थी। जब ईरानी राजा (किसरा) ने पैग़म्बर (स्ल्ल०) का भेजा हुआ

ख़त फाड़ दिया और गुस्से से कहा कि "ये मेरा गुलाम होकर मुझे चिट्ठी भेजता है!" (*तारीख़ अल-तबरी*, खण्ड 2, पृष्ठ 655), तो इसकी वजह यही राजनीतिक हालात थे।

पैग़म्बर की पैदाइश के साल (570 ई.) मक्का पर अब्रहा ने जो हमला किया था, वह भी इसी तरह की लालच और क़ब्ज़े की सोच का हिस्सा था। इस्लाम से पहले काबा मूर्तियों का घर बन गया था। अलग-अलग क़ौमें और क़बीले अपनी मूर्तियाँ वहां रखते थे। इस वजह से काबा उनके लिए एक पवित्र जगह बन गया था। लोग साल भर मक्का आते थे, ताकि अपने देवी-देवताओं की पूजा कर सकें और चढ़ावे चढ़ा सकें। इससे मक्का का व्यापार भी अच्छा चलता था। अब्रहा ने चाहा कि यह व्यापार अपने इलाके सनआ की तरफ़ खींच ले। वह दक्षिणी अरब में हब्शी फौजों का प्रमुख था और हब्शा के बादशाह के अधीन था। उसने हब्शा की और से नियुक्त यमन के शासक को मार डाला और खुद हुकूमत अपने हाथ में ले ली। मजबूरी में हब्शा के राजा नजाशी ने उसे यमन का शासक मान लिया। अब्रहा ईसाई था। उसने सनआ में एक बड़ा गिरजाघर बनवाया और चाहता था कि लोग वहां ज़ियारत के लिए आएं ताकि मक्का की अहमियत कम हो जाए। लेकिन जब ये सब कोशिशें नाकाम हो गईं, तो उसने तय किया कि मक्का के काबा को गिरा देगा, जिससे लोग मक्का की जगह सनआ आने लगें। चूंकि वह हाथियों की फौज लेकर आया था, इसलिए उसे "हाथी वाला" कहा गया। यह घटना इतनी मशहूर हुई कि जहां-जहां से वह गुज़रा, वहां के नाम हाथी से जोड़ दिए गए — जैसे "हाथी का रास्ता", "हाथी का कुआं" और "हाथी का दरवाज़ा"। जिस साल यह घटना हुई, उसे "हाथी का साल" कहा जाने लगा।

ऐसे हालात में अगर कोई आम सरदार (leader) होता, तो वह अपने देश की आज़ादी के लिए कोई राजनीतिक आंदोलन शुरू करता, और लोगों को बाहरी ताक़तों के खिलाफ़ भड़काता। लेकिन पैग़म्बर (स्ल्ल०) ने ऐसा कुछ भी नहीं किया।

इसी तरह, उस वक्त की अरब की ज़मीन सूखी और बंजर थी, जिसकी वजह से वहां कोई ठोस आर्थिक व्यवस्था नहीं बन सकी थी। यह वहां के हर इंसान की

बड़ी परेशानी थी और आसानी से इसे लेकर कोई क्रांतिकारी आंदोलन शुरू किया जा सकता था। लेकिन पैग़म्बर ने इस तरह के किसी भी आर्थिक नारे से पूरी तरह दूरी बनाए रखी। एक बार मक्का के कुछ बड़े लोग सूरज डूबने के बाद काबा के सामने जमा हुए और पैग़म्बर को बातचीत के लिए बुलाया। जब उन्होंने अपना संदेश सुनाया, तो उन्होंने कहा:

> "ऐ मुहम्मद, आप जानते हैं कि हमारा देश कितना तंग है। हमसे ज़्यादा बदहाल, सूखा-ग्रस्त और कठिन जीवन किसी का नहीं है। अपने उस रब से, जिसने आपको भेजा है, कहिए कि ये सूखी पहाड़ियाँ हमारे रास्ते से हटा दे जिसने हमारे ऊपर ज़िन्दगी तंग कर दी है, हमारी ज़मीन को फैलाए और उसमें वैसी नदियाँ बहा दे जैसी शाम और इराक़ में हैं।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 296)

यह बात मक्का के सरदारों ने उस स्थिति को देखते हुए कही थी कि नज्द और हिजाज़ की पहाड़ियाँ समुद्री हवाओं को रोक देती हैं। इसी कारण यहाँ शाम और इराक़ की तरह बारिश नहीं होती और पूरा इलाका सूखा रहता है। इस तरह यह आर्थिक परेशानी आपको एक ज़बरदस्त मौक़ा दे रही थी कि आप एक आर्थिक मिशन लेकर खड़े हों और अचानक लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींच लें। लेकिन आपने इस तरह के मुद्दों की तरफ़ कोई सीधी नज़र नहीं डाली, बल्कि आपने खुद को पूरी तरह केवल एकेश्वरवाद (क़लिमा-ए-तौहीद) के संदेश को पहुँचाने में लगा दिया। हालाँकि बाद की तारीख़ ने यह साबित कर दिया कि अल्लाह का संदेश लोगों तक पहुँचाने में हर तरह के राजनीतिक और आर्थिक विकास की संभावनाएँ भी छिपी होती हैं। लेकिन ये संभावनाएँ एक अप्रत्यक्ष नतीजे के तौर पर सामने आती हैं, न कि सीधे संघर्ष के रूप में।

पैग़म्बर (स्ल्ल०) की पूरी ज़िंदगी इस बात का सबूत है कि आपके लिए असली महत्व अल्लाह के संदेश को लोगों तक पहुँचाना था। जब आपको पैग़म्बरी मिली तो आपने बाक़ी सभी बातों को छोड़ कर अपना सारा ध्यान इसी पर केन्द्रित

कर दिया। आपने अपने परिवार के लोगों से कहा कि मुझे ख़ुदा ने अपना संदेश पहुँचाने के काम पर नियुक्त किया है, तुम लोग मेरा साथ दो। आपने अपने परिवार के लोगों को खाने पर बुलाया। ये लगभग चालीस लोग थे, जिनमें से तीस लोग जमा हुए। जब वे खाना खा चुके, तो आपने तक़रीर की, लेकिन कोई भी आपका साथ देने के लिए खड़ा नहीं हुआ:

> "ऐ बनू अब्दुल मुत्तलिब! मैं तुम लोगों की तरफ़ ख़ास तौर पर और तमाम लोगों की तरफ़ आम तौर पर भेजा गया हूँ। (*फ़ज़ाइलुस्सहाबा*, अहमद बिन हंबल, हदीस संख्या 1220)

दूसरी रिवायत में है कि आपने कहा: तुम में से कौन है जो मेरे क़र्ज़ों और मेरे वादों की जिम्मेदारी मेरी तरफ़ से लेगा और जन्नत में मेरे साथ होगा और मेरे परिवार में मेरा प्रतिनिधि बनेगा?" (*मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 883)

एक और रिवायत में है कि: फिर रसूलुल्लाह (सल्ल०) ने यही बात दोबारा कही, तो हज़रत अली ने कहा: "मैं, ऐ अल्लाह के रसूल!" आपने फरमाया: "तुम, ऐ अली! तुम, ऐ अली!" (*मुसनद अल-बज़्ज़ार*, हदीस संख्या 456)

एक बार अबू जहल ने आपको पत्थर फेंक कर मारा जिससे खून बहने लगा। यह ख़बर आपके चाचा हम्ज़ा को पहुँची। वे भले ही उस समय मुसलमान नहीं हुए थे, लेकिन पारिवारिक हमदर्दी जोश में आ गई। उन्होंने अबू जहल के पास जाकर उसे मारा और फिर आपके पास आकर बोले: "भतीजे! मैंने तुम्हारा बदला ले लिया।" आपने फ़रमाया: "चचा! मुझे इसमें ज़्यादा खुशी होती कि आप इस्लाम की सच्चाई को को मान लेते।"

इसी तरह एक बार क़ुरैश के लोग अबू तालिब के पास आए और कहा:

> "ऐ अबू तालिब! तुम्हारा भतीजा हमारे इकट्ठे होने की जगहों और हमारी बैठकों में आता है और हमें वो बातें सुनाता है जो हमें तकलीफ़ देती हैं। अगर हो सके तो उसे हमारे पास आने से रोक दो।"

अबू तालिब ने अपने बेटे अक़ील के ज़रिए रसूलुल्लाह को बुलाया और उनसे क़ुरैश की बात कही। आपने अपनी नज़र आसमान की तरफ़ उठाई और कहा, "ख़ुदा की क़सम, मैं उस संदेश को छोड़ देने की ताक़त नहीं रखता जिसके लिए मुझे भेजा गया है, जैसे तुम में से कोई इस बात की ताक़त नहीं रखता कि सूरज से आग का शोला लेकर आए।" (*अल-मुअजम अल-औसत,* अल-तबरानी, हदीस संख्या 8553)

एक दूसरी रिवायत में है कि फिर रसूलुल्लाह दुख से रो पड़े। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 266)

आपके क़बीले बनू हाशिम को चूंकि मक्का में हर प्रकार का नेतृत्व हासिल था, शुरू में लोगों को शक हुआ कि यह "हिम्मती नौजवान" शायद राजा बनने का सपना देख रहा है। लेकिन आपके निरंतर प्रयास ने यह साबित कर दिया कि आपके सामने आख़िरत (परलोक) का संदेश पहुँचाने के सिवा और कुछ नहीं था। एक बार आपने अबू जहल को संदेश दिया तो उसने कहा:

> "ऐ मुहम्मद, क्या तुम हमारे खुदाओं को बुरा कहने से रुक जाओगे? क्या तुम बस यही चाहते हो कि हम गवाही दें कि तुमने (संदेश) पहुँचा दिया? तो हम गवाही देते हैं कि तुमने पहुँचा दिया।" (*अल-बिदाया व अल-निहाया*, खण्ड 3, पृष्ठ 83)

अबू तालिब की घाटी (जिस में आप क़ैद थे) के समय, हराम महीनों (युद्ध निषेध महीनों) में पाबंदी ख़त्म हो जाती थी। आपके घर के लोग इस मौके का इस्तेमाल ख़रीद-बिक्री में करते थे। वे क़ुर्बानी के जानवरों का मांस जमा करते ताकि उसे सुखाकर रख सकें और साल के बाक़ी महीनों में उसे खाएं। लेकिन आप इस मौके पर क़बीलों की बस्तियों की ओर निकल जाते और उन्हें इस्लाम का संदेश देते।

बहिष्कार का ये समय बहुत नाज़ुक था। लेकिन इस समय में भी आपने अल्लाह का संदेश पहुँचाने का काम जारी रखा। सीरत की किताबों में इस सिलसिले में कई घटनाओं का ज़िक्र है। जैसे ग़मीम के मक़ाम पर बुरैदा बिन हसीब को इस्लाम का संदेश देना, जिसके नतीजे में वे और उनके अस्सी घरों का क़बीला मुसलमान हो

गया। (*अल-तबक़ात अल-कुबरा*, खण्ड 4, पृष्ठ 182) इसी तरह रकूबा की घाटी में आपकी मुलाक़ात दो लोगों से हुई। आपने उनके सामने इस्लाम पेश किया और वे ईमान ले आए। आपने उनका नाम पूछा। उन्होंने कहा कि हम असलम क़बीले के लोग हैं। हमारा पेशा लूटपाट था, इसीलिए हमें "अल-मुहानान" (दो नीच आदमी) कहा जाता है। आपने फ़रमाया: "नहीं, तुम दो इज़्ज़तदार लोग हो।" (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 16691)

आपने अपने साथियों का यह मिज़ाज बना दिया कि मुल्कों को जीतना और माल-ए-ग़नीमत (युद्ध में प्राप्त माल) पाना कोई बड़ी बात नहीं है। असली बड़ी बात यह है कि तुम्हारे ज़रिए ख़ुदा कुछ लोगों को सत्य का मार्ग दिखा दे। ग़ज़वा-ए-ख़ैबर में जब आपने हज़रत अली को झंडा दिया, तो उनसे फ़रमाया:

> "नर्मी से जाओ। जब उनके मैदान में पहुँच जाओ तो उन्हें इस्लाम का संदेश दो और उन्हें बताओ कि उनके ऊपर ख़ुदा के क्या हक़ हैं। ख़ुदा की क़सम, अगर तुम्हारे ज़रिए ख़ुदा एक आदमी को भी हिदायत दे दे, तो यह तुम्हारे लिए लाल ऊँटों (उस ज़माने की सबसे क़ीमती चीज़) से बेहतर है।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 2942)

आपकी ज़िंदगी में यह पहलू इतना ज़्यादा दिखाई देता है कि अगर इसका कोई एक नाम रखा जाए, तो वह इस्लाम के संदेश के सिवा कुछ और नहीं हो सकता। आपने आम रिवाज के मुताबिक़ राजनीतिक, आर्थिक, और सामाजिक मुद्दों को निशाना नहीं बनाया, बल्कि अपना सारा ध्यान सिर्फ़ अल्लाह का संदेश पहुँचाने पर केंद्रित कर दिया।

धैर्य और दृढ़ता

अब धैर्य को लीजिए। अरबी भाषा में सब्र (धैर्य) का शब्द उस समय बोला जाता है जब किसी चीज़ का असर लेने के बजाय अडिग रहने की स्थिति को बताना मक़सद हो। जैसे कि सब्बारा उस सख़्त और बंजर ज़मीन को कहा जाता है जो

बीज को स्वीकार न करे। इसी तरह बहादुर व्यक्ति को सबूर कहा जाता है क्योंकि वह बाहर के दबाव का सामना करते हुए अपना दबदबा बनाए रखता है।

यह धैर्य उस इंसान की सबसे ऊँची खूबी है जिसके अंदर इस्लाम एक मक़सद बनकर शामिल हो गया हो। सत्य उसके अंदर ऐसा जोश भर देता है कि वह सुस्त नहीं पड़ता। वह कमज़ोरी नहीं दिखाता। वह लाचारी ज़ाहिर नहीं करता। (क़ुरान, 3:146)

ईमान और इस्लाम का मतलब है—ख़ुदा पर भरोसा करना। और जो व्यक्ति ख़ुदा पर भरोसा कर लेता है, वह असीम ताक़त का मालिक बन जाता है। उसके लिए किसी भी स्थिति में अधैर्य दिखाने का कोई सवाल ही नहीं रहता।

1. जब कोई व्यक्ति इस्लाम का झंडा उठाकर खड़ा होता है तो उसे तुरंत महसूस होता है कि वह तो ख़ुदा द्वारा तय की गई सीमाओं में बंधा हुआ है, जबकि दूसरा पक्ष आज़ाद है कि अपनी सफलता के लिए जो तरीक़ा चाहे, अपना सकता है। उस व्यक्ति को हुक्म दिया गया है कि वह अपनी सारी ताक़त इस्लाम के पैग़ाम को फैलाने के काम में लगाए, जबकि दूसरे लोग राजनीतिक गतिविधियों और आर्थिक प्रयासों से अपनी स्थिति मज़बूत कर रहे हैं। उस व्यक्ति को हर हाल में नैतिक सीमाओं के अंदर रहने का पाबंद बनाया गया है, जबकि दूसरे लोग इस तरह की सभी बंदिशों से मुक्त हैं। इस तरह की बातें इस्लाम का पैग़ाम देने वाले व्यक्ति को इस हद तक प्रभावित कर सकती हैं कि वह इस्लामी तरीक़े को हल्का समझने लगे और उसके मन में यह सोच बनने लगे कि उसे भी वही तरीक़ा अपनाना चाहिए जो दूसरे लोग अपना रहे हैं। यहाँ धैर्य इसके लिए एक रुकावट बनता है। धैर्य उसे इस बात से रोकता है कि वह अपने काम के तरीक़े को हल्का और प्रभावहीन समझने लगे। क़ुरान में आया है: "धैर्य से काम लो, निश्चय ही अल्लाह का वादा सच्चा है और जिन्हें विश्वास नहीं, वे तुम्हें कदापि हताश न कर पाएँ।" (क़ुरान, 30:60)

2. इस्लाम के रास्ते में धैर्य का दूसरा मतलब यह है कि सामने वाले पक्ष की तरफ़ से जो परेशानियाँ दी जाएँ, उन्हें पूरी तरह से सहा जाए। (पैग़म्बरों ने कहा) जो तकलीफ़ तुम हमें दोगे हम उस पर सब्र करेंगे। (क़ुरान,14:12)

   यह धैर्य अपने आप में सच्चाई का पैग़ाम देने का एक हिस्सा है। क्योंकि अगर सत्य का संदेश देने वाला व्यक्ति सामने वाले की प्रतिक्रिया से डर जाए या घबरा जाए, तो यह बात संदेह में पड़ जाती है कि वह अपने संदेश में गंभीर है, और सच में ख़ुदा की खुशी के लिए लोगों को सत्य का संदेश देने निकला है। ये परेशानियाँ असल में उसकी गंभीरता की परीक्षा हैं, और किसी के लिए उसका संदेश तभी मानने लायक़ हो सकता है जब वह उसके सामने खुद को पूरी तरह गंभीर साबित कर दे।

3. जब विरोधी की तरफ़ से कोई चीज़ फेंकी जाती है तो आमतौर पर इंसान यह कोशिश करता है कि उसे वापस उसी विरोधी पर लौटा दे। इसके मुक़ाबले में, धैर्य यह है कि वह चीज़ चुपचाप अपने ऊपर ले ली जाए। उदाहरण के तौर पर, अगर किसी ईमान वाले को उस गिरोह की तरफ़ से आर्थिक भेदभाव का सामना करना पड़े, जिसे वह इस्लाम का पैग़ाम दे रहा है—जैसे कि एक जैसी योग्यता रखने के बावजूद उसकी जगह किसी और को चुना जाने लगे—तो यह माँग करना कि "हमारे साथ बराबरी का बर्ताव करो" धैर्य के खिलाफ़ होगा। इसके उलट, उन्हें यह करना चाहिए कि इस मसले को अपने ऊपर ले लें। यानी अगर माहौल बराबर की योग्यता की बुनियाद पर उन्हें उनका हक़ देने को तैयार नहीं है, तो अपनी योग्यता को इस हद तक बढ़ा लें कि वह दूसरों से अलग नज़र आने लगे और फिर उस के दम पर अपना हक़ हासिल करें। मक्का के दौर में हब्शा (इथोपिया) की ओर की गई हिजरत एक तरह से इसी तरह का काम था। जब मक्का के लोगों ने ईमान वालों के लिए व्यापार के रास्ते बंद कर दिए, तो उन्होंने पड़ोसी देश जाकर मेहनत-मज़दूरी करके अपनी रोज़ी कमानी शुरू कर दी। वहाँ उन्होंने इतनी ईमानदारी और मेहनत दिखाई कि हब्शा के राजा (नजाशी) ने एलान करवा दिया कि जो कोई किसी ईमान वाले को तंग करेगा, उसे उस मुसलमान के बदले 8 दिरहम का जुर्माना देना होगा।

धैर्य देखने में एक नकारात्मक चीज़ लग सकती है, मगर अपने नतीजों के लिहाज़ से यह एक बहुत ऊँचा और सकारात्मक कार्य है, जिसमें इंसान अपने विरोधी के मुक़ाबले फ़ौरन कोई जवाबी कार्रवाई करने के बजाय उन कार्यों पर भरोसा करता है जो देर में और बेहतर नतीजों वाला होता है। जब आप किसी ज़ुल्म या उकसावे के जवाब में तुरंत कोई क़दम उठाते हैं, तो उस समय आपकी कार्यवाही एक प्रभावित मन से होती है। वह आपकी उबलती भावनाओं के ज़ोर पर तय होती है। इसके बजाय, अगर आप बाहरी हालात और संभावनाओं का निष्पक्ष आकलन करें और उसके अनुसार गहरी योजना बनाएं—तो वही असली धैर्य कहलाता है।

धैर्य का मतलब यह है कि आप विरोधी को तुरंत जवाब देने के बजाय ख़ुदा के सदा रहने वाले नियमों को उसके खिलाफ़ काम करने का मौक़ा दें।

जब कोई व्यक्ति अधैर्य से अपने विरोधी की तरफ़ दौड़ पड़ता है, तो उस समय उसका मार्गदर्शन उसकी तुच्छ भावनाएं और नीच इच्छाएं कर रही होती हैं। वह ज़रूर ऐसी ग़लतियाँ करता है जिनसे उसका पक्ष कमज़ोर हो जाता है। इसके विपरीत, जब कोई व्यक्ति धैर्य से काम लेता है, तो उसके अंदर अल्लाह की तरफ़ से रखी हुई क्षमता जाग उठती है जिसे अक़्ल (बुद्धि) कहते हैं। इंसान की अक़्ल एक हैरतअंगेज़ ताक़त है। वह दीवार के पार देखती है और भविष्य में झाँक कर वहाँ छुपे हुए तथ्यों को पहचान लेती है—और जब वह तथ्य हाथ आ जाते हैं, तो विरोधी को हर तरफ़ से इस तरह जकड़ लेते हैं जैसे कोई शिकार मज़बूत जाल में फँस गया हो और फिर उसकी हर हरकत उस पर शिकारी की पकड़ को और मज़बूत करती जाती है।

हिजरत (प्रवास) का वाक़या इसी तरह की एक मिसाल है। जब क़ुरैश ने तय कर लिया कि वे आपको मार डालेंगे, तो एक तरीक़ा यह था कि आप उनकी तलवारों के सामने खड़े हो जाते। इसके बजाय, आपने ठंडे दिमाग़ से सोचकर यह फ़ैसला किया कि मक्का छोड़कर मदीना चले जाएँ—दूसरे शब्दों में, अपने काम की जगह को बदल लें। हज़रत आयशा बताती हैं कि हिजरत से पहले पैग़म्बर (सल्ल०) रोज़ाना मेरे वालिद (अबू बक्र) के घर आते और आगे क्या करना है उसके बारे में

सलाह करते। छः महीने तक पूरी गोपनीयता के साथ सारी तैयारियाँ पूरी की गईं। उसके बाद, एक सोची-समझी योजना के तहत आप एक भरोसेमंद गाइड को लेकर मदीना के लिए रवाना हो गए (*सीरत इब्न कसीर*, खण्ड 2, पृष्ठ 246)। एक जोशीले नेता— जो दुश्मन से लड़कर शहीद होने को सबसे बड़ी उपलब्धि मानता है —की नज़र से देखा जाए, तो हिजरत (प्रवास) एक तरह की कायरता या भाग जाना लग सकता है। लेकिन अगर हम इसके परिणामों की दृष्टि से देखें, तो यह एक ऐसी महान घटना थी, जिसने इस्लामी इतिहास की दिशा ही बदल दी।

इसी तरह, धैर्य का मतलब यह है कि इंसान अपने क़दम को रोककर प्रकृति को काम करने का मौक़ा दे। इंसानी स्वभाव हमेशा रहने वाली एक सच्चाई है, और अगर बाहरी परदे हटा दिए जाएँ तो यह इंसानी ज़िंदगी में बहुत ही निर्णायक भूमिका निभाता है। फितरत के अंदर हमेशा उस इंसान के लिए नरम कोना होता है जो गाली के जवाब में चुप रहा हो। फितरत अपनी अंदरूनी आवाज़ के कारण मजबूर है कि वह ज़ालिम के बजाय मज़लूम को सही माने। प्रकृति का नियम है कि जब इंसान असहाय होता है तो प्रकृति उसकी लाचारी का सहारा बन जाती है। और संयम व मज़बूती से यह साबित होता है कि वही सच्चाई पर है। इसकी एक मिसाल इस्लाम के पैग़म्बर और उनके परिवार का वह बहिष्कार है जो नुबूवत के सातवें साल में हुआ। इसके नतीजे में अबू लहब को छोड़कर पूरे बनू हाशिम को एक पहाड़ी घाटी (शिअब अबी तालिब) में कैद होना पड़ा। एक मक़सद के लिए चुपचाप अत्यंत क्रूर अत्याचार को सहते रहना इंसानी स्वभाव पर गहरा असर डाले बिना नहीं रह सकता था। इसलिए, तीन साल बीते ही थे कि दुश्मनों के अंदर से ही अबू अल-बख़तरी, हिशाम बिन अम्र, जुबैर बिन उमैया, ज़मआ बिन असवद और मुतइम बिन अदी जैसे कई लोग सामने आ गए। उन्होंने क़ुरैश के नेताओं से लड़कर उस समझौते को फाड़ डाला और बनू हाशिम को उस क्रूर बहिष्कार से मुक्ति मिल गई।

धैर्य का सबसे अहम पहलू यह है कि इससे ख़ुदा की मदद पाने का हक़ पैदा होता है। जब कोई इंसान एक सही मक़सद के लिए धैर्य से काम लेता है, तो वह अपने

मामलों के लिए पूरे ब्रह्मांड के मालिक पर भरोसा करता है—और यह मुमकिन ही नहीं कि कोई व्यक्ति एक सही उद्देश्य के लिए सृष्टि के मालिक पर भरोसा करे और ख़ुदा उसके भरोसे को पूरा न करे।

इस मदद (खुदा की सहायता) के अनगिनत तरीक़े हैं। कोई भी इंसान न तो उन्हें जान सकता है और न ही उन्हें पूरी तरह समझ सकता है। फिर भी, इस्लाम और ग़ैर-इस्लाम के टकराव के बीच जो एक ख़ास मदद होती है, वह यह है कि भौतिक (मटेरियल) हालात में एक ख़ास बदलाव ला दिया जाता है—और ईमान वालों के दिलों में भरोसे की भावना डाली जाती है, जबकि विरोधियों के दिलों में डर:

> "ऐ लोगो जो ईमान लाए हो, अपने ऊपर अल्लाह के उपकार को याद करो, जब तुम पर फ़ौजें चढ़ आईं तो हमने उन पर एक आँधी भेजी और ऐसी फ़ौज जो तुम्हें दिखाई न देती थी।" (क़ुरान, 33:9)

यह आयत ग़ज़वा-ए-अहज़ाब (627 ई.) के बारे में है। इसमें बताया गया है कि अल्लाह ने ईमान वालों की मदद के लिए दो चीज़ें भेजीं—हवा और फ़रिश्तों की सेना। हवा कोई अजीब चीज़ नहीं है। वह एक मोटे गिलाफ़ (ख़ौल) की तरह धरती के चारों ओर हर समय लिपटी रहती है। मगर एक ख़ास समय पर, एक ख़ास जगह पर उसमें तेज़ी ला दी गई, जिसका नतीजा यह हुआ कि वह हवा ईमान वालों के लिए मददगार बन गई। इससे पता चलता है कि जब ख़ुदा किसी समूह की मदद करना चाहता है, तो वह भौतिक घटनाओं में एक ख़ास बदलाव पैदा कर देता है, और यह बदलाव उस समूह की कामयाबी का कारण बन जाती है।

फ़रिश्तों की सेना का मतलब यह नहीं कि वे मुसलमानों के साथ मिलकर तलवार चलाते थे। असल में यह एक तरह की मानसिक सहायता थी, न कि आम तौर पर युद्ध में समझी जाने वाली मदद। वे इसलिए आते थे ताकि एक तरफ़ मुसलमानों के दिलों में मज़बूती पैदा करें और दूसरी तरफ़ विरोधियों के दिलों में डर बिठा दें (क़ुरान, 8:12)। वे मुसलमानों को विरोधियों की फौज कम दिखाते थे और विरोधियों को मुसलमानों की फौज बहुत बड़ी नज़र आती थी (क़ुरान, 8:44)।

ख़लीफ़ा उमर के ज़माने में, सअद बिन अबी वक़्क़ास इस्लामी सेना को लेकर क़ादिसिया पहुँचे, जो अरबों के लिए ईरान का दरवाज़ा माना जाता था। वहाँ कुछ समय रुकना पड़ा और खाने-पीने की चीज़ें ख़त्म हो गईं। हज़रत सअद ने कुछ लोगों को भेजा कि कहीं से बकरियाँ और गायें ढूँढ कर लाएं। उन्हें एक ईरानी मिला जिससे उन्होंने बकरियों और गायों के बारे में पूछा। उसने कहा कि मुझे कुछ पता नहीं—हालाँकि वह खुद एक चरवाहा था और इस्लामी सेना की ख़बर सुनकर अपने जानवरों को पास के जंगल में छुपा चुका था। इसके बाद जो हुआ, उसे इतिहास के शब्दों में इस तरह दर्ज किया गया:

> एक बैल चिल्लाया: "चरवाहा झूठ बोल रहा है, हम तो यहीं इस झाड़ी में हैं!"

आवाज़ सुनकर वे लोग जंगल में गए और कुछ जानवरों को हाँकते हुए हज़रत सअद के पास ले आए। जब यह बात इस्लामी सेना को पता चली तो वे बहुत खुश हुए और इसे ख़ुदा की एक खुली मदद समझा। मगर, जैसा कि एक इतिहासकार ने लिखा है—इसका यह मतलब नहीं कि बैल ने सचमुच यह जुमला कहा: "हम यहीं हैं" बल्कि, यह उसकी आम आवाज़ में एक तरह की डकार (गरज) थी। और मुसलमानों ने इस आवाज़ से यह समझा कि यहाँ जानवर मौजूद हैं। (*अल-फ़ख़री फ़ी अल-दुवल अल-सुल्तानिया व अल-दुवल अल-इस्लामिया*, पृष्ठ 84)

अल्लाह पर भरोसा

क़ुरान में एक हुक्म इन शब्दों में आया है: "और अगर दुश्मन सुलह की तरफ़ झुकें तो तुम भी सुलह की तरफ़ झुक जाओ और अल्लाह पर भरोसा रखो। बेशक, वह सब कुछ सुनता और जानता है। और अगर वे तुम्हें धोखा देना चाहें, तो अल्लाह तुम्हारे लिए काफी है। वह वही है जिसने तुम्हारी सहायता की अपनी मदद से और ईमान वालों के ज़रिए।" (क़ुरान, 8:61-62) क़ुरान का यह हुक्म इस्लामी तरीक़े का सार है। इस्लाम का तरीक़ा असल में ग़ैर-लड़ाई वाला तरीक़ा है। यहाँ तक कि

अगर विरोधी की तरफ़ से धोखे का अंदेशा हो, तब भी मुसलमानों को अल्लाह पर भरोसा करते हुए सुलह के लिए तैयार रहना चाहिए।

इस आदेश का मतलब यह है कि जो मैदान लड़ाई का नहीं है — यानी जहाँ दूसरों से टकराव किए बिना तुम अपने लिए काम के मौके बना सकते हो — वहाँ अपनी ताक़तें लगाओ। और जहाँ तुम ख़ुद कुछ नहीं कर सकते, वहाँ अल्लाह की बनाई हुई ताक़तों को काम करने का मौक़ा दो। सच तो यह है कि जब भी दो पक्ष आमने-सामने हों, वहाँ एक तीसरा सबसे ताक़तवर पक्ष मौजूद होता है—और वह है सारे जहानों का मालिक। अगर हम अपनी ताक़त को अपने नियंत्रण वाले दायरे तक सीमित रखें, तो बाक़ी हिस्से में अल्लाह हमारे लिए काफी हो जाता है। अगर हम अपनी सीमा को छोड़कर दूसरों के दायरे में क़दम रखते हैं, तो इसका मतलब है कि हम अल्लाह के दायरे में दखल दे रहे हैं—और ऐसा करना अल्लाह की नाराज़गी को बुलाना है। ऐसा व्यक्ति अल्लाह की रहमत और मदद पाने वाला नहीं बन सकता।

पैग़म्बर (सल्ल०) मक्का में

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) की ज़िंदगी के दो प्रमुख दौर (काल) हैं—एक को मक्की दौर कहा जाता है, और दूसरे को मदनी दौर। मक्का और मदीना दो शहरों के नाम हैं। अगर आप इन्हें किसी शब्दकोश में देखेंगे तो इनके यही सामान्य अर्थ मिलेंगे। लेकिन कुछ अर्थ ऐसे होते हैं जो इतिहास के अनुभवों से किसी शब्द में जुड़ जाते हैं। मक्का और मदीना भी ऐसे ही हैं। मूल अर्थ में ये सिर्फ दो शहर हैं, लेकिन ऐतिहासिक रूप से ये इस्लामी कार्य के दो अलग रूपों की पहचान बन गए हैं। मक्का इस्लाम का संदेश पहुँचाने का प्रतीक है और मदीना क्रांतिकारी बदलाव का प्रतीक। मक्की दौर इस्लाम के संदेश को शांतिपूर्ण तरीक़े से फैलाने

का समय था और मदनी दौर इस संदेश को समाज में स्थापित करने का समय। क़ुरान में कहा गया है:

> "मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं और जो लोग उनके साथ हैं वे इनकार करने वालों पर सख़्त हैं और आपस में मेहरबान हैं, तुम उन्हें झुकते हुए और सज्दे में देखोगे, वे अल्लाह की कृपा और उसकी प्रसन्नता की चाहत में लगे रहते हैं। उनकी निशानी उनके चेहरों पर है सज्दे के असर से, उनकी यह मिसाल तौरात में है। और इंजील में उनकी मिसाल उस खेती की तरह दी गई है जिसने अपना अंकुर निकाला, फिर उसे मज़बूती दी, फिर वह मोटा हुआ, फिर अपने तने पर खड़ा हो गया। यह किसानों को अच्छा लगता है ताकि इनकार करने वाले इससे व्याकुल हों। अल्लाह ने उन लोगों से, जो इन में से ईमान लाए और अच्छे काम किए, माफ़ी और बड़ा इनाम देने का वादा किया है।" (क़ुरान, 48:29)

इस आयत में तौरात के हवाले से पैग़म्बर के साथियों की व्यक्तिगत खूबियों का ज़िक्र है, और इंजील के हवाले से उनके सामूहिक विकास का। पहले हिस्से की तैयारी मक्का में हुई और दूसरे की पूर्णता मदीना में।

पैग़म्बर मुहम्मद की जो जीवनियाँ लिखी गई हैं, उनका अंदाज़ आम तौर पर ऐसा होता है जैसे कि आमिना के गर्भ से एक करिश्माई शख़्सियत निकली और उसने रहस्यमय तरीकों से पूरे अरब को अपने वश में कर लिया। ये जीवनियाँ इतिहास की तुलना में चमत्कारों की एक काल्पनिक कहानी जैसी लगती हैं। यह रुझान इतना बढ़ गया कि जहाँ किसी घटना में कोई चमत्कारी पहलू नहीं था, वहाँ भी लोगों ने कल्पना से कोई न कोई चमत्कार खोज निकाला। उदाहरण के तौर पर, सुहैब बिन सिनान की हिजरत (प्रवासन) के बारे में आता है कि जब वे मक्का से निकलने लगे तो क़ुरैश के कुछ नौजवानों ने उन्हें रोक लिया। सुहैब ने कहा, "अगर मैं तुम्हें अपना माल दे दूँ तो क्या तुम मुझे जाने दोगे?" उन्होंने कहा, "हाँ।" तो

सुहैब ने कुछ औक़िया (एक औक़िया = 30 ग्राम) सोना जो उनके पास था, दे दिया और मदीना चले गए। जब पैग़म्बर ने मदीना में उन्हें देखा, तो कहा:

> "अबू याह्या! तुम्हारा यह सौदा बहुत फायदेमंद रहा।" मैंने कहा, "ऐ रसूल, मुझसे पहले यह ख़बर आप तक कौन पहुँचा सकता था? यक़ीनन यह ख़बर आपको जिबरील फ़रिश्ते ने दी है।" (*मुस्तदरक अल-हाकिम*, हदीस संख्या 5706)

मगर यही घटना दूसरी रिवायत में कुछ इस तरह है:

> "मैंने क़ुरैश के लोगों को अपना माल देकर मक्का से निकलने की इजाज़त ली। यहाँ तक कि मैं मदीना पहुँच गया। जब यह बात नबी (सल्ल०) तक पहुँची, तो आपने फ़रमाया: 'सुहैब का सौदा फायेदेमंद रहा, सुहैब का सौदा फायेदेमंद रहा।" (*अल-अहादीस अल-मुख्तारा*, अल-मक़दिसी, हदीस संख्या 79)

सच यह है कि पैग़म्बर की पूरी ज़िंदगी एक सादा, मानवीय वास्तविक्ता थी—और इसी वजह से वह हमारे लिए आदर्श हैं। आपको चलते वक्त वैसी ही ठोकर लगती थी जैसे किसी आम इंसान को लगती है (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 1114)। आपके पहले श्रोता को उनका ख़ुदाई इलहाम (प्रेणना) वाला होना समझ नहीं आया क्योंकि वे आपको बिलकुल अपने जैसा एक साधारण इंसान देखते थे: "आप बाज़ारों में वैसे ही आते-जाते हैं जैसे हम आते हैं, और रोज़ी कमाने की कोशिश वैसे ही करते हैं जैसे हम करते हैं।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 297)

हक़ीक़त यह है कि पैग़म्बर की ज़िंदगी की महानता इस बात में है कि वह एक इंसानी हक़ीक़त है, न कि कोई रहस्यमय चमत्कारिक कहानी। आपकी कामयाबी अल्लाह की मदद के तहत हुई, और इस लिहाज़ से वह बेशक एक मोजिज़ा (चमत्कार) थी। मगर इस इलाही चमत्कार का प्रकट होना एक इंसानी पैग़म्बर की स्तर पर हुआ, न कि किसी चमत्कारी शख्सियत के स्तर पर।

क़ुरान में पैग़म्बर (सल्ल०) की जो तस्वीर पेश की गई है, अगर उसे सामने रखा जाए, तो यही तस्वीर बिलकुल उसके मुताबिक़ दिखाई देती है।

आह्वान का आरंभ

जब आप अपनी ज़िंदगी के चालीसवें साल में थे और आपको ग़ार-ए-हिरा में पहली बार अल्लाह का संदेश (वह्य) मिला, तो आप पर वही प्रतिक्रिया हुई जो एक "इंसान" पर होनी चाहिए। आप डरे हुए हाल में घर लौटे। वहाँ आपकी पत्नी ख़दीजा मौजूद थीं। वह खुद वह्य (अल्लाह के संदेश) के उस अनुभव से अलग थीं, इसलिए इस स्थिति के बारे में एक संतुलित राय बना सकीं। उन्होंने आपसे कहा:

> "हरगिज़ नहीं! ख़ुदा की क़सम, अल्लाह आपको कभी शर्मिंदा नहीं करेगा। आप रिश्तेदारों का हक़ अदा करते हैं, कमज़ोरों का बोझ उठाते हैं, ज़रूरतमंदों को कमाने में मदद करते हैं, मेहमानों की ख़ातिरदारी करते हैं और मुश्किल वक़्त में लोगों की मदद करते हैं।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 3; *सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 160)

इस्लाम के पैग़ाम को फैलाने की कोशिश में भी आप में वही स्वाभाविक तरीक़ा नज़र आता है, जो एक नए माहौल में काम करने वाले किसी भी संदेश देने वाले को पेश आता है। हालात की माँग यह थी कि पहले काम छुपकर किया जाए।

इब्न इसहाक़ के मुताबिक़, हज़रत अली बिन अबी तालिब अगली सुबह आपके घर आए। उस समय आप और हज़रत ख़दीजा नमाज़ पढ़ रहे थे। हज़रत अली ने पूछा, "ऐ मुहम्मद! यह क्या है?" आपने जवाब दिया: "यह अल्लाह का दीन है जिसे उसने अपने लिए चुना है और अपने रसूलों के ज़रिए भेजा है। मैं तुम्हें उसी एक अल्लाह की तरफ़ बुलाता हूँ, जिसका कोई साझी नहीं है, और उसकी इबादत की ओर बुलाता हूँ। और यह कि तुम लात और उज़्ज़ा को मानना छोड़

दो।" हज़रत अली ने कहा, "यह ऐसी बात है जिसे मैंने आज से पहले कभी नहीं सुना। मैं इसका कोई फैसला नहीं कर सकता जब तक अपने पिता अबू तालिब से बात न कर लूं।" पैग़म्बर को यह सही नहीं लगा कि अल्लाह का संदेश शुरू होने से पहले यह बात सब पर खुल जाए। आपने हज़रत अली से कहा: "ऐ अली, अगर तुम इस्लाम नहीं स्वीकार करते तो इस बात को छुपाए रखो।" हज़रत अली उस रात रुके रहे। फिर अल्लाह ने उनके दिल में इस्लाम डाल दिया। अगली सुबह वे पैग़म्बर के पास आए और कहा, "कल आपने मुझसे क्या कहा था?" पैग़म्बर ने कहा: "गवाही दो कि अल्लाह के सिवा कोई पूजनीय नहीं है, वह अकेला है, उसका कोई साझीदार नहीं। लात और उज़्ज़ा को न मानो, और उनको जिनको लोग अल्लाह का साझी मानते हैं, उनसे दूरी बना लो।" अली ने यह मान लिया और इस्लाम क़ुबूल कर लिया। इसके बाद वे अबू तालिब से छुपकर आपके पास आते रहे और अपने इस्लाम को छुपाए रखा। (*अल-बिदाया व अल-निहाया*, खण्ड 3, पृष्ठ 24)

औस और ख़ज़रज क़बीले के जो लोग पहले ईमान लाने वाले बने थे, जब यस्रिब (अब मदीना) लौटे तो शुरुआत में उनका तरीक़ा यही था कि वे चुपचाप इस्लाम का संदेश लोगों तक पहुंचाते थे: "वे अपनी क़ौम में लौटे और छुपकर उन्हें सत्य की ओर बुलाया।" (*अल-मुअजम अल-कबीर*, अल-तबरानी, हदीस संख्या 849)

पैग़म्बर (सल्ल०) ने अपनी पूरी ज़िंदगी में इस बात का सख़्ती से ध्यान रखा कि कोई भी कार्य तब तक न किया जाए जब तक उसके लिए ज़रूरी छमता पैदा न हो जाए। हज़रत आयशा कहती हैं कि जब नबी के 38 साथी हो गए, तो हज़रत अबू बक्र ने आपसे एलान करने की ज़िद की। यानी अब हम लोगों को खुलकर इस्लाम की बात करनी चाहिए। लेकिन आपका जवाब था: "ऐ अबू बक्र! हम अभी बहुत कम हैं।" इसी तरह नुबूवत के छठे साल जब हज़रत उमर पैग़म्बर के अनुयायी बने, तो उन्होंने भी आपसे कहा: "ऐ ख़ुदा के रसूल! हम अपने धर्म को क्यों छुपाएँ जबकि हम सच्चाई पर हैं? आपने उन्हें भी वही जवाब दिया: "ऐ

उमर! हम अभी बहुत कम हैं।" आपका यही तरीक़ा लगातार जारी रहा, यहाँ तक कि हिजरत के बाद जब मुस्लमान एक जगह पर संगठित हो गए और क़ुरैश अपनी फौज के साथ उसे ख़त्म करने के लिए आ गए—तब जाकर लड़ाई की इजाज़त दी गई। बद्र के मैदान में जब आपके साथियों ने इस्लाम के विरोधियों का सामना किया, तो आपने कहा: "यह एक निर्णायक दिन है" यानि, इस्लाम के लिए कार्यवाही का सही समय वह होता है जब मुसलमान इस हालत में हों कि अपनी कोशिशों से इस्लाम के लिए एक नया भविष्य बना सकें। उससे पहले किसी तरह की कार्यवाही करना सही नहीं होता।

हदीसों से पता चलता है कि जब आपको सार्वजनिक रूप से सन्देश देने की ज़िम्मेदारी सौंपी गई, तो आपको यह महसूस हुआ कि यह बहुत बड़ा कार्य है, जिसके लिए पूरी तरह समर्पित होना ज़रूरी है। आपने चाहा कि आपके परिवार के लोग आपकी आर्थिक ज़िम्मेदारियों में मददगार बन जाएं, ताकि आप इस कार्य को अच्छी तरह अंजाम दे सकें। आपने अपने घर पर अब्दुल मुत्तलिब के परिवार के लोगों को इकट्ठा किया, जिसमें उस समय लगभग 40 लोग शामिल थे। एक हदीस के अनुसार 30 व्यक्ति जमा हुए। आपने उन्हें बताया कि अल्लाह ने मुझे नबी बनाया है, तुम लोग मेरा साथ दो ताकि मैं इस ज़िम्मेदारी को पूरा कर सकूं।

> "ऐ अब्दुल मुत्तलिब के परिवार वालो! मुझे ख़ास तौर पर तुम्हारी तरफ़ और आम तौर पर पूरे इंसानों की ओर भेजा गया है। तुम इस निशानी को देख ही चुके हो। अब तुममें से कौन है जो मुझसे इस पर वादा करे कि वह मेरा भाई और साथी बनेगा?" (*मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 1371)

एक दूसरी रिवायत में है कि आपने कहा:

> "तुममें से कौन है जो मेरे क़र्ज़ और वादों की ज़िम्मेदारी लेगा, और जन्नत में मेरे साथ होगा, और मेरे पीछे मेरे परिवार का ज़िम्मेदार बनेगा?" एक व्यक्ति बोला: "ऐ अल्लाह के रसूल,

> आप तो समंदर हैं, इस ज़िम्मेदारी को कौन निभा सकता है?"
> (*मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 883)

आपका परिवार आपकी ज़िम्मेदारी लेने के लिए तैयार नहीं हुआ। अब्बास बिन अब्दुल मुत्तलिब आपके चचा थे। वह आर्थिक रूप से इस स्थिति में थे कि आपकी मदद कर सकते थे, लेकिन वह भी चुप रहे, उन्हें डर था कि उनपर माली बोझ बढ़ जाएगा। (*सीरतुन-नबी*, इब्न कसीर, खण्ड 1, पृष्ठ 460) मगर अल्लाह ने आपकी मदद की। पहले आपकी पत्नी ख़दीजा बिन्त ख़ुवैलिद और बाद में अबू बक्र सिद्दीक़ का धन, मक्का के दौर में आपकी आर्थिक सहायता बना रहा।

लोगों तक सच्चाई का संदेश पहुँचाने के लिए आप बच्चों की तरह उत्सुक रहते थे। इब्न जरीर ने अब्दुल्लाह बिन अब्बास की तरफ़ से यह बात दर्ज की है कि एक दिन मक्का के प्रमुख लोग सूर्यास्त के बाद काबा के पास इकट्ठा हुए और उन्होंने आपको बातचीत के लिए बुलावा भेजा। "आपकी क़ौम के प्रमुख लोग एकत्र हुए हैं, वे आपसे कुछ बात करना चाहते हैं।" इसके बाद रिवायत के शब्द हैं:

> "नबी (सल्ल०) तेज़ी से उनके पास पहुँचे। आपको लगा कि शायद उन्हें अब कुछ बात समझ में आ गई है। आप उनकी भलाई के लिए बेहद उत्सुक थे और उनकी यातनाएं आपको बहुत तकलीफ़ देती थी।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 295)

मगर बुलाने वालों ने आपको सिर्फ़ बहस करने के लिए बुलाया था, मानने के लिए नहीं। लंबी बातचीत के बाद आप दुखी होकर लौट आए।

> "नबी (सल्ल०) अपने घर वापस आए, दिल में दुःख और निराशा लिए हुए, क्योंकि जिन बातों की उम्मीद आपको अपनी क़ौम से थी, वह पूरी नहीं हुई। वो लोग इससे बहुत दूर थे।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 298)

इसी तरह, अबू तालिब की मृत्यु के समय जब लोग उनके पास जमा हुए, तो उन्होंने कहा कि अपनी मौत से पहले हमारे और अपने भतीजे के बीच कोई समझौता कर दीजिए:

> "उनसे हमारे लिए कोई बात तय करवा दीजिए और हमारी ओर से भी कुछ तय कर दीजिए, ताकि वे हमसे दूर रहें और हम उनसे। वे हमें और हमारे धर्म को छोड़ दें, और हम उन्हें और उनके धर्म को छोड़ दें।" अबू तालिब ने आपको बुलाया और पूछा कि आप क़ौम से क्या चाहते हैं? आपने कहा: "तुम कहो: ला इला-हा इल्लल्लाह (अल्लाह के सिवा कोई पूज्य नहीं), और जिनकी तुम पूजा करते हो उन्हें छोड़ दो।" मगर क़ौम इसके लिए तैयार नहीं हुई। जब लोग चले गए, तो इब्न इस्हाक की रिवायत के अनुसार अबू तालिब ने कहा: "भतीजे! ख़ुदा की क़सम, मुझे नहीं लगता कि तुमने उनसे कोई मुश्किल मांग की है।" अबू तालिब की ज़बान से यह सुनकर आपकी जो स्थिति हुई, उसका वर्णन यूँ किया गया है: "पैग़म्बर (सल्ल०) को उम्मीद हुई कि अबू तालिब इस्लाम स्वीकार कर लेंगे। आप उनसे कहने लगे: 'चाचा, आप बस यह एक बात कह दीजिए, ताकि मैं क़ियामत के दिन आपके लिए सिफ़ारिश कर सकूं।" (*सीरत इबन हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 417-18)

आप सामने वाले की तरफ़ से आने वाली हर तरह की कड़वी बातें और ताने भी बर्दाश्त कर लेते थे। मक्का की फ़तह के बाद हिंद बिन्त उत्बा बिन रबीअ आपके पास बैअत (प्रतिज्ञा) करने आईं। आपने जब प्रतिज्ञा के शब्द कहे — "तुम अपनी संतान की हत्या नहीं करोगी" — तो हिंद फ़ौरन बोल उठी: "क्या आपने हमारे लिए कोई संतान छोड़ी है जिसे हम मारें?" (*मुसनद अबू यअला*, हदीस संख्या 4754)

मगर आपने उनके इस व्यंग्य का कोई बुरा असर नहीं लिया और प्रसन्नता के साथ उनसे बैअत कर ली।

इस मिशन की राह में आपने न सिर्फ़ अपना समय और अपनी मानसिक व शारीरिक ऊर्जा झोंक दी, बल्कि अपनी पूरी संपत्ति भी इसकी राह में कुर्बान कर दी। नबूवत से पहले मक्का की एक धनवान महिला से निकाह के कारण आप आर्थिक रूप से समृद्ध हो गए थे। मक्का के शुरुआती दौर में एक बार क़ुरैश के प्रमुखों ने उ्त्बा बिन रबीअ को अपना प्रतिनिधि बनाकर आपसे बातचीत के लिए भेजा। जब वह आपके पास पहुँचा तो आपकी शख्सियत से खुद ही प्रभावित हो गया।

> "और फिर वह अपने घर नहीं लौटा और लोगों से अलग रहा। अबू जहल ने कहा: 'ऐ क़ुरैश के लोगो! ख़ुदा की क़सम, मेरा मानना है कि उ्त्बा अब मोहम्मद की ओर झुक गया है और उसे मोहम्मद का खाना पसंद आ गया है। और यह सब उसकी किसी ज़रूरत के कारण हुआ है। आओ, हम उसके पास चलते हैं।' फिर वे उसके पास गए। अबू जहल ने कहा: 'ख़ुदा की क़सम, हम इसलिए आए हैं क्योंकि तुम मोहम्मद की ओर झुक गए हो और उनका मामला तुम्हें पसंद आ गया है। अगर तुम्हें कोई ज़रूरत है, तो हम सब मिलकर तुम्हारे लिए इतना धन इकट्ठा कर देंगे कि तुम्हें मोहम्मद के खाने की आवश्यकता ही न रहे।' यह सुनकर उ्त्बा ग़ुस्से में आ गया और उसने क़सम खाकर कहा: 'मैं अब कभी मोहम्मद से बात नहीं करूंगा।'" (*अल-बिदायह व अल-निहायह*, खण्ड 3, पृष्ठ 80)

इसी तरह, अब्दुल्लाह बिन अब्बास से रिवायत (वर्णित) है कि वलीद बिन मुगीरा एक बार आपके पास आया। पैग़म्बर (सल्ल०) ने उसे क़ुरान सुनाया। क़ुरान के अंदाज़-ए-बयान से वह बहुत प्रभावित हुआ। जब अबू जहल को यह बात पता चली तो वह वलीद के पास गया और कहा: "लोगों का इरादा है कि तुम्हारे लिए धन इकट्ठा करें क्योंकि तुम मोहम्मद के माल के लालची हो गए हो।"

इस तरह की आर्थिक स्थिति में आपने नबूवत की शुरुआत की थी। लेकिन जब मक्की जीवन का तेरहवाँ साल आया और आपने मदीना की ओर हिजरत (प्रवास) की, तो आपके पास कुछ भी नहीं बचा था। यहाँ तक कि आपने हज़रत अबू बक्र से उधार लेकर हिजरत के सफ़र का सामान तैयार किया।

संदेश की भाषा

इस्लाम की शिक्षाएं लोगों तक पहुँचाने के मुख्य बिंदु बिल्कुल साफ़ और तय हैं। इन्हें एक जैसे ढंग से गिना भी जा सकता है। लेकिन जब यही बातें संदेश देने वाले की ज़ुबान से निकलती हैं, तो उसमें उसकी अपनी शख़्सियत भी झलकती है। यही बात इस संदेश को मशीन की रिकॉर्डिंग जैसा बनने से रोकती है और इसे एक ज़िंदा, असरदार काम बना देती है। असल में, यह बात हर जगह एक जैसी होते हुए भी अलग-अलग अंदाज़ में सामने आती है। इसलिए इसे किसी लिस्ट में क्रम से रखा नहीं जा सकता।

एक सच्चे आह्वानकर्ता (इस्लाम का संदेश पहुँचाने वाले) के सीने में अगर अल्लाह का डर हो, और वह अपने सुनने वाले (मदऊ) के ईमान के लिए बच्चों जैसी मासूम और बेचैन चाहत रखता हो — यह भावना कि "अगर मैं अल्लाह के बंदों को उसके क़रीब ला सका, तो मेरा रब मुझसे राज़ी हो जाएगा" — तो ये सारी चीज़ें उसके बोलने और समझाने के अंदाज़ में एक ख़ास असर और गहराई पैदा कर देती हैं। यह केवल उसकी बातों को असरदार ही नहीं बनातीं, बल्कि उन्हें हर लिहाज़ से बेहद विविध (diverse) और प्रभावशाली भी बना देती हैं। क्योंकि दूसरों को प्रभावित करने का यह सच्चा और दिल से निकला जज़्बा उसे लगातार प्रेरित करता है कि वह हर व्यक्ति के मानसिक स्तर, सोच और समझ का पूरा ध्यान रखते हुए अपने शब्द और तरीक़े को ढाले, ताकि बात सीधा उसके दिल तक पहुँचे।

पैग़म्बर मोहम्मद की जिंदगी में ये चीज़ पूरी तरह नज़र आती है। आप दिन-रात लोगों तक अल्लाह का संदेश पहुँचाने में लगे रहते थे। लेकिन आपका तरीक़ा ये नहीं था कि हर किसी से एक ही बात, एक जैसे शब्दों में कहें। आप सामने वाले की रिआयत करते हुए अपनी बात उसके सामने रखते थे।

मक्का के शुरुआती समय में एक बार आपने अबू सुफियान और उनकी पत्नी हिंद को इस्लाम की बात बताई। एक हदीस के मुताबिक आपने उनसे यह कहा:

> "अबू सुफियान और हिंद! ख़ुदा की क़सम, एक दिन तुम्हें मरना है। फिर दोबारा ज़िंदा किये जाओगे। फिर जो अच्छा होगा वह जन्नत में जाएगा और जो बुरा होगा वह जहन्नम में जाएगा। और जो मैं कह रहा हूँ, वह बिल्कुल सच्चा है।" (*अल-मोजम अल-औसत*, अल-तबरानी, हदीस 6615)

इब्न ख़ुज़ैमा कहते हैं कि मक्का के एक बुज़ुर्ग हुसैन से आपकी बातचीत इस तरह हुई:

> आपने पूछा: "हुसैन! आज तुम कितने खुदाओं को पूजते हो?" हुसैन ने कहा: "सात ज़मीन पर और एक आसमान में।" आपने पूछा: "जब कोई मुसीबत आती है तो किसे पुकारते हो?" हुसैन ने कहा: "जो आसमान में है।" फिर आपने पूछा: "जब तुम्हारा माल चला जाता है तो किससे मदद माँगते हो?" हुसैन ने कहा: "जो आसमान में है।" आपने कहा: "तो फिर जब एक ख़ुदा तुम्हारी बात सुनता है, तो तुम उसके साथ दूसरों को क्यों जोड़ते हो?" (*अल-तौहीद*, इब्न ख़ुज़ैमा, खण्ड 1, पृष्ठ 277)

इमाम अहमद ने अबू उमामा से उल्लेख किया है कि एक बार अम्र बिन अबसा सुलमी आपके पास आया और बोला: "अल्लाह ने आपको किस काम के लिए भेजा है?" आपने कहा:

> "ताकि रिश्तेदारों से अच्छा व्यवहार किया जाए, लोगों को खून-ख़राबे से रोका जाए, रास्तों में अमन बना रहे, मूर्तियाँ न हों, और सिर्फ़ एक अल्लाह की इबादत की जाए — उसके साथ किसी और को साझी न किया जाए।" (*मुसनद अहमद,* हदीस 17016)

जब आप मदीना पहुँचे और नजरान के लोगों को इस्लाम का संदेश देने के लिए खत भेजा, तो आपने उसमें लिखा:

> "मैं तुम्हें बन्दों की पूजा से निकाल कर अल्लाह की इबादत की तरफ़ बुला रहा हूँ। मैं तुम्हें इंसानों की इबादत (उपासना) से निकाल कर अल्लाह की इबादत (उपासना) की तरफ़ बुला रहा हूँ।" (*अल-बिदायह व अल-निहायह*, खण्ड 5, पृष्ठ 53)

पैग़ाम का सबसे अहम और स्थायी माध्यम खुद क़ुरान था। आपका तरीक़ा यह था कि जब कोई आदमी मिलता, तो आप उसे क़ुरान का कोई हिस्सा पढ़कर सुनाते। हदीसों में अक्सर इस तरह के शब्द आते हैं—"फिर आपने इस्लाम की शिक्षायें बताईं और उन्हें क़ुरान सुनाया" (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 23619), "और आपने उन्हें इस्लाम बताया और क़ुरान सुनाया" (*अल-तबक़ातुल अल-कुबरा*, खण्ड 1, पृष्ठ 170)। क़ुरान का असर अरब के लोगों के लिए इतना चौंकाने वाला था कि इस्लाम के कुछ बड़े विरोधी भी रात को छिपकर आपके घर के पास आ जाते और जब आप क़ुरान पढ़ रहे होते, तो दीवार के पास लगकर उसे सुनते। अल्लाह का कलाम यानि कुरान अरबों के दिलों पर बहुत गहरा असर डालता था।

वलीद बिन मुगीरा जब क़ुरैश का नुमाइंदा बनकर आपके पास आया, तो आपने उसे क़ुरान के कुछ हिस्से पढ़कर सुनाए। वह इतना प्रभावित हुआ कि वापस जाकर क़ुरैश से कहा—यह तो इतना श्रेष्ठ बोल है कि बाक़ी सब बातें इसके सामने छोटी हो जाती हैं (*शुअबुल ईमान*, अल-बैहक़ी, हदीस संख्या 133)। इस्लाम का संदेश देने के लिए क़ुरान सुनाना उस वक़्त एक आम तरीक़ा बन गया था। मुसअब बिन उमैर जब लोगों को इस्लाम का संदेश देने के लिए मदीना भेजे गए, तो उनका तरीक़ा यह था कि लोगों से बात करते और क़ुरान सुनाते। क़ुरान पढ़कर सुनाने की वजह से उनका नाम "मुक़री" पड़ गया था। (*अल-मुअजम अल-कबीर*, अल-तबरानी, हदीस संख्या 849)।

मक्का में पैग़म्बर का संदेश बहुत ही संजीदा और इल्मी अंदाज़ में क़ुरान की श्रेष्ठ भाषा के साये में चल रही थी। दूसरी तरफ़ विरोधियों के पास गाली-गलौच के

सिवा कुछ नहीं था। यहां तक कि मक्का के समझदार लोगों के बीच यह बात कही जाने लगी कि मुहम्मद के विरोधियों के पास कोई ठोस जवाब नहीं है। मक्का के बड़े और इज़्ज़तदार लोगों ने एक ख़ास बैठक में आपको बुलाकर बात करने का प्लान बनाया। इसकी वजह, इब्न हिशाम के मुताबिक़, यह थी कि वो अपनी क़ौम के सामने कह सकें कि हमने अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश की। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 295)

अरबों की योग्यता

जहाँ तक इस बात का सवाल है कि कोई व्यक्ति किसी संदेश को कब स्वीकार करता है, तो यह बात केवल संदेश की सच्चाई या संदेशवाहक की मेहनत पर ही निर्भर नहीं होती। इससे भी ज़्यादा यह उस व्यक्ति की अपनी स्थिति पर निर्भर करती है जिसे संदेश दिया जा रहा है। अरब क्षेत्र के भूगोल में जो लोग बसे हुए थे, वह इस दृष्टि से बहुत ही क़ीमती थे कि उनकी अज्ञानता और अक्खड़पन के पीछे प्रकृति की सरलता पूरी तरह सुरक्षित थी।

30 लाख वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र वाला यह समतल और गरम इलाका अपने भीतर श्रेष्ठ दर्जे की इंसानी खूबियाँ समेटे हुए था। एक अरब अपने ऊँट को—जो उसकी रोज़ी का अकेला ज़रिया होता था—काटकर उसका मांस मेहमानों को खिला देता था ताकि वे भूखे न रहें। जब कोई बेबस इंसान जंगल में किसी अरब के तंबू में आकर शरण लेता था, तो वह अरब तलवार हाथ में लेकर उसकी रक्षा करता था। जब तक हमलावर उस तंबू वाले को मार न देते, तब तक वे उस बेबस व्यक्ति को वहाँ से नहीं ले जा सकते थे। यहाँ तक कि अगर लूटने वाले किसी क़बीले की औरतों के क़ीमती कपड़े और गहनों को छीनना चाहते, तो वे उन्हें नंगा नहीं कर सकते थे, न ही उन्हें छू सकते थे। वे अपने लिए यह ज़रूरी समझते थे कि औरतों से कहें कि वे अपने गहने और कपड़े उतार दें। और जब औरतें अपने

कपड़े उतार रही होतीं, तो हमलावर लोग अपना चेहरा फेर लेते थे ताकि उनकी नज़र उन औरतों के नंगे बदन पर न पड़े।

यह समझना ग़लत होगा कि पुराने समय के अरब बिल्कुल सीधे-सादे और कम समझ वाले लोग थे। सच्चाई यह है कि वे बहुत समझदार थे और बातों की गहराई तक जल्दी पहुँच जाते थे।

एक क़बीले के सात मुसलमान आपके पास आए। बातचीत के दौरान उन्होंने बताया कि हमने पुराने अज्ञानता के ज़माने (इस्लाम से पहले के समय) से पाँच बातें सीखी हैं और जब तक आप हमें इनसे मना नहीं करेंगे, हम इन्हें छोड़ेंगे नहीं:

पैग़म्बर (सल्ल०) ने पूछा: "वो पाँच विशेषताएँ क्या हैं जो तुमने अज्ञानता के दौर से पाई हैं?" आने वालों ने जवाब दिया: सुख-समृद्धि में शुक्र (कृतज्ञता) अदा करना, मुसीबत में सब्र (धैर्य) करना, मुक़ाबले के समय सच्चा साबित होना, तक़दीर (भाग्य) पर राज़ी रहना, किसी की मुसीबत पर खुश न होना, चाहे वो दुश्मन ही क्यों न हो। आपने फ़रमाया: "ये लोग ज्ञानी, सूझ-बूझ वाले हैं, इनके अंदर पैग़म्बरों जैसी विशेषताएँ हैं।" (*हिल्यातुल अवलिया*, खण्ड 9, पृष्ठ 279) एक और रिवायत में है: यह सुनकर नबी (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) ने फ़रमाया: "ये लोग संस्कारी, दृष्टि वाले, अक़्लमंद, और सब्र करने वाले हैं। इनके अंदर पैग़म्बरों की झलक है। इनकी बातें कितनी उच्च स्तर की हैं, कितनी खूबसूरत हैं, और कितनी सवाब वाली (नेकी वाली) हैं।" (*अल-ज़ुह्द अल-कबीर, अल-बैहक़ी*, हदीस संख्या 970)

ज़िमाद अल-अज़दी, क़बीला अज़्द शनुअह के एक व्यक्ति थे। वे भूत-प्रेत उतारने का काम करते थे। एक बार मक्का आए तो लोगों ने बताया कि एक व्यक्ति (अर्थात पैग़म्बर) पर जिन्न का असर हो गया है। ज़िमाद ये सोच कर आपसे मिलने आए कि वे अपने हुनर से आपका इलाज करेंगे। मगर जब उन्होंने आपकी बातें सुनीं, तो कहने लगे: "ख़ुदा की क़सम, मैंने काहिनों (ज्योतिषियों) जादूगरों

और कवियों की बहुत सी बातें सुनी हैं, मगर ऐसे बोल मैंने कभी नहीं सुने। अपना हाथ बढ़ाइए ताकि मैं इस्लाम क़बूल कर सकूं।" आपने हमेशा की तरह कोई लंबा भाषण नहीं दिया, बल्कि जैसा मुस्लिम और अहमद की रिवायत के अनुसार बस इतना कहा:

> "सब तारीफ़ें ख़ुदा के लिए हैं। हम उसी की तारीफ़ करते हैं, उसी से मदद माँगते हैं, उसी से माफ़ी माँगते हैं। हम अपने बुरे कामों से बचने के लिए उसी की पनाह चाहते हैं। जिसे ख़ुदा हिदायत दे, उसे कोई गुमराह नहीं कर सकता। और जिसे वह गुमराह कर दे, उसे कोई सही रास्ता नहीं दिखा सकता। मैं गवाही देता हूँ कि ख़ुदा के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं, वह अकेला है, उसका कोई साझी नहीं। और मैं गवाही देता हूँ कि मुहम्मद उसके बंदे और उसके भेजे हुए रसूल हैं।"

परंतु उन्होंने इन्हीं थोड़े शब्दों में अर्थों का खज़ाना पा लिया। उन्होंने कहा:

> "फिर से वो शब्द दोहराइए... ये शब्द तो समुद्र की गहराई तक उतर गए हैं।" (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 2749)

एक अरब व्यक्ति के लिए कहे गए और किए गए काम में कोई फ़र्क़ नहीं होता था। वह खुद भी अपने कहे और किए में सच्चे होते थे और दूसरों को भी सच्चा मानते थे। जैसे ही कोई बात उसकी समझ में आ जाती, वह तुरंत उसे मान लेता। इब्न इसहाक़ ने हज़रत अब्दुल्लाह बिन अब्बास से यह बात बयान की है कि क़बीला बनी सअद ने ज़िमाम बिन सालबा को अपना प्रतिनिधि बनाकर पैग़म्बर मुहम्मद के पास भेजा। वह मदीना आए, अपनी ऊँटनी को मस्जिद के दरवाज़े पर बैठाया और उसे बाँध दिया। इसके बाद वह मस्जिद के अंदर आए। उस समय आप अपने साथियों के साथ बैठे हुए थे। ज़िमाम एक बहादुर और समझदार व्यक्ति थे। उन्होंने आपकी सभा के सामने खड़े होकर कहा: तुम में से अब्दुल मुत्तलिब का बेटा कौन

है? आपने कहा: मैं अब्दुल मुत्तलिब का बेटा हूँ। ज़िमाम ने कहा: ऐ मुहम्मद! आपने कहा: हाँ। उन्होंने कहा: ऐ अब्दुल मुत्तलिब के बेटे! मैं आपसे कुछ सवाल करूँगा और सवाल में थोड़ी सख्ती भी करूँगा, आप इसे बुरा न मानिए। आपने कहा: मैं बुरा नहीं मानूँगा, जो पूछना है पूछो। ज़िमाम ने कहा: मैं आपको आपके ख़ुदा और उन लोगों के पूज्य देवताओं की क़सम देकर पूछता हूँ जो आपसे पहले थे और जो आप के बाद आएँगे — क्या अल्लाह ने आपको हम लोगों के पास पैग़म्बर बनाकर भेजा है? आपने कहा: हाँ, अल्लाह की क़सम! ज़िमाम ने कहा: मैं आपको फिर वही क़सम देकर पूछता हूँ — क्या अल्लाह ने आपसे कहा है कि हम सिर्फ़ उसी की पूजा करें और उसके साथ किसी को भी भागीदार न बनाएँ और उन मूर्तियों को छोड़ दें जिनकी पूजा हमारे बाप-दादा ने की थी? आपने कहा: हाँ, अल्लाह की क़सम! ज़िमाम ने पूछा: क्या अल्लाह ने आपको यह आदेश दिया है कि हम पाँचों समय की नमाज़ पढ़ें? आपने कहा: हाँ। वर्णन करने वाले कहते हैं कि इसी तरह ज़िमाम ने ज़कात, रोज़ा, हज और इस्लाम के सारे आदेशों के बारे में पूछा। हर आदेश के लिए ऊपर बताई गई क़सम देकर पूछा। जब वह सभी सवाल पूछ चुके तो कहा:

> "मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाह के सिवा कोई इबादत के लायक़ नहीं, और मैं गवाही देता हूँ कि मुहम्मद अल्लाह के भेजे हुए पैग़म्बर हैं। अब मैं इन फ़र्ज़ कामों को निभाऊंगा और जिन चीज़ों से आपने मना किया है उनसे दूर रहूँगा। इसमें न कोई कमी करूँगा और न कोई बढ़ोतरी।"

फिर वह अपनी ऊँटनी पर बैठकर वापस चले गए और अपने समुदाय में पहुँचकर उन्हें सारी बात बता दी। एक रिवायत के अनुसार, शाम होने से पहले पहले उनकी सभा के सारे मर्द और औरतें पैग़म्बर के अनुयाई बन गए (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 2380)।

उनके अंदर कोई दोहरापन नहीं था। स्वीकार करना और इनकार करना — उनके बीच कोई तीसरा रास्ता नहीं था। जब वह किसी से कोई वादा कर लेते तो हर हाल में उसे निभाते, चाहे इसके लिए जान और माल की कितनी भी बड़ी क़ुर्बानी क्यों न देनी पड़े। अरबों के इस चरित्र की झलक यस्रिब (मदीना) के क़बीलों — औस और ख़ज़रज — की उन बातों में मिलती है जो उन्होंने बैअत-उक़बा सानीया' के मौक़े पर कही थीं:

> जब यस्रिब (मदीना) के लोग आपसे वफ़ादारी का वचन देने के लिए जमा हुए तो अब्बास बिन उबादा ने कहा: "ऐ ख़ज़रज के लोगो! क्या तुम जानते हो कि तुम किस बात पर इस व्यक्ति (पैग़म्बर) से वफ़ादारी का वादा कर रहे हो?" उन्होंने कहा: "हाँ!" अब्बास ने कहा: "तुम इनसे यह वादा कर रहे हो कि तुम इनकी ख़ातिर हर लाल और गोरे (हर जाति के) आदमी से लड़ाई करोगे। अगर तुम्हारा यह ख्याल है कि जब तुम्हारा माल बरबाद हो जाए और तुम्हारे नेता मारे जाएँ तो तुम इन्हें छोड़ दोगे — तो अभी ऐसा कर लो। अगर बाद में ऐसा किया, तो अल्लाह की क़सम, यह दुनिया और आख़िरत की शर्मिंदगी होगी। लेकिन अगर तुम्हारा यह इरादा है कि तुम अपने वादे को निभाओगे, चाहे इसके लिए तुम्हारा माल लुट जाए और तुम्हारे बड़े लोग मारे जाएँ — तो फिर इन्हें साथ ले जाओ, क्योंकि अल्लाह की क़सम, यही दुनिया और आख़िरत की भलाई है।"
>
> उन्होंने कहा: "हम इन्हें अपने साथ ले जाएंगे, चाहे हमारे माल तबाह हों या हमारे नेता मारे जाएँ। ऐ अल्लाह के पैग़म्बर! अगर हम अपने वादे को पूरा कर दें, तो हमें इसके बदले में क्या मिलेगा?" आपने फ़रमाया: "जन्नत!" उन्होंने कहा: "तो फिर

> अपना हाथ बढ़ाइए।" आपने अपना हाथ बढ़ाया और उन्होंने आपसे वफ़ादारी का वचन ले लिया। (*अल-बिदायह व अल-निहायह*, खण्ड 3, पृष्ठ 162)

बाद की घटनाएँ साबित करती हैं कि यह सिर्फ़ एक भाषण नहीं था, बल्कि उन्होंने शब्द-ब-शब्द अपने उस वादे को निभाया। यहाँ तक कि जब इस्लाम को ताक़त मिल गई, तब भी उन्होंने अपनी कुर्बानियों के बदले कोई राजनीतिक लाभ नहीं माँगा, बल्कि ख़िलाफ़त मुहाजिरों (मक्का से प्रवास करके मदीना आने वालों) को सौंप दी और फिर इसी हाल में एक-एक करके दुनिया से चले गए।

संदेश का फैलना

इब्न इस्हाक़ ने अब्दुल्लाह बिन अब्बास से वर्णन किया है कि एक बार क़ुरैश के बड़े लोग अबू तालिब के पास इकट्ठा हुए। इनमें 'उतबा बिन रबीआ', 'शैबा बिन रबीआ', 'अबू जहल बिन हिशाम', 'उमय्या बिन ख़लफ़' और 'अबू सुफियान बिन हर्ब' जैसे नेता शामिल थे। अबू तालिब के ज़रिए उन्होंने पूछा कि आख़िर आप हमसे चाहते क्या हैं। आपने जवाब दिया:

> "मैं सिर्फ़ एक बात चाहता हूँ। अगर तुम इसे मान लो, तो पूरे अरब पर तुम्हारा राज होगा और जो ग़ैर-अरब हैं, वो भी तुम्हारे मातहत हो जाएँगे।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 417)

तौहीद (यानी एक अल्लाह में यक़ीन) का यह जुमला देखने में भले ही एक धार्मिक बात लगती है, लेकिन इसके अंदर हर तरह की इंसानी कामयाबी का राज़ छिपा है। यह इंसान की फितरत से मेल खाती है, इसलिए यह इंसान के दिल में उतर जाती है, और अकसर विरोधियों के बीच भी इसके मानने वाले पैदा हो जाते हैं। खालिद बिन वलीद मक्का की फ़तह से कुछ पहले इस्लाम ले आए थे, लेकिन इस्लाम की सच्चाई उनके दिल में बहुत पहले से बैठ चुकी थी। इस्लाम स्वीकार करने के बाद उन्होंने कहा, "मेरे दिल में बहुत पहले से यह

एहसास था कि सच क़ुरैश के साथ नहीं, बल्कि मुहम्मद के साथ है, और मुझे उनसे जुड़ जाना चाहिए।"

> "मैं पैग़म्बर मुहम्मद के खिलाफ़ जंगों में जब भी शामिल हुआ, कभी ऐसा नहीं हुआ कि मुझे ये अहसास न हुआ हो कि मैं ग़लत तरफ़ हूँ।" (*मग़ाज़ी अल-वाक़दी*, खण्ड 2, पृष्ठ 746)

ऐसे ही बहुत से लोगों के बारे में आता है कि उनके दिल में इस्लाम के लिए बहुत पहले से नरम भाव पैदा हो चुके थे। यहाँ तक कि वे इस्लाम को लेकर ख्वाब तक देखने लगे थे। जैसे कि ख़ालिद बिन सईद बिन आस ने इस्लाम लाने से पहले एक सपना देखा कि वे आग के एक बड़े गड्ढे के किनारे खड़े हैं, और कोई उन्हें उसमें गिराने की कोशिश कर रहा है। तभी पैग़म्बर मुहम्मद आ गए और उन्हें उस आग में गिरने से बचा लिया। (*उस्दुल-ग़ाबह,* इब्न अल-असीर, खण्ड 1, पृष्ठ 574)

इस्लाम का पैग़ाम पहुँचाना देखने में कोई आर्थिक गतिविधि नहीं लगती, लेकिन असल में यह एक बहुत बड़ी आर्थिक गतिविधि बन जाती है। जब कोई इस्लाम अपनाता है, तो उसके साथ उसके सारे संसाधन भी इस्लाम की राह में लग जाते हैं। मक्का के शुरुआती दौर में हज़रत ख़दीजा की दौलत इस्लाम के लिए इस्तेमाल हुई। फिर अबू बक्र ईमान लाए, जिनके पास व्यापार से कमाए हुए चालीस हज़ार दिरहम थे, और यही पैसा इस्लामी काम का सहारा बना। जब हिजरत हुई, तो वह छह हज़ार दिरहम लेकर चले, जो सब के सब सफ़र के काम में खर्च हो गए। ग़ज़वा-ए-तबूक में हज़रत उस्मान ने दस हज़ार दीनार दिए, जिससे पूरी फौज की एक-तिहाई ज़रूरतें पूरी हुईं। (*अस्सीरह अल-हल्बिया*, खण्ड 3, पृष्ठ 184; मग़ाज़ी अल-वाक़िदी, खण्ड 3, पृष्ठ 991) हज़रत अब्दुर्रहमान बिन औफ़ ने एक ही मौक़े पर जिहाद के लिए पाँच सौ घोड़े दिए। (*अल-इसाबा तमयीज़ अस-सहाबा*, खण्ड 4, पृष्ठ 291) यानी जब भी कोई इस्लाम कुबूल करता, तो सिर्फ़ वह इंसान ही नहीं, उसका माल-दौलत भी इस्लाम के ख़ज़ाने में शामिल हो जाता।

तौहीद (एकेश्वरवाद) का नज़रिया वो इकलौता नज़रिया है जिसमें समाजी ऊँच-नीच और भेदभाव की कोई जगह नहीं है। इसलिए जब इस नज़रिये पर कोई आंदोलन खड़ा होता है, तो आम लोग उससे बहुत जल्दी जुड़ जाते हैं। क्योंकि उन्हें लगता है कि तौहीद के साए में उन्हें बराबरी और इंसानी इज़्ज़त का असली दर्जा मिल सकता है। मुग़ीरा बिन शु'बा फारस के सेनापति रुस्तम के दरबार में पहुँचे, तो उन्होंने जो तक़रीर की, उसका असर वहाँ बैठे लोगों पर इब्न जरीर की रिवायत के मुताबिक कुछ यूँ हुआ:

> "नीचे के लोगों ने कहा, "ख़ुदा की क़सम, इस अरबी ने सच्ची बात कही।" और नेताओं ने कहा, "ख़ुदा की क़सम, इसने ऐसी बात कह दी है जिसकी तरफ़ हमारे सारे ग़ुलाम खिंचे चले जाएंगे। ख़ुदा हमारे पहले लोगों को बर्बाद करे, वो कितने मूर्ख थे कि उन्होंने इस क़ौम के मामले को छोटा समझा।" (*तारीख़ अल-तबरी*, खण्ड 3, पृष्ठ 522)

नबूवत के तेरहवें साल जब पैग़म्बर-ए-इस्लाम हज़रत अबू बक्र के साथ मदीना पहुँचे, तो वहाँ की आबादी के लगभग 500 लोग आपके स्वागत के लिए इकट्ठा हुए और उन्होंने कहा:

> "आईए, आप यहाँ सुरक्षित हैं और हमारे नेता हैं।" (*अल-तारीख़ अल-औसत,* अल-बुख़ारी, हदीस संख्या 14)

मदीना की यह सरदारी आपको कैसे हासिल हुई? इसका जवाब है – पैग़म्बर की शिक्षा के माध्यम से। मदीना (यस्रिब) का पहला व्यक्ति जिसे आपने इस्लाम की शिक्षा दी, शायद सुवैद बिन सामित ख़ज़रजी थे। आपने उनसे इस्लाम का ज़िक्र किया, तो उन्होंने कहा, "शायद आपके पास वही है जो मेरे पास है।" आपने पूछा, "तुम्हारे पास क्या है?" उन्होंने कहा, "हिकमत-ए-लुक़माना।"।

आपने कहा, "बताओ क्या है?" उन्होंने कुछ शेर सुनाए। आपने फ़रमाया, "मेरे पास क़ुरान है जो इससे भी बेहतर है।" इसके बाद आपने उन्हें क़ुरान सुनाया, और

वह तुरंत मुसलमान हो गए। जब वह वापस यस्रिब गए और अपने क़बीले के सामने इस्लाम का पैग़ाम रखा, तो उन्हें उनके क़बीले वालों ने मार डाला। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 427)

इसके बाद मदीना के एक सरदार (प्रमुख) अबुल हैसर अनस बिन राफ़े मक्का आए। उनके साथ बनी अब्दुल अशहल के नौजवानों का एक दल भी था। ये लोग इस मक़सद से मक्का आए थे कि क़बीला ख़ज़रज की मदद के लिए क़ुरैश से समझौता करें। जब आपको उनके आने की ख़बर मिली तो आप उनके पास गए और कहा: "क्या मैं तुम्हें उस काम से बेहतर बात न बताऊँ, जिसके लिए तुम आए हो?" फिर आपने उनके सामने तौहीद (एकेश्वरवाद) का पैग़ाम रखा। उनके एक नौजवान इयास बिन मुआज़ बोले: "ऐ क़ौम! ख़ुदा की क़सम, यह बात उस काम से बेहतर है जिसके लिए तुम आए हो।" मगर उस दल को यह बात समझ नहीं आई। उन्होंने कहा:

> "हमें छोड़ दो, हम किसी और काम के लिए आए हैं।" फिर वे यस्रिब लौट गए, और जल्द ही औस और ख़ज़रज के बीच वो जंग छिड़ गई जो बुआस की जंग के नाम से मशहूर हुई। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 427–28)

ख़ुबैब बिन अब्दुर्रहमान बयान करते हैं कि मदीना के दो व्यक्ति सअद बिन ज़ुरारा और ज़कवान बिन क़ैस मक्का आए और उत्बा बिन रबीआ के यहाँ ठहरे। जब उन्होंने पैग़म्बर-ए-इस्लाम का ज़िक्र सुना तो आपसे मिलने आए। आपने उन्हें इस्लाम का पैग़ाम दिया और क़ुरान सुनाया। दोनों ने इस्लाम कबूल कर लिया। फिर वे अपने मेज़बान उत्बा बिन रबीआ के पास नहीं गए बल्कि सीधा आपके यहाँ से यस्रिब लौट गए। ये उन पहले लोगों में से हैं जिन्होंने मदीना (यस्रिब) में इस्लाम का पहला संदेश पहुँचाया। (*अत-तबक़ात अल-कुबरा*, इबने सअद, खण्ड 3, पृष्ठ 608) यह पैग़म्बरी के दसवें साल की घटना है।

पैग़म्बरी के ग्यारहवें साल, हज के मौके पर यस्रिब से क़बीला ख़ज़रज के छह लोग आए। उन्होंने आपके हाथ पर बैअत (प्रतिज्ञा) की और वापस जाकर अपने गांव के लोगों को इस्लाम की शिक्षा देनी शुरू की। अगले साल (12 नबवी में) बारह लोगों ने आकर बैअत की, जो इस्लाम के इतिहास में अक़बा-ए-ऊला (621 ईस्वी) के नाम से मशहूर है। नबूवत के तेरहवें साल इनकी संख्या और बढ़ गई और मदीना से 75 लोग मक्का आए और बैअत अक़बा-ए-सानिया की घटना पेश आई।

मक्का के उलट, मदीना में एक ख़ास बात ये हुई कि शुरू के दौर में ही वहाँ के प्रमुख लोगों ने इस्लाम कबूल कर लिया। (हिल्यतुल औलिया, खण्ड 1, पृष्ठ107) चूँकि वह क़बीलाई दौर था और क़बीलों में ये रिवाज था कि क़बीले के नेता का जो धर्म होता था, वही पूरे क़बीले का धर्म बन जाता था—इसलिए मदीना में इस्लाम बहुत तेज़ी से फैलने लगा। यहाँ तक कि कोई भी घर ऐसा नहीं बचा जिसमें इस्लाम दाख़िल न हो गया हो। (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 14456) इस तरह जब मदीना की आबादी में मुसलमानों की संख्या ज़्यादा हो गई, तो वे खुद-ब-खुद सबसे ज़्यादा प्रभावशाली बन गए। (*अल-मोजम अल-कबीर,* अल-तबरानी, हदीस संख्या 849) यानी, मुसलमान मदीना के सबसे प्रभावशाली लोग बन गए और उनकी समस्याएं हल हो गईं।

संदेश की मूल विशेषताएं

हर दौर में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो समय के प्रभाव से बचे रहते हैं और अपनी प्रकृति की आवाज़ को सुनते रहते हैं। अरब समाज में भी, स्वाभाविक सादगी और इब्राहीमी परंपरा के कुछ अवशेषों के कारण, ऐसे कई लोग थे जो सच्चाई की खोज में थे और मूर्तिपूजा को पसंद नहीं करते थे। आम तौर पर इन्हें 'हनीफ' कहा जाता था। जैसे कि क़ुस बिन साइदा, वर्क़ा बिन नौफ़ल आदि। ऐसे ही एक हनीफ़ व्यक्ति जुन्दुब बिन अम्र अल-दौसी थे, वे जमाना-ए-जाहिलियत (इस्लाम से

पहले का समय) में कहा करते थे: "बेशक इस सृष्टि का कोई रचयिता (creator) है, लेकिन मैं नहीं जानता कि वह कौन है।" (*अल-इसाबा फ़ी तम्यीज़-अस-सहाबा*, इब्न हजर अल-असक़लानी, खण्ड 3, पृष्ठ 424)

जब उन्हें आप की पैग़म्बरी (Prophethood) की ख़बर मिली तो वे अपनी क़ौम के 75 लोगों को साथ लेकर आए और सब ने इस्लाम क़बूल कर लिया। (*अल-इसाबा फ़ी तम्यीज़-अस-सहाबा*, इब्न हजर अल-असक़लानी, खण्ड 3, पृष्ठ 424) अबू ज़र ग़िफ़ारी भी ऐसे ही सच्चाई के खोजियों में से थे। जब उन्हें आपके बारे में पता चला तो उन्होंने अपने भाई को मक्का भेजा कि जाकर पता लगाओ। भाई ने लौटकर आपके बारे में जो बताया उसमें एक वाक्य था: "मैंने एक आदमी को देखा जिसे लोग धर्म बदलने वाला कहते हैं, लेकिन वह तुम्हारे जैसा ही है।" (*अल-इसाबा फ़ी तम्यीज़-अस-सहाबा*, इब्न हजर अल-असक़लानी, खण्ड 7, पृष्ठ 107)

ऐसे लोगों को आपके संदेश को समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

जब किसी समाज में सत्य का संदेश शुरू होता है तो वह ऐसे-ऐसे स्थानों पर असर डालता है जिसका अंदाज़ा खुद उस व्यक्ति को भी नहीं होता जो संदेश दे रहा होता है।

अरब में जो लोग देर से इस्लाम में दाखिल हुए, इसका मतलब यह नहीं था कि उन्हें अचानक इस्लाम की सच्चाई समझ में आ गई। असल में, नबी की उच्च नैतिक जिंदगी, दिन-रात अल्लाह का संदेश पहुंचाना, विरोध के कारण उनका और उनके संदेश का की हर ओर चर्चा – इन सबने अरबों के दिलों में इस्लाम का बीज बो दिया था। क़बीलाई गर्व और पूर्वजों की परंपरा के कारण लोग ऊपर से तो विरोध में लगे थे, लेकिन भीतर-ही-भीतर इस्लाम का असर बढ़ता जा रहा था। हज़रत उमर के इस्लाम क़बूल करने के बारे में आम तौर पर यही मशहूर है कि एक घटना ने उनको पैग़म्बर (सल्ल०) का अनुयाई बना दिया। ये सही है की

ये घटना आखिरी फैसला लेने की वजह बन गई लेकिन असल में उनके मन में सच्चाई का बीज पहले ही पड़ चुका था:

> उम्मे अब्दुल्लाह बिंत अबी हस्मा कहती हैं: "ख़ुदा की क़सम, हम लोग हबश (इथोपिया) की ओर हिजरत (प्रवास) कर रहे थे, और मेरे पति आमिर कुछ ज़रूरतों के लिए गए हुए थे। तभी उमर बिन खत्ताब आए और मेरे पास खड़े हो गए। वे अब तक पैग़म्बर (सल्ल०) के अनुयाई नहीं बने थे। हमें उनसे बहुत कष्ट और सख्ती झेलनी पड़ी थी। उन्होंने कहा: 'ए उम्मे अब्दुल्लाह! तुम लोग जा रहे हो?' मैंने कहा: 'हाँ, ख़ुदा की क़सम, हम अल्लाह की धरती में किसी और जगह जा रहे हैं, क्योंकि तुम लोगों ने हमें सताया और ज़ुल्म किया। जब तक अल्लाह हमें कोई रास्ता न दे।' वे बोले: 'अल्लाह तुम्हारे साथ हो।' मैंने उनकी आँखों में वह नरमी देखी जो मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। फिर वे चले गए और ऐसा लगा जैसे उन्हें हमारे जाने का बहुत दुःख हुआ हो।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 342–43)

हर ज़माने में कुछ ऐसे विचार होते हैं जो आम लोगों के दिमाग़ में गहरे बैठ जाते हैं। जब तक इन विचारों की दीवार न टूटे, कोई भी बात केवल नज़रिए या तर्क से लोगों के दिमाग़ में जगह नहीं बना पाती। शुरुआती दौर में जो लोग इस्लाम का विरोध करते थे, यह केवल ज़िद या स्वार्थ नहीं था। उन्हें यह बात समझ में नहीं आती थी कि काबा के संरक्षकों (कुरैश) के अलावा भी किसी का धर्म सच्चा हो सकता है। जो अरब क़बीले यहूदियों के पास रहते थे, वे ऐसी उलझनों से बचे हुए थे, क्योंकि वे यहूदियों से यह सुनते थे कि हमारी किताबों में लिखा है कि अरब में एक नबी आएगा:

> जब उन्होंने पैग़म्बर की बात को सुना तो वे शांत हो गए, उनका मन संतुष्ट हो गया और उन्हें विश्वास हो गया कि यह वही व्यक्ति

> है जिसके बारे में वे यहूदियों से सुनते थे। उन्होंने आप पर विश्वास किया और ईमान ले आए। (*अल-मुअजम अल-कबीर*, अल-तबरानी, हदीस संख्या 849)

एक बार उकाज़ के मेले में जब आप बनू किंदा के तंबुओं में गए और उन्हें संदेश दिया तो एक नौजवान बोला:

> "ऐ लोगो, इस आदमी की बात को अपनाने में जल्दी करो, इससे पहले कि दूसरे लोग तुम से आगे निकल जाएँ। ख़ुदा की क़सम, किताब वाले कहते हैं कि हरम से एक नबी आने वाला है और उनका समय बहुत नज़दीक है।" (*दलायल-उन-नुबूवत*, हदीस संख्या 222)

मदीना के औस और ख़ज़रज क़बीले जल्दी ही मुसलमान बन गए क्योंकि ऊपर कही गई बात की उन्हें पहले से जानकारी थी। लेकिन मक्का और बाक़ी अरब क़बीले काबा को ही सच्चाई का पैमाना मानते थे। पुराने ज़माने के अरबों के लिए काबा उतना ही अहम था जितना किसी राजा के लिए उसका ताज। काबा के साथ सिर्फ सत्ता नहीं, बल्कि पवित्रता की परम्पराएँ भी जुड़ी हुई थीं। इसलिए आम अरब ये समझते थे कि जो काबा पर कब्ज़ा कर ले, वही सच्चाई वाला है। बनू आमिर के ज़ुल-जौशन अल-ज़िबाबी कहते हैं कि पैग़म्बर ने मुझसे कहा:

> "ऐ ज़ुल-जोशन, तुम ईमान क्यों नहीं लाते? तुम पहले लोगों में गिने जाते।" मैंने कहा: "नहीं, क्योंकि मैं देखता हूँ कि आपकी क़ौम आपके खिलाफ़ है।" पैग़म्बर ने पूछा: "बद्र की लड़ाई में तुम्हें क्या ख़बर मिली?" मैंने कहा: "हाँ, मुझे पता चला है।" उन्होंने कहा: "हम तो बस तुम्हें सही रास्ता दिखा रहे हैं।" मैंने कहा: "अगर आप काबा पर काबिज़ हो जाएं तो..." उन्होंने कहा: "अगर तुम ज़िंदा रहे तो ये देख लोगे।" ज़ुल-जोशन कहते हैं: "फिर एक दिन मैं अपने परिवार के साथ था

> कि एक सवार आया और बोला: 'मुहम्मद ने काबा को फ़तह कर लिया है और अब वहीं रह रहे हैं।' मैंने कहा: 'काश मैंने उसी दिन इस्लाम क़बूल कर लिया होता और अब उनसे अल-हीरा (का इलाका) मांगता तो वो ज़रूर मुझे दे देते।'" (*मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 16633)

इसीलिए जब मक्का फतह हुआ, तो लोग झुंड के झुंड इस्लाम में दाखिल होने लगे। (क़ुरान, 110:2)

संदेश पर लोगों की प्रतिक्रिया

जब पैग़म्बर (सल्ल०) ने सच्चाई का संदेश देना शुरू किया, तो वही घटनाएं सामने आने लगीं जो आमतौर पर तब होती हैं जब किसी समाज में कोई नई आवाज़ उठती है। कुछ लोग हैरान थे कि यह क्या बात है। अब्द बिन हुमैद ने अपनी किताब "मुसनद" में लिखा है कि एक बार कुरैश के प्रमुख लोगों ने उत्बा बिन रबीआ को अपना प्रतिनिधि बनाकर आपके पास भेजा। उसने आपके खिलाफ़ एक लंबा भाषण दिया। जब वह बोल चुका तो आपने पूछा: "क्या तुम बोल चुके?" उसने कहा: "हाँ।" आपने "बिस्मिल्ला हिर-रहमानिर-रहीम" कहकर क़ुरान, हा-मीम सज्दा की शुरुआती 13 आयतें पढ़ीं और उसे सुनाईं। उतबा ने सुनकर कहा: "बस, बस! तुम्हारे पास इसके अलावा और कुछ नहीं?" आपने कहा: "नहीं।" इसके बाद की बात कुछ इस तरह है:

> "जब उत्बा वापस कुरैश के पास गया तो उन लोगों ने पूछा: "क्या हुआ?" उत्बा ने कहा: "मैंने वो सब कुछ कह दिया जो तुम कहते थे।" उन्होंने पूछा: "उसने कोई जवाब दिया?" उत्बा ने कहा: "हाँ।" फिर कहा: "ख़ुदा की क़सम, उसने जो कुछ कहा, मैं उसमें से कुछ भी नहीं समझ सका, बस इतना समझ आया कि उसने मुझे 'आद' और 'समूद' (पुरानी क़ौमें) की तरह एक बिजली की कड़क से डराया।" उन्होंने कहा: "बुरा हो तुम्हारा!

> एक आदमी तुमसे अरबी में बात कर रहा है और तुम कहते हो कि समझ नहीं पाए?" उत्बा ने कहा: "हाँ, ख़ुदा की क़सम, मुझे जो कुछ समझ आया वह बस यही था कि उसने मुझे कड़क से डराया।" (*मुसनद अबू याला*, हदीस संख्या 1818)

कुछ लोग जो धर्म के पारंपरिक ढांचे के आदी हो चुके थे, उन्हें आपकी बातों में अपने बुज़ुर्गों की बुराई महसूस हुई। अबू नुऐम ने अपनी किताब "दलाईल अल-नुबूवः" में और नसई, बग़वी वगैरह ने लिखा है कि हज़रत ज़िमाद मक्का उमरा करने आए थे। एक दिन वे एक सभा में बैठ गए जहाँ अबू जहल, उत्बा बिन रबीआ, और उमय्या बिन ख़लफ़ बैठे थे। अबू जहल ने कहा:

> "यही वो आदमी है जिसने हमारी एकता को तोड़ दिया, हमें बेवकूफ़ कहा, हमारे दिवंगत बुज़ुर्गों को गुमराह बताया, और हमारे पूज्य देवताओं की बुराई की।" उमय्या बोला: "ये आदमी पागल है, इसमें कोई शक नहीं।" (*दलाईल अल-नुबूवः*, अबू नुऐम, हदीस संख्या 187)

जब अम्र बिन मुर्रह जुहनी ने अपने क़बीले जुहैना को इस्लाम की तरफ़ बुलाया, तो एक आदमी ने गुस्से में कहा:

> "अरे अम्र बिन मुर्रह! ख़ुदा तुम्हारी जिंदगी मुश्किल कर दे! क्या तुम हमें हमारे पूज्यों को छोड़ने को कहते हो? और यह कि हम अपनी एकता को तोड़ दें? और अपने बाप-दादाओं के धर्म का विरोध करें जो बड़े अच्छे चरित्र वाले थे? ये क़ुरैशी जो तिहामा इलाके का रहने वाला है हमें किस चीज़ की ओर बुला रहा है? इसमें ना कोई इज़्ज़त है और ना कोई अच्छाई!"

इसके बाद उस व्यक्ति ने तीन शेर पढ़े। आख़िरी शेर यह था:

> वह हमारे पूर्वजों को नासमझ साबित करना चाहता है,
>
> जिसका ऐसा इरादा हो, वह कभी सफलता नहीं पा सकता।
>
> (*तारीख़ दमिश्क़*, इब्न असाकिर, खण्ड 46, पृष्ठ 345)।

कुछ लोगों के लिए हसद (ईर्ष्या) रुकावट बन गई, क्योंकि आप अपनी पैग़म्बरी का ऐलान कर रहे थे। दूसरे शब्दों में, यह कहना कि मेरे पास सच्चाई का ज्ञान है। और इंसान के लिए हमेशा यह सबसे कठिन बात रही है कि वह यह माने कि किसी दूसरे को अल्लाह ने वह सच्चा ज्ञान दिया है जो उसे खुद नहीं मिला। बैहक़ी ने मुगीरा बिन शुअबा से बयान किया है कि अबू जहल बिन हिशाम ने एक दिन उनसे अकेले में कहा:

> "ख़ुदा की क़सम! मैं जानता हूँ कि जो वह कहता है, वह सच है, लेकिन एक बात मुझे रोकती है— बनी क़ुसई ने कहा की काबा की चाबी हमारे पास है। हमने कहा: हाँ। फिर उन्होंने कहा: ज़ायरीन (दर्शनार्थियों) को पानी पिलाने का काम हमारा है। हमने कहा: हाँ। फिर उन्होंने कहा: हमारे पास सभा का अधिकार है। हमने कहा: हाँ। फिर उन्होंने कहा: लड़ाई में झंडा उठाना हमारी ज़िम्मेदारी है। हमने कहा: हाँ। अब वो कहते हैं कि पैग़म्बर भी हम में से है। ख़ुदा की क़सम! मैं इसे कभी नहीं मानूंगा।" (*सीरत इब्न कसीर*, खण्ड 1, पृष्ठ 507)

कुछ लोग इस वजह से पैग़म्बर के विरोधी हो गए क्योंकि उन्हें आपकी बात मानने से अपना आर्थिक नुकसान दिखता था। इस्लाम से पहले काबा एक बहुत बड़ा मूर्ति घर था जिसमें हर धर्म की मूर्तियाँ रखी गई थीं। यहाँ तक कि उसमें ईसा और मरयम की तस्वीरें भी थीं। इस तरह काबा हर धर्म के लोगों के लिए तीर्थ स्थान बन गया था। चार पवित्र महीनों का मक़सद भी यही था क्योंकि उन दिनों हर धर्म के लोग मक्का आते थे। अगर मूर्तियाँ काबा से हटा दी जातीं तो कोई भी काबा की ज़ियारत के लिए न आता और मक्का का बाज़ार जो चार महीने तक चलता था, बंद हो जाता। इसलिए मक्का के लोग पैग़म्बर की बात को अपने लिए ख़तरा समझते थे। उनका मानना था कि अगर एकेश्वरवाद का धर्म फैल गया तो यह बंजर इलाका पूरी तरह बरबाद हो जाएगा। साथ ही, काबा के प्रबंधन ने क़ुरैश को दूसरे क़बीलों पर एक नेता सरदारी का दर्जा दे रखा था। एक इतिहासकार लिखते हैं:

> "क़ुरैश का माल और व्यापार पूरब और पश्चिम हर तरफ़ जाता था। यह व्यापारिक सफ़र उनके और दूसरी ताक़तवर क़ौमों के बीच हुए व्यापारिक समझौतों के तहत होता था जैसे कि फ़ारस, हब्शा और बाइज़न्टाइन हुकूमत। क़ुरैश का मानना था कि अगर उन्होंने पैग़म्बर मुहम्मद की बात मान ली, तो इसका मतलब होगा कि पड़ोसी देश और अरब के दूसरे धर्म वाले क़बीले वे समझौते ख़त्म कर देंगे जो उन्होंने क़ुरैश के व्यापारिक काफ़िलों की सुरक्षा के लिए किए थे। और अगर ऐसा हुआ, तो यह क़ुरैश के व्यापारिक और आर्थिक अंत के बराबर होगा और अरब पर उनका राज भी ख़त्म हो जाएगा।"

इसलिए सूरह वाक़िया की यह आयत: "और तुम सच्चाई झुटलाने को अपनी रोज़ी बना रहे हो" (56:82)— इसकी एक व्याख्या ये की गई है कि तुम यह समझ रहे हो कि पैग़म्बर की बात को न मानकर अपनी रोज़ी और माल को बचा लोगे।

पैग़म्बर (सल्ल०) के इस्लाम का संदेश देने के चलते उनका अस्तित्व एक सवाल बन गया था। आपको देखने वाला दूसरे से पूछता: क्या यही वह शख़्स हैं? (*मुसनद अबू याला*, हदीस संख्या 6830)

एक रिवायत में है:

> "और वह लोगों के बीच चलते थे तो लोग उंगलियों से उनकी तरफ़ इशारा करते थे।" (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 14456)

अब जब कोई मक्का आता तो लौटकर अपने साथियों से बाक़ी बातों के साथ यह भी बताता: "मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह ने पैग़म्बरी का दावा किया है और अबू क़ुहाफ़ा के बेटे (अबू बक्र) उनका साथ दे रहे हैं।" (*दलाईलुन्नुबुव्वह, अल-बैहक़ी*, पृष्ठ 28)

क़ुरैश ने आपका नाम मुहम्मद की जगह "मुज़म्मम " रख दिया (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 3533)। वे आप पर अपने पूर्वजों को नासमझ बताने का इल्ज़ाम लगाते (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 7036)। वे आपके रास्ते में रात को गंदगी

फेंक देते। एक बार आपने देख कर कहा: يَا بَنِي عَبْدِ مَنَافٍ، أَيُّ جِوَارٍ هَذَا "ऐ अब्द मनाफ़ के वंशजो! यह कैसा पड़ोस है?" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 416)

अबू तालिब के ज़िंदा रहते हुए वे पैग़म्बर के खिलाफ़ कोई ज़ालिमाना कार्रवाई नहीं कर सके क्योंकि क़बीलाई रिवाज के मुताबिक अगर किसी एक व्यक्ति पर हमला किया जाता तो वह पूरे क़बीले से लड़ाई मानी जाती। एक बार जब उमर बिन ख़त्ताब इस्लाम लाने से पहले तलवार लेकर आपको मारने निकले, तो एक आदमी का यह वाक्य उन्हें रोकने के लिए काफी था:

> "और तू बनू हाशिम और बनू ज़ुहरा से कैसे बचेगा अगर तूने मुहम्मद को मार डाला?" (*दलाईलुन्नुबुव्वह*, अल-बैहक़ी, खण्ड 2, पृष्ठ 219)

जब भी कोई व्यक्ति आपके ख़िलाफ़ कुछ करने की सोचता, यह सवाल उसके सामने खड़ा हो जाता। यही वजह है कि मक्का में जो ज़ुल्म हुए, वे ज़्यादातर ग़ुलामों और (कनीज़ों) नौकरानियों के ख़िलाफ़ हुए। अब्दुल्लाह बिन मसऊद कहते हैं कि शुरू में सात लोगों ने मक्का में इस्लाम का एलान किया: पैग़म्बर मुहम्मद, अबू बक्र, अम्मार, सईद, सुहैब, बिलाल और मिक़दाद।

> "पैग़म्बर (स्ल्ल०) को ख़ुदा ने उनके चाचा अबू तालिब के ज़रिए सुरक्षित रखा। अबू बक्र की सुरक्षा उनकी क़ौम ने की। बाक़ी लोगों को मुशरिकों ने पकड़ लिया, लोहे की ज़िरह पहनाई और तेज़ धूप में तपाया।" (*सुनन इब्न माजा*, हदीस संख्या 150; *मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 3832)

इमाम बैहक़ी ने हज़रत अब्दुल्लाह बिन जाफ़र से वर्णन किया है कि जब बनी हाशिम के प्रमुख अबू तालिब का निधन हो गया तो क़ुरैश के एक बदतमीज़ व्यक्ति ने पैग़म्बर पर मिट्टी फेंक दी। जब आप घर लौटे, तो आपकी एक बेटी ने आपके ऊपर से मिट्टी साफ़ की। उस समय आपने कहा— "मुझे क़ुरैश से अब तक कभी इतनी घटिया हरकत का सामना नहीं करना पड़ा था। अबू तालिब के

निधन के बाद उन्होंने इस तरह की हरकतें शुरू कर दीं। हज़रत अबू हुरैरा के एक वर्णन में है:

> "जब अबू तालिब की मृत्यु हुई तो मक्का के क़ुरैशियों ने पैग़म्बर के साथ बहुत कठोर व्यवहार करना शुरू कर दिया तो पैग़म्बर (स्ल्ल०) ने कहा: चाचा, आपकी कमी का अहसास मुझे कितनी जल्द हो गया।" (*हिल्यतुल औलिया*, खण्ड 8, पृष्ठ 308)

अबू तालिब की मृत्यु के बाद क़ुरैश के लोगों ने पैग़म्बर (स्ल्ल०) को मारने की साज़िशें करनी शुरू कर दीं। अबू जहल द्वारा आपके सिर पर ऊंट की अंतड़ियां डालना और उक़्बा बिन मुऐत द्वारा आपकी गर्दन में चादर लपेट कर खींचना, ये सब उसी दौर की घटनाएं हैं, जब आपको गला घोंटकर मारने की कोशिश की गई, जो विफल रही। अबू तालिब की मृत्यु के बाद, ऊपर से तो ऐसा लगता था कि आपके विरुद्ध हमले का रास्ता साफ हो गया है, लेकिन एक प्रकार की झिझक इसलिए बाक़ी रही क्योंकि यह अरब इतिहास का अपनी तरह का पहला मामला था। इसके अतिरिक्त, खुद मक्का के समाज में भी कुछ ऐसे लोग थे जो अपने अंतर्मन की आवाज़ पर चलकर आपकी रक्षा करना चाहते थे। उदाहरण के तौर पर, जब अबू जहल ने पहली बार आपके सिर और गर्दन पर ऊंट की अंतड़ियां डाल कर आपको मारने की कोशिश की, तो अबुल बख़्तरी को इसकी ख़बर मिली। वह कोड़ा लेकर काबा पहुंचा, जहाँ अबू जहल अपने साथियों के बीच विजय की मुद्रा में बैठा था। जब पुष्टि हो गई कि घटना सच है, तो अबुल बख़्तरी ने अबू जहल के सिर पर इतनी ज़ोर से कोड़ा मारा कि वह चिल्ला उठा।

धर्मों का इतिहास बताता है कि बहुदेववादी विचारधारा हमेशा अपने विरोध में कही गई बातों को लेकर अत्यधिक संवेदनशील रही है। और प्राचीन समय में सामाजिक व्यवस्था भी अक्सर बहुदेववादी सिद्धांतों पर आधारित होती थी, इसलिए उस सख़्ती के पीछे राजनीतिक कारण भी होते थे। इसी कारण मक्का का माहौल एकेश्वरवाद के संदेश के लिए अत्यंत कठिन और धैर्य की परीक्षा लेने वाला साबित हुआ। शुरुआती तीन वर्षों तक, कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को

छोड़कर कोई भी आप पर विश्वास नहीं कर सका। लगभग दो वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में बसे मक्का में जैसे कोई वृक्ष छाया नहीं देता था, वैसे ही वहां आपके साथियों और समर्थकों का भी अभाव था। उस समय बस्ती में केवल चार लोग थे जो आपके करीबी माने जा सकते थे— ख़दीजा, अली, ज़ैद और अबू बक्र। यदि अबू बक्र की छोटी बेटी आयशा को भी गिन लिया जाए, जिन्हें पहला जन्मजात मुसलमान कहा जाता है, तो आपके समर्थकों की कुल संख्या पाँच हो जाती है।

ये हालात पूरे तीन साल तक चलते रहे। उस समय का माहौल ऐसा था कि जैसे ही आप घर से बाहर निकलते, लोग आपका स्वागत ऐसे करते मानो कोई दीवाना हो। एक दिन, अबू जहल की साज़िश पर एक भीड़ आपको गालियां दे रही थी और अपशब्द कह रही थी। उसी समय एक व्यक्ति वहाँ से गुज़रा। मक्का के एक सम्मानित व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार उसे असहनीय लगा। वह सीधा आपके चाचा हमज़ा के पास गया और कहा, "आपका आत्म-सम्मान कहाँ गया? लोग आपके भतीजे को अपमानित कर रहे हैं और आप उनकी मदद नहीं कर रहे।"

हमज़ा बिन अब्दुल मुत्तलिब की अरबी आत्म-सम्मान की भावना उभर आई। वह तुरंत अबू जहल के पास पहुंचे और अपने लोहे के धनुष की कमान से उसके सिर पर वार किया और बोले: "आज से मैं भी मुहम्मद का धर्म अपनाता हूं। तुमहें जो करना हो करो।" ("मेरा धर्म, मुहम्मद का धर्म है। मैं गवाही देता हूं कि वे अल्लाह के सच्चे दूत हैं। अल्लाह की क़सम, अब मैं पीछे नहीं हटूंगा। अगर तुम सच्चे हो तो मुझे रोक कर दिखाओ।" — (*अल-मुअजम अल-कबीर*, अल-तबरानी, हदीस संख्या 2926)

हज़रत हमज़ा अरब के प्रसिद्ध पहलवान थे। अब कुछ लोगों को साहस मिला और मुसलमानों की संख्या बढ़कर 30 तक पहुंच गई। उस समय मक्का में दो अत्यंत प्रभावशाली व्यक्ति थे— एक उमर बिन ख़त्ताब और दूसरा अबू जहल बिन हिशाम। आपने दुआ की: "ऐ अल्लाह! इन दोनों में से किसी एक के माध्यम से इस्लाम को शक्ति प्रदान कर।" (*अल-मुअजम अल-कबीर*, अल-तबरानी, हदीस संख्या 10314) आपकी यह प्रार्थना पहले व्यक्ति (उमर) के हक़ में

स्वीकार हुई। नबूवत के छठे वर्ष हज़रत उमर का मुसलमान हो जाना कई अन्य लोगों के इस्लाम अपनाने का कारण बना और मुसलमानों की संख्या 40 हो गई। यही वह समय था जब मुसलमान इब्न अरक़म के घर को इस्लाम की शिक्षा के लिए गुप्त ठिकाने के रूप में उपयोग कर रहे थे। मुस्तदरक अल-हाकिम में बताया गया है कि दारे-अरक़म में इकट्ठा होने वाले मुसलमानों की संख्या 39 थी। (हदीस संख्या 6130)

लेकिन जो लोग किसी प्रचलित व्यवस्था के अधीन कार्य कर रहे होते हैं, उनकी ताक़त हमेशा अधिक होती है। इसलिए थोड़े समय के अन्तराल के बाद अत्याचारों का सिलसिला फिर शुरू हो गया। आपको हर तरह की मानसिक और शारीरिक तकलीफें दी गईं, लेकिन वे आपको मार नहीं सकते थे। क्योंकि क़बीलाई रिवाज के अनुसार किसी क़बीले के एक व्यक्ति की हत्या करना उस पूरे क़बीले से युद्ध करने के समान होता था। ठीक यही कारण था कि हज़रत शुऐब की क़ौम ने उनसे कहा था: "अगर हमें तुम्हारे क़बीले का डर न होता तो हम तुम्हें पत्थर मार-मार कर जान से मार देते।" (क़ुरान, 11:91)

क़ुरैश ने बनी हाशिम के प्रमुख और आपके चाचा अबू तालिब बिन अब्दुल मुत्तलिब से यह मांग की कि वे आपको अपने क़बीले से बाहर कर दें, ताकि क़ुरैश के लिए आपका क़त्ल करना आसान हो सके। लेकिन अबू तालिब के आत्म-सम्मान ने उन्हें यह करने नहीं दिया। एक बार क़ुरैश की शिकायत पर जब अबू तालिब ने पैग़म्बर (सल्ल०) से कहा कि तुम उनके देवताओं की आलोचना करना छोड़ दो, तो उनको अंदेशा हुआ कि शायद वह अब उन्हें क़ुरैश के हवाले कर देंगे। लेकिन अबू तालिब ने तुरंत यह कहकर उनको आश्वस्त कर दिया: "अल्लाह की क़सम, मैं तुम्हें किसी भी हाल में उनके हवाले नहीं करूंगा।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 266)

अब क़ुरैश ने एक सामूहिक समझौता कर के बनी हाशिम के सामाजिक बहिष्कार की घोषणा कर दी। यह नबूवत का सातवाँ वर्ष था। इसके बाद अबू तालिब ने आपको और आपके परिवार को लेकर मक्का से बाहर एक घाटी में ठहरने का निर्णय लिया, जिसे "शिअब ए अबू तालिब" कहा जाता है। यह एक सूखी और

पथरीली घाटी थी, जिसमें कुछ जंगली पेड़ों के अलावा कुछ नहीं था। आप तीन वर्षों तक इस स्थिति में रहे कि पेड़ों की पत्तियाँ और जड़ें खाकर गुज़ारा करते रहे। केवल चार पवित्र महीनों में आपके परिजन मक्का जाकर क़ुर्बानी के जानवरों का मांस लाते और उसे सुखा कर जमा कर लेते, जो लंबे समय तक भोजन का काम करता।

तीन साल बाद, नबूवत के दसवें वर्ष में, यह बहिष्कार समाप्त हो गया, लेकिन इसकी कठोरता अबू तालिब के लिए जानलेवा साबित हुई। अबू तालिब की मृत्यु (620 ईस्वी) के बाद क़बीले का सबसे बुज़ुर्ग सदस्य अब्दुल उज़्ज़ा (अबू लहब) हाशिम क़बीला का मुखिया बना। अब दुश्मन खुद जज की कुर्सी पर बैठ गया। उसने आपको क़बीले से बाहर निकाले जाने की घोषणा कर दी।

क़बीले से बाहर करना

अरब की रेगिस्तानी ज़िंदगी में किसी व्यक्ति का अपने क़बीले से बाहर कर दिया जाना वैसा ही था जैसे किसी को समुद्र में धकेल दिया जाए। क्योंकि क़बीलाई व्यवस्था में, जब कोई सशक्त राज्य व्यवस्था नहीं थी, एक व्यक्ति अपने क़बीले के संरक्षण में ही जीवित रह सकता था। एक बार आप मिना के ख़ेमों में एक क़बीले के सामने अपनी बात रख रहे थे। क़बीले ने उसे अस्वीकार कर दिया। हालांकि, उनमें से एक व्यक्ति मैसरह बिन मस्रूक अबसी की बातों से यह अंदाज़ा हुआ कि उन्होंने आपकी बात से कुछ असर लिया है:

> "पैग़म्बर को मैसरह से उम्मीद हुई। उन्होंने उनसे बात की। मैसरह ने जवाब दिया: आपकी बात कितनी सुंदर और प्रकाशमय है, लेकिन मेरी क़ौम इसका विरोध करेगी। इंसान अपनी क़ौम के साथ ही रह सकता है।" (*अल-बिदाया व अन-निहाया*, खण्ड 3, पृष्ठ 170)

इन हालात में क़बीले से बहार हो जाना आपके लिए अत्यंत गंभीर घटना थी। अब अपने ही नगर में आपके लिए कोई ठिकाना नहीं बचा था। अब आपके पास

एक ही विकल्प था—अपने लिए कोई दूसरा रक्षक क़बीला तलाश करना। मक्का से निकल कर ताइफ़ जाना इसी दिशा में आपकी पहली कोशिश थी। हज़रत आयशा से इस यात्रा का ज़िक्र करते हुए आपने एक बार कहा: "जब मैं इब्न अब्द यालील बिन अब्द कुलाल से मिला और उसके सामने अपनी बात रखी।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 3231)

उरवा बिन ज़ुबैर बयान करते हैं:

> "अबू तालिब की मृत्यु के बाद पैग़म्बर पर मुसीबतें और बढ़ गईं। तब उन्होंने क़बीला सक़ीफ़ (ताइफ़) की ओर रुख़ किया, इस आशा में कि वे उन्हें शरण देंगे और उनकी सहायता करेंगे।" (*दलाईलुन्नुबुव्वह,* अबू नुऐम अल-इस्बहानी, हदीस संख्या 221)

लेकिन वहाँ के लोगों ने आपके साथ जो अमानवीय व्यवहार किया, उसकी झलक उस दुआ में मिलती है जो ताइफ़ से लौटते वक़्त पैग़म्बर (सल्ल०) के लहूलुहान चेहरे से निकली थी:

> "ऐ अल्लाह! मैं तुझसे अपनी शक्ति की कमी, अपने साधनों की कमी, और लोगों की निगाह में अपमानित होने की शिकायत करता हूँ। हे सबसे ज़्यादा दया करने वाले!" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 420)

ताइफ़ से लौटते हुए आपने वहां के लोगों से कहा:

> "जो कुछ तुमने मेरे साथ किया है, उसकी ख़बर मक्का तक न पहुंचे, वरना वे और अधिक दुस्साहसी हो जाएंगे।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 419)

ताइफ़ से लौट कर आप फिर मक्का के बाहर ही रुके और शहर के विभिन्न लोगों को यह संदेश भिजवाया कि कोई व्यक्ति उन्हें अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा में ले ले, ताकि वे मक्का में रह सकें। अंततः मुतइम बिन अदी ने आपकी सुरक्षा स्वीकार कर ली और उनके बेटों की तलवारों की छांव में आप पुनः मक्का में दाख़िल हुए।

अब पैग़म्बर (सल्ल०) ने यह योजना बनाई कि विभिन्न मेलों और बाज़ारों में जो बाहरी क़बीले मक्का आते हैं, उनके पास जाएँ और उन्हें इस बात के लिए तैयार करें कि वे आपको अपनी सरपरस्ती में ले लें। आपने अपने चाचा अब्बास से कहा:

> "मुझे तुम्हारे और तुम्हारे भाई के यहाँ अपने लिए कोई सुरक्षा नहीं दिख रही। क्या तुम मुझे कल बाज़ार ले चलोगे, ताकि हम विभिन्न क़बीलाई ख़ेमों पर जाकर उनसे बात कर सकें?" (*अल-बिदाया व अन-निहाया*, खण्ड 2, पृष्ठ 159)

आप एक-एक क़बीले के ख़ेमों की बस्तियों में जाते और उनसे पूछते: "आपके यहाँ सुरक्षा की क्या व्यवस्था है?" आप उनके सामने अपनी बात रखते और कहते:

> "मेरे क़बीले ने मुझे झुठला दिया और निकाल दिया। क्या आप मुझे अपनी सुरक्षा में ले सकते हैं ताकि मैं अल्लाह का संदेश पहुँचा सकूं?"

इतिहासकारों ने ऐसे 15 क़बीलों के नाम दर्ज किए हैं जिनसे आप व्यक्तिगत रूप से मिले।

लेकिन क़बीले जानते थे कि क़ुरैश द्वारा निकाले गए व्यक्ति को शरण देना कितना बड़ा ख़तरा है। इसलिए हर एक ने इंकार कर दिया। एक क़बीले के कुछ लोगों में सहानुभूति जागी, तो उनके एक बुज़ुर्ग ने कहा:

> "जिसे उसकी क़ौम ने निकाला है, क्या तुम उसे शरण दोगे? क्या तुम सारे अरब से युद्ध मोल लेना चाहते हो?" (*दलाईलुन्नुबुव्वह,* अबू नुऐम अल-इस्बहानी, हदीस संख्या 222)

वे जानते थे कि किसी क़बीले से निकाले गए व्यक्ति को शरण देना उस क़बीले से युद्ध की घोषणा करने के बराबर है। और जब यह क़बीला क़ुरैश जैसा शक्तिशाली क़बीला हो, जिसकी पूरे देश पर राजनीतिक श्रेष्ठता हो, तो मामला और भी गंभीर हो जाता है। अरब की परंपराओं में यह बहुत ही निंदनीय बात मानी जाती थी कि कोई व्यक्ति किसी से पनाह मांगे और वह उसे शरण न दे। लेकिन यह

अरब इतिहास का पहला बड़ा मामला था जब आप कई वर्षों तक अलग-अलग क़बीलों के बीच घूमते रहे, पर कोई भी आपको शरण देने के लिए तैयार नहीं हुआ। न ताइफ़ के लोग और न ही अन्य अरब क़बीले। इसका कारण आपके मामले की विशेष प्रकृति थी। आपको "निकालने" वाले क़ुरैश थे, जो पूरे अरब के नेता माने जाते थे। क़ुरैश द्वारा निकाले गए व्यक्ति को शरण देना पूरे अरब से टकराव लेने के बराबर था। यही परिस्थिति थी, जिसके चलते यस्रिब (मदीना) में अंसार से बैअत (प्रतिज्ञा) के समय अबूल हैसम बिन अल-तयहान ने अपने साथियों से कहा:

> "जान लो, यदि तुम उन्हें अपने यहाँ ले जाओगे, तो समूचा अरब एक ही कमान से निकले तीर की तरह तुम पर टूट पड़ेगा।" (*अल-मुअजम अल-कबीर*, अल-तबरानी, हदीस संख्या 566)

इसके अलावा एक और कारण भी था। जो क़बीले सीमावर्ती क्षेत्रों में बसे हुए थे, उनकी पड़ोसी ग़ैर-अरबी सरकारों से संधियाँ थीं। उन्हें यह डर था कि अगर वे किसी विवादित व्यक्तित्व, जैसे कि पैग़म्बर को अपने साथ ले जाएँगे, तो उन सरकारों के साथ तनाव पैदा हो सकता है। अल-बिदाया व अल-निहाया में उल्लेख है कि आप मिना के मेले में गए, जहाँ आपकी मुलाक़ात बनी शैबान बिन सालबा के सरदारों से हुई। उन्होंने आपके संदेश की प्रशंसा की, लेकिन अंत में हानी बिन क़बीसा ने कहा:

> "हम फारस के सम्राट 'किसरा' की सल्तनत की सीमा पर बसे हैं और हमारे वहाँ के शासकों से समझौते हैं। संभव है कि जिस चीज़ की ओर आप हमें बुला रहे हैं, वह उन शासकों की नाराज़गी का कारण बन जाए।" (*अल-बिदाया व अन-निहाया*, खण्ड 3, पृष्ठ 144)

उस समय आपकी जो असहाय स्थिति थी, उसका अंदाज़ा उन शब्दों से होता है जो इस सिलसिले में रिवायतों में आए हैं। एक बार आप एक क़बीले के पास गए, जिसे 'बनू अब्दुल्लाह' कहा जाता था। आप ने उन्हें ख़ुदा की तरफ़ बुलाया और अपने आप को उनके सामने पेश किया, ताकि वे आपको अपनी मदद और हिफाज़त में ले लें। यहां तक कि आपने कहा: 'ऐ बनू अब्दुल्लाह! अल्लाह ने

तुम्हारा नाम कितना अच्छा रखा है' फिर भी उन्होंने वह बात कबूल नहीं की जो आप ने उन्हें समझाई थी। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 424)

इस प्रकार, मक्का में आपके जीवन के लगभग अंतिम तीन वर्ष विभिन्न क़बीलों के बीच घूमकर अपने लिए किसी संरक्षक की तलाश में बीते। लेकिन हर तरह की कोशिशों के बावजूद कोई भी क़बीला आपकी सहायता को तैयार नहीं हुआ। यहाँ तक कि कुछ क़बीलों ने यह तक कह दिया: "क्या अब वह समय नहीं आ गया कि आप हमसे निराश हो जाएँ?" आख़िरकार, अल्लाह ने यस्रिब (मदीना) के क़बीलों— औस और ख़ज़रज — को यह सौभाग्य प्रदान किया कि वे इस ज़िम्मेदारी को निभाने के लिए तैयार हो गए। (*दलाईलुन्नुबुव्वह*, अबू नुऐम अल-इस्बहानी, हदीस संख्या 224)

औस और ख़ज़रज की इस तैयारी का एक ख़ास मानसिक कारण भी था। ये दोनों क़बीले यहूदियों के पड़ोस में रहते थे। ख़ैबर के यहूदी इस इलाक़े की सबसे अच्छी ज़मीनों पर क़ब्ज़ा किए हुए थे, और सारा व्यापार भी उन्हीं के हाथ में था। इस वजह से यस्रिब के अरबों (औस और ख़ज़रज) की रोज़ी-रोटी का बड़ा ज़रिया ख़ैबर के यहूदियों के यहां मज़दूरी करना था। हिजरत के बाद जब पैग़म्बर (स्ल्ल०) और उनके साथी अपने हाथों से मस्जिद-ए-नबवी की तामीर कर रहे थे, तो आपकी ज़बान पर यह शेर था:

> यानी, यह मज़दूरी है लेकिन ख़ैबर की मज़दूरी जैसी नहीं।
> हमारे रब की क़सम, यह उससे कहीं ज़्यादा बेहतर और पाकीज़ा है। (*सहीह अल-बुखारी*, हदीस संख्या 3906)

यहूदियों के आर्थिक दबदबे और शोषण की वजह से उनके और औस-ख़ज़रज के बीच अक्सर लड़ाई-झगड़े होते रहते थे। यहूदी अकसर कहते थे कि हमारी किताबों में लिखा है कि बहुत जल्द अरब में एक नबी आएगा। जब वो आएगा, तो हम उसके साथ मिलकर तुमसे लड़ेंगे और तुम्हें हमेशा के लिए मिटा देंगे। इसी यहूदी कथन की तरफ़ क़ुरान की इस आयत में इशारा है: "और वो पहले से ही इंकार करने वालों पर फ़तह माँगा करते थे" (क़ुरान, 2:89)

औस और ख़ज़रज के लोगों ने जब आपका पैग़ाम सुना, तो उन्होंने कहा, "ख़ुदा की क़सम! यही वह नबी हैं जिनके बारे में यहूदी हमसे कहा करते थे। इससे पहले कि यहूदी हमसे पहले ईमान ले आएं, हमें चाहिए कि हम ईमान लाकर इनका साथ दें।" इस ख़ास वजह के अलावा और भी तारीख़ी और समाजी वजहें थीं जिनकी वजह से औस और ख़ज़रज के लिए आपकी बात को समझना और उसे मान लेना दूसरे अरब क़बीलों की तुलना में ज़्यादा आसान हो गया, और उन्होंने आपके हाथ पर बैअत कर ली।

अब वो वक़्त आ गया था जिसका आप कई सालों से इंतज़ार कर रहे थे। आपको एक ऐसी जगह मिल गई थी जहाँ क़बीले की मदद से आप अपने कार्य को मज़बूती से आगे बढ़ा सकते थे। और मक्का और उसके आस-पास के मुसलमानों को एक जगह जमा करके उसे इस्लामी केंद्र बना सकते थे। यस्रिब (मदीना) के लोगों के बड़ी संख्या में इस्लाम अपनाने से यह उम्मीद बनने लगी थी कि इस्लाम की बिखरी हुई ताक़तों को एक केंद्र में इकट्ठा किया जा सकता है और फिर उसके संदेश को ज़्यादा असरदार ढंग से पहुँचाया जा सकता है। जब औस और ख़ज़रज ने बैअत कर ली, तो तारीख़ में आता है:

> "फिर नबी सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम ज़्यादा देर तक न बैठे और अपने साथियों के पास आए और कहा: अल्लाह का बहुत शुक्र अदा करो, आज रबीआ की औलाद को ईरानियों पर फ़तह हासिल हुई" (*अल-बिदायह व अल-निहायह*, खण्ड 3, पृष्ठ145)

आपने हिजरत की तैयारी शुरू कर दी। बहुत छुपाने के बाद भी क़ुरैश को इसकी खबरें मिलने लगी थीं। हज़रत उरवा कहते हैं:

> "फिर क़ुरैश के लोगों ने यह जान लिया कि नबी सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम मक्का से निकल जाएंगे और उन्हें ये पता चल गया कि अल्लाह ने उनके लिए मदीना में पनाह और हिफ़ाज़त की व्यवस्था कर दी है। और जब उन्होंने सुना कि अंसार मुसलमान हो गए हैं और बहुत से हिजरत करने वाले उनके पास पहुंच चुके हैं, तो उन्होंने नबी (सल्ल०) के ख़िलाफ़ साज़िश की

> कि उनको पकड़ लिया जाए — फिर या तो उन्हें क़त्ल कर दिया जाए, या क़ैद कर दिया जाए, या उन्हें ज़ंजीरों में बाँध दिया जाए, या शहर से बाहर निकाल दिया जाए।" (*मजमउज़ ज़वाइद*, हदीस संख्या 9902)

औस और ख़ज़रज के ईमान लाने के बाद आपने पूरे छह महीने में सफ़र की मुकम्मल योजना बनाई, और फिर बड़ी खामोशी से मक्का से मदीना चले गए।

यस्रिब (मदीना) के लोगों का इस्लाम

पुराने ज़माने में यस्रिब (जिसे अब मदीना कहा जाता है) में दो अरब क़बीले रहते थे — औस और ख़ज़रज। इनके साथ वहाँ कुछ यहूदी क़बीले भी बसे हुए थे। यहूदी लोगों ने औस और ख़ज़रज को आपस में लड़ाए रखा, ताकि वे कमज़ोर बने रहें और एकजुट न हो सकें। ऐसा करने से यहूदियों की ताक़त इन पर बनी रहती थी।

यह घटना हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की मक्का से मदीना हिजरत (प्रवास) से पाँच साल पहले की है। उस समय ख़ज़रज क़बीला यहूदियों के उकसाने पर औस क़बीले से लड़ने को तैयार हो गया। औस क़बीले का एक नेता अबू अल-हैसर अनस बिन राफ़े कुछ लोगों को साथ लेकर मक्का गया ताकि अपने दुश्मन क़बीले से लड़ने के लिए क़ुरैश की मदद ले सके। जब हज़रत मुहम्मद साहब को इस बारे में पता चला, तो आप उनके पास गए और उन्हें इस्लाम की बात समझाई।

उनके साथ आए एक नौजवान, इयास बिन मुआज़, इस्लाम की बातों से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपने साथियों से कहा, "ख़ुदा की क़सम, यह बात उस काम से कहीं ज़्यादा अच्छी है जिसके लिए हम यहाँ आए हैं।" लेकिन उनके साथियों को यह बात समझ में नहीं आई। उनके नेता अबू अल-हैसर ने गुस्से में अपने हाथ

में मिट्टी लेकर उनके चेहरे पर फेंकी और कहा, "इन बातों को रहने दो, हम किसी और काम के लिए आए हैं।" (*सीरत इबन हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 427-28)

इस तरह औस का वह दल इस्लाम को अपनाए बिना यस्रिब लौट गया। उसके बाद औस और ख़ज़रज के बीच एक भयंकर लड़ाई हुई जिसे 'जंग-ए-बुआस' कहा जाता है। अब दोनों क़बीले इतने बड़े दुश्मन बन चुके थे कि हर कोई दूसरे को पूरी तरह ख़त्म करना चाहता था। पहले ख़ज़रज ने औस को हराया, फिर औस ने अपने सरदार अबू उसैद बिन हुज़ैर की अगुवाई में ख़ज़रज को हराया। दोनों तरफ़ से भारी नुकसान हुआ — एक-दूसरे के खेतों और घरों को जला दिया गया। इस लड़ाई में दोनों क़बीले बहुत कमज़ोर हो गए।

इस लड़ाई का फ़ायदा सीधे यहूदियों को मिला। अब वे यस्रिब में सबसे ज़्यादा ताक़तवर बन गए। जब नफरत की आंच कम हुई, तो दोनों क़बीलों के समझदार लोगों को महसूस हुआ कि उन्होंने बहुत बड़ी गलती कर दी है। उन्होंने आपस में लड़-झगड़ कर अपने ही हाथों से खुद को नुकसान पहुंचाया और अपने दुश्मन को मज़बूत बना दिया। तब दोनों क़बीलों ने तय किया कि वे अब आपस का झगड़ा ख़त्म करेंगे और मिलकर एक ऐसा नेता चुनेंगे जो सबके काम संभाले। इसके लिए उन्होंने अब्दुल्लाह बिन उबय को चुना जो बहुत समझदार और नेतृत्व के गुण वाला था। उसी समय एक घटना हुई — ख़ज़रज क़बीले के कुछ लोग काबा की ज़ियारत के लिए मक्का गए। वहाँ उनकी मुलाक़ात हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) से हुई। उन्होंने कहा, "मैं ख़ुदा का भेजा हुआ नबी हूँ। मेरी बात मानो और इस्लाम को अपनाओ।" यह सुनकर उन लोगों को याद आया कि यहूदी लोग हमेशा कहते थे कि जल्दी ही एक नबी आएगा, और हम उसके साथ मिलकर तुम्हें हराएंगे और तुम्हारे ऊपर राज करेंगे। यस्रिब (मदीना) के लोगों ने एक-दूसरे से कहा, "ख़ुदा की क़सम! यही वह नबी हैं जिनकी बात यहूदी लोग करते थे। अब देखो, कहीं यहूदी हमसे पहले इनके पास न पहुँच जाएं।"

इसलिए उन्होंने इस्लाम को मान लिया। उन्होंने कहा, "हम अपने लोगों को छोड़कर आए हैं। उनमें आपस में बहुत झगड़ा और दुश्मनी है। शायद ख़ुदा आपके

ज़रिए उन्हें एक कर दे। हम वापस जाकर उन्हें भी इस्लाम की बात बताएँगे। अगर ख़ुदा ने उन्हें एक कर दिया, तो इस शहर में आपसे ज़्यादा ताक़तवर कोई नहीं होगा।" (*सीरत इबन हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 429)

इतिहास बताता है कि इसके बाद यस्रिब के लोग बड़ी संख्या में इस्लाम लाने लगे। वे इस्लाम के 'अंसार' यानी मददगार बन गए। उनकी मदद से इस्लाम को पूरे अरब में मज़बूती मिली।

हिजरत से पाँच साल पहले इन लोगों ने इस्लाम की बात को नज़रअंदाज़ कर दिया था, लेकिन पाँच साल बाद वही लोग सच्चे मुसलमान बन गए। पहले जब वे हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) से मिले थे, तब उनके दिमाग में सिर्फ़ लड़ाई और बदले की भावना थी। वे सब कुछ इसी नज़र से देखते थे — दुश्मन को हराना है। इसलिए अल्लाह और आख़िरत की बातें उन्हें बेकार और तबाह करने वाली लगती थीं। उन्हें लगता था कि वे असली मोर्चे से भटकाए जा रहे हैं।

लेकिन जब बुआस की लड़ाई में सारी ताक़त खर्च हो गई और उन्हें सिर्फ तबाही ही मिली, यहाँ तक कि यह डर पैदा हो गया कि यहूदी उन्हें आपस में लड़ा-लड़ाकर अरब नस्ल को ख़त्म कर देंगे — तब उनकी सोच बदलने लगी। अब वे युद्ध के बजाय शांति, और झगड़े के बजाय एकता की परिभाषा में सोचने लगे। अब उन्हें लगने लगा कि असली समस्या औस और ख़ज़रज की नहीं, बल्कि यहूदियों की है। इसका हल उन्हें यह नज़र आया कि सबका एक मज़हब और एक नेता हो जो सबको जोड़ दे। उन्हें यह दोनों बातें — मज़हब और नेतृत्व — हज़रत मुहम्मद साहब की शख़्सियत में मिल गईं और उन्होंने फौरन उन्हें अपना लिया।

इसीलिए हज़रत आयशा ने कहा था: ''बुआस की लड़ाई वह घटना थी जो ख़ुदा ने अपनी उस स्कीम में शामिल कर रखी थी जो इस्लाम का संदेश दूर दूर तक पहुँचाने में मददगार बनी।'' (*सहीह अल-बुख़ारी* , हदीस संख्या 3777)

हिजरत (पलायन)

हिजरत की घटना इस्लामी इतिहास की सबसे अहम घटनाओं में से एक है। यही वजह है कि पैग़म्बर (सल्ल०) के साथियों ने इस घटना से इस्लामी कैलेंडर की शुरुआत की। लेकिन इस घटना की अहमियत काल्पनिक कहानियों में खो गई है।

उदाहरण के तौर पर कहा जाता है कि जब पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ग़ार-ए-सौर (गुफा) में दाख़िल हुए तो एक मकड़ी ने गुफा के मुंह पर जाला बना दिया और उसके बाद एक कबूतरी आई और उस जाले पर अंडे दे दिए। लेकिन इस मामले में वही हुआ जो अक्सर ऐसी घटनाओं में होता है — यानी असल बात को अपनी कल्पना से बढ़ा-चढ़ा कर कुछ से कुछ बना दिया गया। जैसा कि इब्न कसीर ने साफ़ किया है, इस बारे में सबसे भरोसेमंद रिवायत वह है जिसे इमाम अहमद ने हज़रत अब्दुल्लाह बिन अब्बास के हवाले से बयान किया है। इस रिवायत के शब्द इस तरह हैं:

> "वे पैग़म्बर के पैरों के निशान का पीछा करते हुए चले। जब वे पहाड़ तक पहुँचे तो उन्हें रास्ता साफ़ समझ नहीं आया। फिर वे पहाड़ पर चढ़े और एक गुफा के पास से गुज़रे। उन्होंने देखा कि गुफा के मुंह पर मकड़ी का जाला है। यह देखकर उन्होंने कहा: अगर वह (पैग़म्बर) यहां अंदर गए होते, तो जाले का यह निशान यहाँ न होता।" (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 3251)

अगर मान भी लिया जाए कि उन्होंने जो गुफा देखी वह ग़ार-ए-सौर ही थी, तो भी ऊपर बताई गई रिवायत के अनुसार बात बस इतनी है कि गुफा के मुंह पर मकड़ी का जाला था। रिवायत में यह कहीं नहीं लिखा कि अल्लाह ने मकड़ी को हुक्म दिया और उसने आकर जाला बना दिया। फिर अल्लाह ने फ़ाख़्ता (कबूतरी) को हुक्म दिया और उसने अंडे दे दिए। इस तरह की सभी बातें लोगों ने अपनी कल्पना से असल घटना में जोड़ ली हैं।

इस तरह की काल्पनिक बातों का सबसे बड़ा नुक़सान यह होता है कि इंसान की सोच चमत्कारों और आश्चर्यजनक बातों की ओर चली जाती है, जबकि असली बात — जो हिकमत और सीख से जुड़ी होती है — वह पीछे छूट जाती है।

मुहाजरीन (हिजरत करने वालों) की मदद

मदीना के क़बीलों (अंसार) ने जिस प्रकार नबी सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम और मुसलमानों का साथ दिया, वह इतिहास की एक अनोखी और चौंकाने वाली घटना है। आम तौर पर लोग किसी को कुछ देते हैं तो वह या तो बदले में कुछ पाने की आशा में होता है या किसी भय की वजह से। लेन-देन की एक तीसरी श्रेणी वह है जो 'बरकत' (अल्लाह का आशीर्वाद) की धारणा के अंतर्गत की जाती है। कुछ जीवित या मृत व्यक्तियों को 'बुज़ुर्ग' मान लिया जाता है, और उनके ऊपर खर्च करना या उन्हें कोई चढ़ावा देना औलाद और माल में वृद्धि का कारण समझा जाता है। मगर इंसानी इतिहास में शायद यह पहली बार हुआ कि किसी क़ौम ने केवल एक उद्देश्यपूर्ण आधार पर लूटे-पिटे प्रवासियों के लिए अपने घरों के दरवाज़े खोल दिए। उन्होंने मुहाजिरों (हिजरत करने वालों) को न केवल अपने घरों में स्थान दिया बल्कि 'मुआख़ात' (भाईचारा) की स्थापना करके अपने सगे भाइयों की तरह उन्हें अपनी संपत्तियों में भागीदार बना लिया। और यह जानते बूझते किया कि मुहाजिरों की यह मदद उनके लिए सांसारिक रूप से एक बड़ी आर्थिक हानि है।

हज़रत अली रज़ियल्लाहु अन्हु के ये दो शब्द उनकी सबसे बेहतरीन तसवीर पेश करते हैं:

> औस और ख़ज़रज के लोग बड़े सच्चे और बड़े सब्र करने वाले थे। (*अल-बिदायह व अन-निहायह*, खण्ड 3, पृष्ठ 145)

जब प्रवासी अपना वतन छोड़कर यस्रिब (मदीना) पहुँचे, तो अंसार की हालत यह थी कि हर कोई चाहता था कि उसे मेज़बानी का सौभाग्य प्राप्त हो। यहाँ तक कि

इसके लिए क़ुरआ अंदाज़ी (लॉटरी) करनी पड़ी। उन्होंने अपनी संपत्ति का सबसे अच्छा हिस्सा मुहाजिरों को दे दिया। (*दलाईलुन्नुबुव्वह*, अबू नुऐम, हदीस: 224) इस असाधारण त्याग के बावजूद उनसे बाक़ायदा बैअत (प्रतिज्ञा) ली गई कि पदों और अधिकारों के बँटवारे में यदि दूसरों को उन पर प्राथमिकता दी जाए, तो वे इसके लिए झगड़ा नहीं करेंगे। (*सहीह मुस्लिम*, हदीस: 1709)

हालाँकि हिजरत के बाद मदीना का जीवन आप सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम के लिए सुखदायी नहीं था। अरब के संयुक्त आक्रमण का डर अपने सबसे मुश्किल रूप में सच साबित हुआ। हज़रत उबैय बिन कअब रज़ियल्लाहु अन्हु बयान करते हैं:

> "जब अल्लाह के रसूल सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम और उनके साथियों ने मदीना में क़दम रखा और अंसार ने उन्हें शरण दी, तो सारे अरब एक ही तीर की तरह उन पर टूट पड़े। मदीना के मुसलमानों की हालत यह हो गई थी कि वे रात में भी हथियारों के साथ सोते और सुबह भी हथियारों के साथ उठते।" (*अल-अहादीसुल मुख्तारा*, ज़िया मक़दसी, हदीस संख्या 1145)

क़ुरैश ने सारे अरब में मदीना के लोगों का आर्थिक बहिष्कार (बॉयकॉट) का एलान कर दिया। शहर की जनसंख्या अचानक दोगुनी हो गई, जबकि उसकी अर्थव्यवस्था उसे संभालने के लिए पर्याप्त नहीं थी। इसके ऊपर लगातार होने वाले युद्ध के खर्च ने आर्थिक कठिनाई को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। हज़रत उमर रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं:

> "मैंने मदीना में पैग़म्बर (सल्ल०) को देखा कि आप भूख से बेहाल रहते थे। यहाँ तक कि ख़राब खजूरें भी इतनी नहीं मिलती थीं कि पेट भर सकें।" बाद के समय में, जब किसी ने हज़रत आइशा रज़ियल्लाहु अन्हा से चिराग़ का ज़िक्र किया तो उन्होंने

> उत्तर दिया: "अगर हमारे पास चिराग़ जलाने के लिए तेल होता, तो हम उसे पी जाते।" (*अल-मुअजम अल-अवसत, अल-तबरानी*, हदीस संख्या 8872)

जंगों में हालात इतने खराब थे कि बहुत बार ज़रूरी सामान तक मौजूद नहीं होता था। हज़रत अबू मूसा अशअरी रज़ियल्लाहु अन्हु फरमाते हैं: "हम अल्लाह के रसूल के साथ एक ग़ज़वा (युद्ध) में निकले। हमारे पास छह लोगों के बीच केवल एक ऊँट था, जिस पर बारी-बारी सवारी करते थे। लगातार पैदल चलने से हमारे पाँव छिल गए, और हमने अपने पाँवों पर चिथड़े बाँध लिए। इसी वजह से इस युद्ध का नाम 'ज़ातुर-रिका' (चिथड़ों वाला) पड़ा।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1816)

युद्ध के सफ़र में खाने-पीने का सामान इतना कम होता था कि कई बार लोग खजूर को खाने के बजाय केवल चूसते थे, और बाक़ी ज़रूरत को पूरा करने के लिए बबूल के पत्तों और टिड्डियों का सहारा लेते थे। इस कठिनाई में और भी इज़ाफ़ा उस बीमारी से हुआ जो खानपान की आदतों में बदलाव की वजह से पैदा हुई। मक्का के निवासी गोश्त और दूध के आदी थे, लेकिन मदीना में उन्हें खजूर पर गुज़ारा करना पड़ा। तबरानी ने एक रिवायत बयान की है कि एक दिन जब पैग़म्बर (सल्ल०) जुमे की नमाज़ पढ़ाने के लिए मस्जिद में तशरीफ़ लाए, तो एक मक्की मुसलमान चिल्ला कर बोला:

> "या रसूलल्लाह! तम्र (खजूर) ने हमारे पेट जला दिए हैं।" (*मुसनद अहमद,* हदीस संख्या 15988)

अल्लाह के नबी के मदीना पहुँचने के बाद इस्लाम अब केवल प्रचार का मामला नहीं रहा, बल्कि एक व्यवहारिक संघर्ष का दौर शुरू हो गया। मक्का के दौर (आह्वान का दौर) में आपका उसूल यह था कि लोगों के आर्थिक, राजनीतिक

और क़बाइली झगड़ों में हस्तक्षेप न करें और केवल चेतना और शुभ-संदेश (इंज़ार व तब्शीर) का काम करें। जब आपने बनी आमिर बिन सअसा को उकाज़ के बाज़ार में इस्लाम का पैग़ाम दिया तो उन्हें यह भरोसा भी दिलाया कि मैं केवल शांतिपूर्ण ढंग से अल्लाह का पैग़ाम पहुंचाऊँगा, और उनके बीच किसी प्रकार का राजनीतिक या क़बीलाई विवाद खड़ा नहीं करूँगा।

पैग़म्बर (सल्ल०) ने फ़रमाया:

> "मैं अल्लाह का रसूल हूँ। यदि मैं तुम्हारे पास आऊँ, तो क्या तुम मेरी हिफ़ाज़त करोगे ताकि मैं अपने रब का पैग़ाम पहुँचा सकूँ? और मैं तुममें से किसी को किसी चीज़ पर मजबूर नहीं करूँगा।" (*दलाईलुन्नुबुव्वह*, अबू नुऐम, हदीस 215)

पैग़म्बर (सल्ल०) को पैग़म्बरी मिलने का जो असल मक़सद था, वह काम पहले की तरह चलता रहा। लेकिन अब इस्लाम को एक और नई चुनौती का सामना करना पड़ा। और वो थी उस माहौल की वजह से पैदा होने वाली रोज़मर्रा की समस्याएँ। इस मामले में आपने ये तरीक़ा अपनाया कि ऐसे रास्ते चुने जाएँ जिनसे लोगों के दिल इस्लाम के लिए नरम हो जाएँ, और बिना झगड़े या लड़ाई के इस्लाम के मक़सद हासिल किए जा सकें। यही बात आपने इन शब्दों में कही है:"

> मुझे एक महीने की मसाफ़त (दूरी) तक के रोब (धाक) से मदद दी गई है। (*सहीह अल-बुखारी* , हदीस संख्या 335)

इस कार्य के तरीक़े के दो ख़ास पहलू थे। पहला — ताक़त और शक्ति जुटाना (क़ुरान, 8:60), और दूसरा — लोगों के दिलों को अपने पक्ष में करना यानी दिल जीतना (क़ुरान, 9:60)।

तालीफ़े क़ल्ब (दिलों को जोड़ने) की नीति के तहत आपने लोगों को इतनी बड़ी मात्रा में सामान दिया कि उदारता के इतिहास में इसकी कोई मिसाल नहीं मिलती। सफवान बिन उमय्या मक्का के बड़े नेता थे। मक्का जीतने के बाद वह भागकर एक घाटी में छिप गए। आपने उन्हें भरोसा देकर बुलाया। हवाज़िन की जीत के

बाद जब आप जिअराना नाम की जगह पर युद्ध में मिले सामान की देखभाल कर रहे थे, उस समय सफवान बिन उमय्या आपके साथ थे और अभी तक मुसलमान नहीं हुए थे। सफवान बिन उमय्या एक ऐसी घाटी पर पहुँचे जो बकरियों और ऊँटों से भरी हुई थी। वह हैरानी और अचरज के साथ उसे एकटक देखते रहे। आपने उनका यह हाल देखकर पूछा, "ऐ अबू वहब! क्या यह माल से भरी घाटी तुम्हें पसंद है?" सफवान ने कहा, "हाँ।" आपने कहा: "यह और इसमें जो कुछ है, सब तुम्हारा है।" सफवान ने यह सुनकर कहा, "नबी के अलावा किसी का मन इतनी बड़ी उदारता नहीं कर सकता।" मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाह के सिवा कोई इबादत के योग्य नहीं और मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) उसके बंदे और भेजे हुए रसूल हैं। और इसी के साथ उन्होंने इस्लाम अपना लिया। (*मगाज़ी अल वाक़िदी*, खण्ड 2, पृष्ठ 855)

हिजरत के बाद आपकी कई शादियों का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि इनके माध्यम से विभिन्न क़बीलों और परिवारों से संबंध स्थापित हो गए, जिससे अनेक लोगों के दिल आपके प्रति और आपके आह्वान के प्रति मुलायम और स्वीकारशील हो गए।। पहली शादी को छोड़कर, जो आपने नबूवत से पहले अपने से दो गुनी उम्र की विधवा हज़रत ख़दीजा से की थी, बाक़ी शादियाँ असल में पति-पत्नी की ज़रूरत के लिए नहीं थीं, बल्कि उनके ज़रिए असल मक़सद लोगों तक इस्लाम का संदेश पहुंचाना और विरोधी क़बीलों से रिश्ते क़ायम करना था।

हुदैबिया समझौते के अनुसार अगले साल (628 ई.) आप दो हज़ार मुसलमानों के साथ काबा की यात्रा के लिए मक्का गए। इस मौक़े पर तीन दिन ठहरने के दौरान आपने मैमूना बिन्त हारिस से शादी की, जो विधवा थीं। मैमूना की आठ बहनें थीं जिनकी शादी मक्का के आठ नामी खानदान में हुई थी। आपने मैमूना से शादी करके आठ परिवारों से रिश्ता बना लिया। इसके अलावा ख़ालिद बिन वलीद मैमूना के भांजे थे और उन्होंने उन्हें अपने बच्चे की तरह पाला था। इस तरह शादी

के बाद मक्का का सबसे बड़ा सैन्य कमांडर आपका रिश्तेदार बन गया। इसके बाद ख़ालिद बिन वलीद फिर कभी मुसलमानों के ख़िलाफ़ किसी युद्ध में नहीं गए और जल्द ही मुसलमान हो गए।

निकाह के इस मौके पर आपने मक्का के लोगों के लिए वलीमा का भी इंतज़ाम किया था, लेकिन मक्का वालों ने कहा कि समझौते के अनुसार आप सिर्फ तीन दिन मक्का में रुक सकते हैं और यह समय पूरा हो चुका है, आपको तुरंत वापस जाना चाहिए। इसलिए आप मक्का वालों को वलीमा पर नहीं बुला सके जो वास्तव में उनके दिलों को जीतने के लिए बहुत ज़रूरी था। खालिद बिन वलीद और अम्र बिन आस दोनों साथ मुसलमान हुए थे। जब वे मदीना पहुँचे तो एक आदमी बोल पड़ा, "इन दोनों के बाद मक्का ने अपनी नकेल सौंप दी!" (*मगाज़ी अल वाक़िदी*, खण्ड 2, पृष्ठ 744)

उम्मे हबीबा बिन्त अबू सुफ़ियान और उनके पति उबैदुल्लाह बिन जह्श मुसलमान हो गए थे और दोनों हिजरत करके हब्श (इथोपिया) चले गए थे। वहाँ उनके पति ने ईसाई धर्म अपना लिया और जल्द ही उनकी मौत हो गई। आपने उम्मे हबीबा से शादी करने का इरादा किया। इस तरह आप अबू सुफ़ियान के दामाद बन जाते, जो बद्र की लड़ाई में अबू जहल के मारे जाने के बाद मक्का के सबसे बड़े नेता बन गए थे। इसके लिए आपने ग़ायेबाना (दूर रहते हुए) शादी का इंतज़ाम किया, क्योंकि डर था कि अगर उम्मे हबीबा हब्श से मक्का लौट आईं तो उनके पिता यह शादी नहीं होने देंगे। उम्मे हबीबा से आपकी शादी दूर से हब्श के राजा (नजाशी) ने करवाई। इसके बाद उन्हें सीधे मदीना भेज दिया गया। इतिहास बताता है कि इसके बाद अबू सुफ़ियान का विरोध कमज़ोर हो गया और मक्का की जीत से एक दिन पहले उन्होंने इस्लाम को अपना लिया।

इस सोच का दूसरा पहलू वह है जिसे क़ुरान के शब्दों में "डर दिखाना" कहा जा सकता है। यानी सीधे लड़ाई करने के बजाय ताक़त का असर दिखाकर अपना मक़सद पूरा करना। उहुद की लड़ाई (3 हिजरी) में मुसलमानों की हार पूरी हार बन

सकती थी, अगर अबू सुफ़ियान अपनी सेना लेकर वापस न हो जाता और अगले दिन मुसलमानों पर दोबारह हमला कर देता। इसलिए जब वह रौहा नाम की जगह पर पहुँचा, तो उसे अपनी गलती का अहसास हुआ और वह अपनी सेना को लेकर मदीना लौटने का इरादा करने लगा। लेकिन इतनी मुश्किल स्थिति में भी इस्लाम के पैग़म्बर की युद्ध से जुड़ी जानकारी लेने की व्यवस्था इतनी सम्पूर्ण थी कि आपको तुरंत अबू सुफ़ियान के इरादे की ख़बर मिल गई। आपने तुरंत आगे बढ़ने का फैसला किया। आप अपनी घायल सेना को इकट्ठा कर के तुरंत मक्का की ओर चल पड़े और हमरा अल-असद तक पहुँच गए, जो मदीना से आठ मील दूर था। आपकी यह यात्रा एलान करके थी, जबकि आमतौर पर आप चुपचाप सफ़र करते थे। जब अबू सुफ़ियान को यह ख़बर मिली तो उसने समझा कि आपको और सैनिकों की मदद मिल गई है। उसने मदीना लौटने का इरादा छोड़ दिया और मक्का की ओर वापस हो गया। जब आपको यक़ीन हो गया कि अबू सुफ़ियान की सेना वापस जा चुकी है, तो आप मदीना लौट आए।

मूता की लड़ाई (जमादी-उल-अव्वल 8 हिजरी) के अगले साल, रोमन राजा (क़ैसर) ने शाम की सीमा पर सैनिक तैयारियाँ शुरू कर दीं। उसके अधीन ग़स्सानी और दूसरे अरब नेता भी सेना जमा करने लगे। इसके जवाब में आप तीस हज़ार की सेना लेकर निकले, जिसे तबूक की लड़ाई (रजब 9 हिजरी) कहा जाता है। तबूक की यह लड़ाई असल में एक सावधानी भरी चाल थी, जिसका मक़सद दुश्मन से पहले क़दम उठाना था, ताकि वह डर कर हमला करने का इरादा छोड़ दे। जब आप तबूक पहुँचे तो पता चला कि क़ैसर ने लड़ाई के लिए आगे आने की जगह अपनी सेना को सीमा से हटाना शुरू कर दिया है। तब आपने भी सीधे लड़ाई का इरादा छोड़ दिया। हालाँकि क़ैसर के पीछे हटने से जो नैतिक जीत आपको मिली, उसका आपने राजनीतिक फायदा उठाने का सोचा। आपने तबूक में बीस दिन रुककर उन सीमावर्ती क़बीलों से संबंध बनाए जो अब तक रोमन असर में थे। इस सिलसिले में दूमतुल जंदल के ईसाई सरदार उकैदिर बिन अब्दुल मलिक किंदी, ऐला के ईसाई सरदार यूहन्ना बिन रुइया, और इसी तरह

मक़ना, जरबा और अज़रुह के ईसाई सरदारों ने भी कर (जिज़्या) देकर मदीना की अधीनता स्वीकार कर ली।

अबू बक्र सिद्दीक़ की ख़िलाफ़त के बाद, हज़रत उसामा की सेना का रवाना होना भी ऐसी ही एक घटना थी। नबी (सल्ल०) के देहांत के बाद क़बीला तैय को छोड़कर मदीना के आस-पास के सभी अरब क़बीले बग़ावत पर उतर आए। अपनी संख्या की कमी और दुश्मन की ज़्यादा संख्या की वजह से मुसलमानों की हालत कुछ ऐसी हो गई थी जैसे "जाड़े की रात में बारिश में भीगी हुई बकरी"। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 665)

इस समय देखने में तो यही लगता था कि अंदर के दुश्मनों से निपटने के लिए अपनी ताक़त को बचाकर रखना चाहिए। लेकिन पैग़म्बर के फ़ैसले पर अडिग रहते हुए पहले ख़लीफ़ा ने तय किया कि उसामा की सेना को, जिस में 700 लोग शामिल थे, रोमियों से लड़ने के लिए शाम की तरफ़ भेजा जाए। इस क़दम का जो असर हुआ, वह हज़रत अबू हुरैरा के शब्दों में कुछ यूँ है:

> "जब यह सेना उन क़बीलों के पास से गुज़री जो इस्लाम छोड़ने का इरादा कर रहे थे, तो वे कहने लगे: अगर मुसलमानों के पास ताक़त न होती, तो उनके यहाँ से इस तरह की फौज रवाना नहीं होती। चलो अभी उन्हें छोड़ देते हैं और देख लेते हैं कि ये रोमियों से कैसे लड़ते हैं।" तो उसामा की सेना रोमियों से लड़ी, उन्हें हराया, और सही-सलामत वापस आ गई। यह देखकर उनके हौसले टूट गए और वे विद्रोह से बाज़ आ गए। (*अल-एतिक़ाद, अल-बैहक़ी*, पृष्ठ 406)

पैग़म्बर (सल्ल०) जब मदीना पहुँचे, तो वहाँ कुछ ही बहुदेववादियों को छोड़कर दो बड़े समुदाय रहते थे: यहूदी और मुसलमान। फिर ये भी कई गुटों में बँटे हुए थे, जिनके बीच आपसी मेल नहीं था। लोग मन ही मन एक ऐसे व्यक्ति को तलाश कर रहे थे, जो इनके बीच एकता और अनुशासन पैदा कर दे। पैग़म्बर (सल्ल०) ने इन हालात को समझते हुए अपनी तरफ़ से एक दस्तावेज़ (आधिकारिक पत्र) जारी किया जिसमें यहूदियों और मुसलमानों को अलग-अलग पहचान के साथ

एक समूह के तौर पर माना गया था: "मदीना के लोग दूसरों से अलग एक ही समुदाय हैं... और यहूदी... ईमान वालों के साथ एक क़ौम हैं। यहूदियों का अपना धर्म है और मुसलमानों का अपना धर्म।" इस दस्तावेज़ में दोनों के चलन में आए अधिकारों और जिम्मेदारियों को छेड़े बिना, उन्हें एक मानने का तरीक़ा तय किया गया था। और एक जगह यह शब्द भी रखे गए: और जब भी तुम किसी बात में आपस में झगड़ो, तो उसका फैसला अल्लाह और रसूल (सल्ल०) की तरफ़ लौटाया जाएगा। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 501-503)

इस तरह यह दस्तावेज़ एक तरह का अनुशासनिक क़दम था, जिससे आपने बड़ी हिकमत के साथ मदीना में इस्लामी सुशासन की बुनियाद रख दी।

आपके मदीना पहुँचने के बाद क़ुरैश का ग़ुस्सा कम होने के बजाय और बढ़ गया, क्योंकि वे देख रहे थे कि सारे मुसलमान एक जगह इकट्ठा होकर एक मज़बूत केन्द्र बना चुके हैं। हिजरत के अगले ही साल आपके सामने ये मुश्किल स्थिति आ गई कि— या तो आगे बढ़कर क़ुरैश की फौज का सामना करें, या उन्हें मदीना में घुसने का मौक़ा दें और इस्लाम के बनते हुए घर को बिखरने दें। हालाँकि क़ुरैश की सेना की संख्या साढ़े नौ सौ थी और मुसलमानों में लड़ सकने वाले लोग केवल तीन सौ तेरह थे, फिर भी आपने अपनी दूर-दर्शिता से यह बात जानी कि विरोधी अपनी ज़्यादा संख्या के बावजूद केवल नफ़रत और जलन की नकारात्मक भावना लेकर आए हैं। इसके उलट, मुसलमानों के पास ईमान और यक़ीन की सकारात्मक ताक़त है, जो उससे कहीं ज़्यादा असरदार है। इसके अलावा, उस समय के अरब लोग अपने क़बीलाई शान के चलते अकेले-अकेले लड़ते थे, ताकि हर कोई अपनी बहादुरी दिखाकर मशहूर हो सके। लेकिन मुसलमान अल्लाह पर ईमान लाकर यह कमज़ोरी छोड़ चुके थे। आपने उन्हें अरब के इतिहास में पहली बार मोर्चाबंदी का हुक्म दिया। आपने उन्हें बताया कि अकेले अपनी बहादुरी दिखाने का जोश मत रखो, बल्कि टुकड़ियों में होकर लड़ो, संयुक्त शक्ति से उन्को हराओ (क़ुरान, 61:4) ईमान और मोर्चाबंदी की शक्ति से वह बड़ी ऐतिहासिक घटना हुई, जिसे इस्लाम के इतिहास में बद्र की जीत कहा जाता है।

इस्लाम की विजय

बद्र की हार ने फिर क़ुरैश को उकसाया और थोड़े ही समय में उनके साथ कई लड़ाइयाँ हुईं, जिनमें उहुद (3 हिजरी) और अहज़ाब (5 हिजरी) ख़ास तौर पर उल्लेखनीय हैं। इन युद्धों में मुसलमानों को बहुत कड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। ख़ंदक की लड़ाई में 800 मुस्लिम थे, लेकिन ठंड, भूख और थकान की हालत ऐसी थी कि जब आपने दुश्मन की निगरानी के लिए एक आदमी को भेजना चाहा तो तीन बार बुलाने के बाद भी कोई नहीं उठा। तब आप ख़ुद हज़रत हुज़ैफा के पास आए, नाम लेकर उन्हें बुलाया और इस काम पर लगाया।

दूसरी तरफ़, मदीना के यहूदी एक स्थायी अंदरूनी समस्या बने हुए थे। क़ुरैश से मिलकर ये लोग लगातार इस्लाम को नुकसान पहुँचाने की कोशिश कर रहे थे। बीस दिन के घेरे के बाद जब एक तेज़ आँधी की वजह से क़ुरैश की सेना मजबूर होकर मक्का लौट गई, तो आपने इस मौके को मदीना के अंदर साजिशी यहूदियों से निपटने के लिए सबसे उचित समझा। इस समय तक उनकी साज़िशें और बग़ावत पूरी तरह सामने आ चुकी थीं। आपने मदीना के यहूदी क़बीले बनू क़ुरैज़ा को ख़ंदक से लौटते ही तुरंत घेर लिया और उनकी समस्या को हमेशा के लिए ख़त्म कर दिया, वह भी उनके अपने धर्मग्रंथ तौरात के कानून को लागू करके।

अब बारी ख़ैबर की थी। हिजरत के छठे साल यह स्थिति थी कि बीच में मदीना था, जो इस्लाम का केंद्र बन चुका था; दक्षिण में मक्का के क़ुरैश थे, जो लगभग 400 किलोमीटर दूर थे; और उत्तर में लगभग 200 किलोमीटर दूर ख़ैबर के यहूदी बसे थे। क़ुरैश और यहूदी, इस्लाम-विरोध में एकमत होने के बावजूद, अकेले इतने ताक़तवर नहीं थे कि मुसलमानों से लड़ सकें। इसलिए वे मिलकर संयुक्त हमला करने की योजना बना रहे थे। दूसरी ओर मुसलमान भी इस स्थिति में नहीं थे कि एक साथ दोनों दुश्मनों का मुक़ाबला कर सकें।

इन हालात में आपने ईश्वरीय सूझबूझ से, ज़ी-क़ादा 6 हिजरी में अपने डेढ़ हज़ार साथियों के साथ मक्का की ओर कूच किया, और ऐलान किया कि हम किसी

से लड़ने नहीं जा रहे हैं, बल्कि उमरा (छोटा हज) करने के लिए जा रहे हैं। आप अपने साथ कुर्बानी के जानवरों का काफ़िला भी ले गए। यहाँ तक कि पुराने ज़माने की रस्म के मुताबिक़ ऊँटों को कुर्बानी का निशान (गले में पट्टा) पहनाने का भी हुक्म दिया, ताकि मक्का वालों को साफ़-साफ़ पता चल जाए कि आप केवल काबा की ज़ियारत और कुर्बानी के लिए आए हैं। इस यात्रा का एक उद्देश्य यह भी था कि क़ुरैश को दिखाया जाए कि आपका मक़सद काबा की धार्मिक या व्यापारिक अहमियत को ख़त्म करना नहीं है।

जब आप मक्का से लगभग ग्यारह किलोमीटर दूर हुदैबिया नामक स्थान पर पहुँचे, तो जैसा कि अनुमान था, क़ुरैश ने आगे आकर रास्ता रोक लिया। आपने टकराव से बचते हुए वहीं डेरा डाल दिया और क़ुरैश को यह संदेश भिजवाया कि हमारे और तुम्हारे बीच सुलह का समझौता हो जाए:

> "हम लड़ने नहीं आए हैं, बल्कि उमरा करने आए हैं। लड़ाई ने क़ुरैश को बहुत थका दिया है और उन्हें नुकसान भी हुआ है। अगर वे चाहें, तो मैं उनके लिए एक तय समय तक युद्ध न करने का वादा कर सकता हूँ। वे मेरे और लोगों के बीच से हट जाएँ। अगर मुझे सफलता मिली, तो वे चाहें तो हमारे साथ आ सकते हैं जिसमें दूसरे लोग भी शामिल हो चुके हैं। अगर मुझे जीत न मिली, तो उन्हें वो मिल गया जो वो चाहते हैं। और अगर उन्होंने इनकार किया, तो उस ख़ुदा की क़सम जिसके हाथ में मेरी जान है, मैं इस काम के लिए उनसे ज़रूर लड़ूँगा, चाहे मेरी गर्दन अलग हो जाए। और अल्लाह अपना फ़ैसला ज़रूर पूरा करके रहेगा।"
> (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 2731)

यह संदेश दरअसल क़ुरैश के अंदर पाई जाने वाली एक सोच से फ़ायदा उठाने के लिए था। मक्का के शुरुआती दौर में जब उत्बा बिन रबीआ क़ुरैश के एक प्रतिनिधि के तौर पर आपसे मिला और बातचीत के बाद क़ुरैश के पास लौटा, तो एक रिवायत के अनुसार उसने जो बातें कही थीं, उनमें से एक यह भी थी:

> "इस आदमी को उसके हाल पर छोड़ दो। ख़ुदा की क़सम, वह अपनी बात से पीछे हटने वाला नहीं है। तुम उसके और

> सारे अरब के बीच से हट जाओ। अगर उसने अरब पर जीत दर्ज की, तो उसकी इज्ज़त तुम्हारी इज्ज़त होगी और उसकी ताक़त तुम्हारी ताक़त। और अगर वह हार गया, तो तुम दूसरों के ज़रिए उससे निपट लोगे।" (*दलाइल अल-नुबूव्वह*, अबू नुऐम इस्फहानी, हदीस संख्या 185)

यह सोच जो खुद क़ुरैश के अंदर छिपी हुई थी, उसी का आप (पैग़म्बर) ने सही इस्तेमाल किया। इसका नतीजा यह हुआ कि खुद दुश्मन के अंदर से ही आपको अपने नज़रिए (विचार) के समर्थक मिल गए।

एक तरफ़ आपने यह संदेश भिजवाया, दूसरी तरफ़ क़ुरैश को अलग-अलग तरीक़ों से प्रभावित करने का सिलसिला शुरू हो गया। बनी किनाना का एक व्यक्ति — हुलैस बिन अलक़मा अल-किनानी — मक्का से रवाना होकर हुदैबिया पहुँचा ताकि यह पता करे कि मुसलमान किस लिए आए हैं। जब लोगों ने आपको इसकी जानकारी दी, तो आपने फ़रमाया कि इस व्यक्ति के क़बीले में क़ुरबानी के ऊँटों की बड़ी इज्ज़त की जाती है, इसलिए तुम लोग अपने क़ुरबानी के ऊँट लेकर इसका स्वागत करो। मुसलमानों ने ऊँटों का क़ाफ़िला बनाया और "लब्बैक अल्लाहुम्मा लब्बैक" कहते हुए उसके सामने से गुज़रे। यह आदमी मक्का वापस लौटा तो बहुत प्रभावित था। उसने क़ुरैश से कहा — मुझे पूरा विश्वास है कि मुसलमान केवल काबा की ज़ियारत के लिए आ रहे हैं, उन्हें मत रोको। (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 18910)

इसी तरह डेढ़ हज़ार मुसलमानों का रूहानी और अख्लाक़ी (अध्यात्मिक और व्यवहारिक) प्रदर्शन भी उन पर बहुत गहरा असर डाल रहा था। क़ुरैश का एक दूत जब हुदैबिया पहुँचा, तो मुसलमान क़तार में खड़े होकर रसूल अल्लाह की अगुवाई में नमाज़ पढ़ रहे थे। नमाज़ के अनुशासन को देखकर वह इतना प्रभावित हुआ कि वापस जाकर क़ुरैश से कहा — मुसलमानों की एकता इतनी मजबूत है कि पूरी क़ौम मुहम्मद के एक इशारे पर चलती है। एक और दूत ने देखा कि जब पैग़म्बर वुज़ू करते हैं, तो मुसलमान दौड़ते हैं ताकि उनके वुज़ू का पानी ज़मीन

पर गिरने से पहले अपने हाथों में ले लें। जब वह बोलते हैं, तो सब चुप हो जाते हैं। वे सम्मान और श्रद्धा से उनकी ओर सीधा नहीं देखते। जब उसने क़ुरैश से मुसलमानों की इस निष्ठा और प्रेम का ज़िक्र किया, तो वे भी बहुत प्रभावित हुए।

बुदैल बिन वर्का ख़ुज़ाई के ज़रिए जब ये संदेश क़ुरैश को पहुँचा, तो एक व्यक्ति (उरवा बिन मसऊद) ने भाषण दिया:

> "ऐ मेरी क़ौम! क्या तुम में से कुछ लोग मेरे पिता की तरह नहीं हैं?" लोगों ने कहा: "क्यों नहीं।" उसने कहा: "क्या तुम में कुछ मेरी संतान की तरह नहीं हैं?" लोगों ने कहा: "हां, हैं।" उसने कहा: "क्या तुम्हें मुझ पर कोई शक है?" लोगों ने कहा: "नहीं।" फिर उसने कहा: "इस आदमी ने तुम्हारे सामने एक बहुत अच्छी योजना रखी है, इसे मान लो और मुझे इजाज़त दो कि मैं उनसे बात करने जाऊं।" (*अल-बिदायह व अल-निहायह*, खण्ड 4, पृष्ठ 174)

पैग़म्बर (सल्ल०) ने ऐलान कर दिया कि क़ुरैश जो भी मांग रखेंगे, मैं उसे मान लूंगा: शर्त ये है कि उसमें अल्लाह के आदेशों का सम्मान हो। जब शांति-संधि लिखी जाने लगी, तो उन्होंने अपनी इस्लाम से पूर्व अज्ञानता की ग़लत भावनाओं का प्रदर्शन किया। संधि के दस्तावेज़ से "मुहम्मद रसूल अल्लाह" हटा कर "मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह" लिखवाया। "बिस्मिल्लाहिर-रहमान-अल-रहीम" की जगह "बिस्मिक-अल्लाहुम्मा" लिखने की ज़िद की। यह शर्त जोड़ी कि अगर क़ुरैश का कोई आदमी मुसलमानों के पास चला जाए, तो वे उसे लौटा देंगे, लेकिन अगर कोई मुसलमान क़ुरैश के पास चला जाए तो वे उसे नहीं लौटाएँगे। उन्होंने यह भी नहीं माना कि मुसलमान इस साल मक्का जाकर उमरा करें। सभी साथियों को ये शर्तें बहुत भारी लग रही थीं। यहाँ तक कि जब उरवा बिन मसऊद ने कहा, "ऐ मुहम्मद! ये जो इधर-उधर के लोग अपने चारों तरफ़ जमा किए हैं, ये सब आपको छोड़कर भाग जाएँगे" — तो अबू बक्र जैसे गंभीर व्यक्ति भी सख्त ग़ुस्से में आ गए। उन्होंने गाली देते हुए कहा: "क्या हम उन्हें (पैग़म्बर को) छोड़ कर भाग जाएँगे?"

लेकिन अल्लाह के रसूल ने हर तरह की उकसाने वाली बातों को सहन किया और क़ुरैश की हर शर्त को मानकर उनसे दस साल का शांति-समझौता कर लिया। अब क़ुरैश इस बात के पाबंद हो गए कि वे इस अवधि में सीधे या परोक्ष रूप से मुसलमानों के ख़िलाफ़ कोई युद्ध नहीं करेंगे।

यह समझौता मुसलमानों के लिए इतना कठिन था कि जब आप ने लोगों से क़ुरबानी करने को कहा तो तीन बार कहने के बावजूद कोई भी नहीं उठा। बाद में जब वे उठे भी, तो दुःख इतना ज़्यादा था कि जब लोग अपने बाल मुँडवाने लगे तो ऐसा लगता था जैसे एक-दूसरे को काट डालेंगे। लेकिन दबकर की गई इस संधि के इतने बड़े लाभ हुए, जिनका अंदाज़ा लगाना मुश्किल है।

सुलह-ए-हुदैबिया के समय मुसलमानों के दो मुख्य विरोधी थे — एक थे ख़ैबर के यहूदी, दूसरे मक्का के क़ुरैश। मुसलमान अभी इतने ताक़तवर नहीं थे कि एक साथ दोनों से लड़ सकें। एक पर हमला करने का मतलब था कि दूसरा पीछे से हमला करके मदीना को तबाह कर दे। इसलिए आपने यह किया कि क़ुरैश की सभी शर्तें मानकर उनसे दस साल की शांति-संधि कर ली और उन्हें "मक्का की घाटी" में रोक दिया। फिर मदीना लौटकर पहली फ़ुर्सत में खैबर के ख़तरे को सदा के लिए ख़त्म कर दिया। पहली घटना ज़ी-क़ादा 6 हिजरी में हुई और दूसरी मुहर्रम 7 हिजरी में।

ख़ैबर में यहूदियों के आठ पत्थर के क़िले थे, जिनमें 20,000 सैनिक ऐसे हथियारों से लैस थे जो मुसलमानों के पास नहीं थे। इन किलों को मजबूत करने के लिए वही तरीक़ा अपनाया गया था जिसे 1700 ई. में फ्रांस के सैन्य इंजीनियर मार्शल वॉबन ने अपनाकर प्रसिद्धि पाई थी। इस मज़बूत शहर को कैसे फ़तह किया गया, यह खुद एक लंबी कहानी है। एक अद्भुत युद्ध रणनीति अपनाई गई — क़िले का दरवाज़ा तोड़ने के लिए भारी लकड़ी के तने को लेकर पचास लोग दौड़ते और उसे ज़ोर से किले पर मारते। कुछ बार में ही दरवाज़ा टूट जाता और फिर तीरों और

गोलेबारी के बीच मुसलमान क़िले में घुस जाते। चार किले इसी तरह जीत लिए गए और बाक़ी ने डरकर अपने आप ही दरवाज़े खोल दिए।

खैबर की फतह के बाद अब बारी थी क़ुरैश की। आपकी पैग़म्बराना सूझ-बूझ ने बताया कि उन्हें एक ग़लती करने दो, जिससे आपके लिए हस्तक्षेप करना जायज़ साबित हो सके। आप जानते थे कि क़ुरैश को इस्लाम से जो नफ़रत है, उसका कारण है — जलन, घमंड, सत्ता की भूख। जो लोग इन भावनाओं से ग्रस्त हों, वे अक्सर अनुचित कार्य कर बैठते हैं। ठीक वैसा ही हुआ — जब (शाबान 8 हिजरी) क़बीला ख़ुज़ाआ और क़बीला बनू बक्र में लड़ाई हुई, तो क़ुरैश ने अपने साथी क़बीले (बनू बक्र) की मदद करते हुए मुसलमानों के साथी क़बीले (ख़ुज़ाआ) पर हमला किया। यह संधि का खुला उल्लंघन था। इस बीच, इस्लाम इतनी तेज़ी से फैल चुका था कि अगर सुलह के समय आपके साथ डेढ़ हज़ार आदमी थे, तो अब वे दस हज़ार हो गए थे। आपने चुपचाप मक्का की तरफ़ कूच किया और इतनी समझदारी से सब कुछ किया कि मक्का बिना ख़ून बहाए फतह हो गया। "अल्लाह ने तुमसे बहुत सी जीतों का वादा किया था, और उसने यह जीत तुम्हें जल्दी दे दी और लोगों के हाथ तुमसे रोक दिए।" (क़ुरान, 48:20)

उस समय हालत यह थी कि 20 साल की लगातार कोशिशों से इस्लाम की आवाज़ पूरे अरब में फैल चुकी थी। हर क़बीले में ऐसे लोग थे जो दिल से इस्लाम को सही मानते थे, लेकिन क़ुरैश के डर से अपना इस्लाम ज़ाहिर नहीं करते थे। वे समझते थे कि इस्लाम स्वीकार करना क़ुरैश से युद्ध करने जैसा है। जब सुलह हो गई और पता चला कि अब दस साल तक कोई युद्ध नहीं होगा, तो लोगों ने धड़ाधड़ पैग़म्बर (सल्ल०) के साथ आना शुरू कर दिया — जैसे कोई रास्ता बंद हो और अचानक खुल जाए, तो गाड़ियों की भीड़ लग जाती है।

इब्न शिहाब ज़ुहरी और अन्य ने कहा: अल्लाह ने सुलह-ए-हुदैबिया के ज़रिए मुसलमानों को जितनी बड़ी सफलता दी, वह किसी भी युद्ध से ज़्यादा थी। पैग़म्बर मक्का में दस हज़ार साथियों के साथ दाखिल हुए, जब कि इस से पहले तीन हज़ार से ज़्यादा कभी नहीं थे। इसकी वजह यह थी कि जब क़ुरैश ने युद्ध छोड़ दिया, तो

लोगों के लिए इस्लाम में दाख़िल होने में कोई रुकावट नहीं रही। बुख़ारी में हज़रत बरा से रिवायत है:

> "तुम लोग मक्का की जीत को फतह समझते हो, लेकिन हम लोग सुलह-ए-हुदैबिया को असली फ़तह मानते थे।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 4150)

इस सुलह के बाद मदीना का आर्थिक घेराव ख़त्म हो गया और मदीना के व्यापारी क़ाफिले आज़ादी से मक्का के रास्ते चलने लगे। अबू बसीर, अबू जंदल आदि जिन्हें समझौते के अनुसार क़ुरैश के हवाले करना था, वे भागकर ज़ुल-मरवा पहुँच गए। वहाँ इस तरह के और मुसलमान इकट्ठा हो गए और एक नया केंद्र बन गया। उन्होंने क़ुरैश के व्यापारिक क़ाफिलों को इतना परेशान किया कि क़ुरैश ने खुद ही उस शर्त को हटा दिया। मनुष्य की सबसे बड़ी कमज़ोरी है —जल्द-बाज़ी और दिखाई देने वाली चीज़ों का मोह रखना। अगर कोई व्यक्ति इन चीज़ों से ऊपर उठ जाए, तो इस दुनिया में अल्लाह ने ऐसे अवसर रखे हैं जो उसे सफलता तक ले जाने की पक्की गारंटी हैं।

हज़रत अबू बक्र कहा करते थे कि इस्लाम में हुदैबिया की संधि से बड़ी कोई जीत नहीं हुई। लेकिन उस दिन लोगों की नज़र वहाँ तक नहीं पहुँची जहाँ तक मोहम्मद (सल्ल०) और उनके रब के बीच का मामला था। इंसान जल्दबाज़ होते हैं, लेकिन अल्लाह इंसानों की तरह जल्दी नहीं करता — जब तक कि वो घटनाएँ हो न जाएँ जो अल्लाह चाहता है।

वास्तविकता को स्वीकार करना इस दुनिया में सबसे दुर्लभ चीज़ है, जबकि किसी भी सफलता तक पहुँचने का यही एकमात्र सुनिश्चित माध्यम है।

ख़ैबर का अभियान पूरा होते ही आपने एक और अभियान की तैयारी शुरू कर दी थी। लेकिन आपने यह नहीं बताया कि यह अभियान किसके ख़िलाफ़ है — यहाँ तक कि हज़रत अबू बक्र तक को नहीं मालूम था कि आप कहाँ जाने का इरादा रखते हैं। रमज़ान 8 हिजरी की शुरुआत में जब इस्लामी सेना ने आपके आदेश से मक्का की ओर कूच किया, तब लोगों को पता चला कि आपकी मंज़िल क्या

है। हालांकि, पूरा सफ़र इतनी ख़ामोशी और गोपनीयता से तय हुआ कि आप मर्रुज़्ज़हरान तक पहुँच गए और मक्का वालों को कोई ख़बर तक नहीं हुई।

फिर जब रसूल (सल्ल॰) मर्रुज़्ज़हरान में ठहरे, उस समय तक क़ुरैश तक कोई सूचना नहीं पहुँची थी कि रसूल (सल्ल॰) वहाँ पहुँच चुके हैं। आपने यात्रा से पहले यह दुआ की थी: "हे अल्लाह, क़ुरैश से निगाहें और खबरें रोक ले जब तक कि मैं उनके नगर में प्रवेश न कर लूं।"

इस अभियान की तैयारी के लिए आपने अद्भुत व्यवस्था की। आपने आदेश दिया कि मदीना शहर का बाहरी संपर्क पूरी तरह बंद कर दिया जाए — न कोई बाहर से अंदर आ सके, न कोई अंदर से बाहर जा सके। हज़रत अली की अगुवाई में कुछ लोगों को रास्तों की निगरानी पर लगाया गया। इन्हीं लोगों ने हातिब बिन अबी बल्तआ के संदेशवाहक को पकड़ लिया और उससे एक प्रसिद्ध पत्र बरामद किया। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 397–400)

पूरी सेना अस्त्र-शस्त्र से लैस थी। सभी मुसलमानों को साथ लिया गया था — कोई भी पीछे नहीं रह गया। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 400) यात्रा की योजना आपने इस प्रकार बनाई थी कि दस हज़ार की सेना को कई टुकड़ियों में बाँटा गया। हर टुकड़ी का एक सेनापति था जो ध्वज लेकर सबसे आगे चलता और उसके पीछे सैकड़ों सैनिक अनुशासित पंक्तियों में मार्च करते। आपने अपने चाचा हज़रत अब्बास से कहा कि अबू सुफ़यान को सेना के इस भव्य दृश्य को दिखाएँ। आपने फ़रमाया:

> "उन्हें घाटी के संकरे रास्ते पर पहाड़ के पास रोकिए ताकि अल्लाह की सेनाएँ उनके सामने से गुजरें और वे उसे देख सकें।"
> (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 403)

इस्लामी सेना क्रमबद्ध रूप में गुजर रही थी और अबू सुफ़यान हैरानी से देख रहे थे, यहाँ तक कि उनकी ज़बान से निकल पड़ा: "इनके मुक़ाबले की ताक़त किसी

के पास नहीं है।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 404) एक और वर्णन में है: "मैंने आज तक ऐसी सेना और ऐसा संगठित दल नहीं देखा।" (*अल-मुअजम अल-कबीर*, अल-तबरानी, हदीस संख्या 7263)

एक ओर आपने मक्का के नेता (अबू सुफ़यान) को इस प्रकार प्रभावित किया, दूसरी ओर यह घोषणा कर दी कि "जो अबू सुफ़यान के घर में जाएगा, वह सुरक्षित है।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1780)

इसका परिणाम यह हुआ कि अबू सुफ़यान ने स्वयं मक्का में यह ऐलान कर दिया: "लोगो! मोहम्मद की आज्ञा का पालन करो — आज उनका मुक़ाबला करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है।" मक्का विजय के बाद की घटनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि इस पूरी तैयारी का उद्देश्य मक्का में रक्तपात नहीं था, बल्कि मक्का के लोगों को प्रभाव में लेकर बिना संघर्ष के इस्लाम का नियंत्रण स्थापित करना था। इस्लामी सेना के सेनापति सअद बिन उबादा ने मक्का के निकट पहुँचकर नारा लगाया: "आज खून बहाने का दिन है।" आपने फ़रमाया: "नहीं, आज रहम का दिन है।" और उन्हें सेनापति पद से हटाकर ध्वज उनके पुत्र क़ैस को सौंप दिया। (*तारीख़े दमिश्क़*, इब्न असाकिर, खण्ड 23, पृष्ठ 454)

मक्का की विजय के बाद यद्यपि कुछ लड़ाइयाँ हुईं और कुल मिलाकर आपके अभियानों की संख्या 80 तक है, लेकिन मक्का की विजय का अर्थ था देश की राजधानी पर नियंत्रण। इस प्रकार, कुछ हल्की झड़पों के बाद ही सम्पूर्ण अरब ने आपके नेतृत्व को स्वीकार कर लिया।

जीत के बाद

दुश्मन पर जीत इंसान के अंदर दो तरह की भावनाएं लाती है — घमंड और बदला लेने की इच्छा। लेकिन मुहम्मद (सल्ल०) की जीत एक नबी (पैग़म्बर) की जीत थी। आप इन भावनाओं से पूरी तरह दूर थे। इब्न इसहाक़ बताते हैं कि जब

मक्का फ़तह हुआ और आप मक्का में दाखिल हुए, तो आप बहुत झुके हुए थे — इतना कि लोगों ने देखा आपकी दाढ़ी ऊँट की काठी को छू रही थी। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 405) काबा के दरवाज़े पर खड़े होकर आपने जो भाषण दिया, उसमें आपने कहा:

> "अल्लाह के अलावा कोई पूज्य नहीं, उसका कोई साथी नहीं। उसने अपना वादा पूरा किया, अपने बंदे की मदद की और अकेले ही दुश्मनों को हरा दिया।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 412)

इसका मतलब था कि आपने इस जीत को पूरी तरह से अल्लाह का काम बताया। इसी भाषण में आपने आगे कहा:

> "ऐ क़ुरैश के लोगो, बताओ कि मैं तुम्हारे साथ क्या करने वाला हूँ?" लोगों ने कहा: "भलाई। आप शरीफ़ भाई हैं और शरीफ़ भाई के बेटे हैं।" आप ने कहा: "मैं वही कहता हूँ जो यूसुफ़ ने अपने भाइयों से कहा था — आज तुम पर कोई इल्ज़ाम नहीं है। जाओ, तुम सब आज़ाद हो।" (*ज़ाद अल-मआद*, इब्न क़य्यिम, खण्ड 3, पृष्ठ 359)

इस तरह आपने शुरू में ही उस सोच को ख़त्म कर दिया जो अक्सर जीतने वालों और हारने वालों के बीच दुश्मनी और बदले की वजह बनती है। आमतौर पर, जीतने वाले लोग बदले की कार्रवाई करने लगते हैं, लेकिन आपने सबको माफ़ कर दिया और लोगों की ताक़त को अच्छे कामों में लगाने का रास्ता चुना।

जब आप मक्का में दाखिल हुए, तो आपने अपनी सेना को हुक्म दिया कि वो किसी से लड़ाई न करे — जब तक कि कोई पहले हमला न करे। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 409) जीत के बाद आपने आम माफ़ी का ऐलान कर दिया — उन लोगों के लिए भी जिन्होंने आपके साथ बहुत बुरा किया था।

एक सवाल और उसका जवाब

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के समय में बनू मख़ज़ूम क़बीले की एक महिला जिसका नाम फातिमा था, उसने चोरी की। उसके क़बीले वालों को डर हुआ कि उसका हाथ काट दिया जाएगा। उसामा बिन ज़ैद जो पैग़म्बर के बहुत क़रीबी लोगों में से थे, उनसे लोगों ने कहा कि आप पैग़म्बर से सिफ़ारिश करें कि हमारी महिला को छोड़ दिया जाए। हज़रत उसामा पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के पास आए और फ़ातिमा मख़ज़ूमी की माफ़ी की दरख़ास्त की। यह सुनकर आपके चेहरे का रंग बदल गया और आपने फ़रमाया: "क्या तुम अल्लाह की तय की गई सज़ाओं में से एक सज़ा के बारे में मुझसे सिफ़ारिश कर रहे हो?" इसके बाद आपने लोगों को इकट्ठा किया और तक़रीर में फ़रमाया: "उस ज़ात की क़सम जिसके हाथ में मेरी जान है, अगर मेरी बेटी फ़ातिमा भी चोरी करती तो मैं उसका भी हाथ काट देता।" चुनांचे, उस महिला का हाथ काट दिया गया। इसके बाद उसने तौबा की और एक नेक महिला बन गई। (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 4304)

इससे यह पता चलता है कि अल्लाह की तय की गई सज़ाओं को कोई माफ़ नहीं कर सकता। फिर सवाल उठता है कि जब मक्का फ़तह हुआ, तो पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने दुश्मनों को इतनी दरियादिली के साथ माफ़ क्यों कर दिया? इसका कारण यह है कि सामान्य हालात में किए गए अपराध और युद्ध की स्थिति में किए गए अपराधों में फ़र्क़ होता है। साधारण स्थिति में अगर कोई व्यक्ति अपराध करता है, तो उस अपराध को माफ़ नहीं किया जा सकता। लेकिन जब युद्ध के दौरान दुश्मन गुट के लोग कुछ ग़लत करते हैं और फिर हार मान कर अधीनता स्वीकार कर लेते हैं, तो ऐसे में उन्हें माफ़ कर दिया जाता है — बशर्ते कि वे आज्ञा मानने वाले बन जाएं और माफ़ी माँगें। ग़ैर-युद्ध की स्थिति में किया गया अपराध 'हद' (कानूनी सज़ा) पर समाप्त होता है, जबकि युद्ध की स्थिति में किया गया अपराध, अधीनता और माफ़ी की दरख़ास्त पर समाप्त होता है। अरब में इस्लाम के दुश्मनों ने मुसलमानों के ख़िलाफ़ अत्यंत गंभीर अपराध किए थे। लेकिन इसके बावजूद यह ऐलान कर दिया गया कि अगर ये लोग अब रुक जाएं, तो जो कुछ

हो चुका है, वह सब माफ़ कर दिया जाएगा। (क़ुरान, 8:38) यह भी आदेश दिया गया कि अगर दुश्मन संधि की पेशकश करें, तो उसे स्वीकार कर लो — यहाँ तक कि उस समय भी जब शांति के बाद उनके द्वारा धोखा देने की आशंका हो:

> "और अगर वे शांति की तरफ़ झुकें तो तुम भी झुक जाओ और अल्लाह पर भरोसा रखो। निश्चय ही वह सब कुछ सुनने और जानने वाला है। और अगर वे तुम्हें धोखा देना चाहें तो अल्लाह तुम्हारे लिए काफ़ी है। वही है जिसने अपनी मदद से और ईमान वालों के ज़रिए तुम्हें ताक़त दी।" (क़ुरान, 8:61–62)

जिन लोगों को इस मौके पर माफ़ किया गया, उनमें इक्रिमा बिन अबू जहल भी शामिल थे। वे अपने पिता के साथ मिलकर इस्लाम विरोधी गतिविधियों में बेहद सक्रिय रहे थे और पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) को कई प्रकार की तकलीफ़ें दी थीं। लेकिन जब पता चला कि वे अब आज्ञाकारी होकर रसूलुल्लाह के पास आ रहे हैं, तो आपने अपने साथियों से फ़रमाया:

> "इक्रिमा बिन अबू जहल एक अच्छे इंसान बनकर तुम्हारे पास आ रहे हैं, इसलिए उनके पिता को बुरा मत कहना। क्योंकि किसी मरे हुए व्यक्ति को बुरा कहने से ज़िंदा व्यक्ति को तकलीफ़ होती है।" (*अल-मुस्तदरक अल-हाकिम*, हदीस संख्या 5055)

यही वह दरियादिली और बड़े दिल वाला रवैया था, जिसकी वजह से यह नज़ारा देखने को मिला कि मक्का की फ़तह से पहले जो लोग इस्लाम के सबसे बड़े दुश्मन थे, वे फ़तह के बाद इसके सबसे मज़बूत समर्थक और रक्षक बन गए।

भाग तीन

पैग़म्बरी का अंत

ये घटना उस समय की है जब पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने नबी होने का एलान किया था। एक अरब क़बीले का आदमी मक्का में काबा की यात्रा के लिए आया था। जब वह वापस लौटा तो उसके लोगों ने उससे पूछा, "मक्का में क्या चल रहा है?" उसने जवाब दिया:

> "मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह ने नबी होने का दावा किया है और अबू क़ुहाफ़ा का बेटा (अबू बक्र) उसका साथ दे रहा है।" (*अल-बदअ व अल-तारीख़*, खण्ड 5, पृष्ठ 82)

इससे पता चलता है कि जब साल 610 में उन्होंने नबूवत का ऐलान किया, उस वक्त लोग उन्हें कैसे देखते थे। उनके विरोधी उन्हें "इब्न अबी कब्शा" कहते थे, जिसका मतलब था – किसी देहाती का बेटा। कोई अगर थोड़ी सभ्य भाषा में बोलता, तो कहता – "कुरैश क़बीले का एक नौजवान।"

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के अपने दौर में लोग उन्हें ऐसे ही मामूली इंसान समझते थे। लेकिन अब सदियाँ बीत चुकी हैं और हालात बिल्कुल बदल गए हैं। अब उनकी नुबूवत कोई विवाद की बात नहीं है। अब यह एक स्वीकृत सच्चाई मानी जाती है। आज जब कोई कहता है, "मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं," तो उसके दिमाग में एक ऐसे पैग़म्बर की छवि होती है जिनका नाम इतिहास में बहुत ऊँचा है, जिनके पीछे पंद्रह सौ वर्षों की प्रमाणित महानता खड़ी है। अगर यह पूरा इतिहास अलग कर दिया जाए और पैग़म्बर मुहम्मद फिर से "इब्न अबी कब्शा" की सूरत में सामने आएं, तो बहुत मुमकिन है कि आज जो करोड़ों लोग उन पर ईमान लाए हैं, उनकी गिनती बस कुछ दर्जन तक रह जाएगी। एक मामूली से दिखने वाले इंसान में अल्लाह के दूत को पहचानना बहुत मुश्किल है। लेकिन यही काम उस समय बहुत आसान हो जाता है जब पैग़म्बर को एक स्वीकृत ऐतिहासिक पहचान मिल चुकी हो, या फिर क़ुरान की भाषा में कहें तो वे मक़ामे महमूद 'प्रशंसित स्थान' (सूरह इसरा, 17:79) का दर्जा प्राप्त कर चुके हों।

पुराने ज़माने में जब कोई नबी आता था, तो लोग उसे पहचान नहीं पाते थे। वे कहते थे, "अरे, ये तो वही इंसान है जिसे हम पहले से जानते हैं, ये अल्लाह का पैग़म्बर कैसे हो गया?" इसी सोच की वजह से लोग उस नबी को मानने में हिचकते थे और अक्सर नकार देते थे।

ये मुश्किल हालात आख़िरी नबी (मुहम्मद सल्ल०) के आने से पहले तक चलते रहे। हर बार कोई नया नबी आता और उसकी अपनी ही क़ौम के ज़्यादातर लोग उसे न मानते, संदेह करते, और आख़िरकार तबाही का शिकार हो जाते। फिर अल्लाह ने तय किया कि अब ऐसा नबी भेजा जाए जो पूरी दुनिया के लिए रहमत (दया) का ज़रिया बने। ऐसा नबी जो लोगों को इस उलझन में न डाले कि ये सच्चा नबी है या खुद से ऐसा दावा कर रहा है। उसकी सच्चाई इतनी साफ़ हो कि हर कोई उसे पहचान सके और उस पर ईमान लाकर ख़ुदा की रहमत (कृपा) पा सके। पैग़म्बर मुहम्मद साहब ने कई बार कहा कि मेरी उम्मत (अनुयाई) बाक़ी सभी नबियों के अनुयाईयों से ज़्यादा होगी। (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 4981)

इसकी वजह भी यही है कि अब उनके बाद कोई और नबी नहीं आने वाला। इसलिए अब उनके मानने वालों को दोबारा इस तरह के शक में नहीं डाला जाएगा। उनके अनुयाई लगातार बढ़ते रहेंगे, जब तक कि दुनिया ख़त्म न हो जाए।

इस बात को यहूदियों (बनी इस्राईल) की मिसाल से समझ सकते हैं। जब ईसा मसीह (यीशु) आए, तब यहूदी पहले से अल्लाह की किताब पर ईमान रखते थे और हज़रत मूसा को मानते थे। लेकिन जब उनके बीच एक नया नबी आया तो वो उसे मानने को तैयार नहीं हुए। उन्होंने मूसा को तो नहीं छोड़ा, लेकिन अपने ज़माने के नबी को नकार दिया। नतीजा यह हुआ कि बस एक दर्जन ईमान वालों को छोड़कर सारी यहूदी क़ौम काफ़िर (इंकार करने वाले) मानी गई। ईसा मसीह के 600 साल बाद जब मुहम्मद (सल्ल०) आए, तब ईसाइयों की तादाद बहुत बढ़ चुकी थी। लेकिन फिर वही हुआ – ज़्यादातर ईसाई उन्हें मानने को तैयार नहीं हुए। वो अब भी ईसा को मानते रहे, लेकिन अपने ज़माने के नबी मुहम्मद को नहीं। नतीजतन, कुछ ईमान लाने वालों को छोड़कर पूरी ईसाई क़ौम को भी काफिर (इंकार करने वाले) माना गया।

लेकिन अब, चूंकि पैग़म्बरी ख़त्म हो चुकी है, उम्मते-मुहम्मदी (मुहम्मद (सल्ल०) के अनुयाईयों) को अब दोबारा इस तरह की मुश्किल से नहीं गुज़रना पड़ेगा। इसलिए आपके मानने वालों की संख्या हमेशा बाक़ी नबियों की उम्मतों से ज़्यादा रहेगी। यह भी एक सबूत है कि आप "रहमतुल लिल-आलमीन" यानी सबके लिए दया बनकर आए, और आपको अल्लाह ने "मक़ामे महमूद" का दर्जा दिया। "मक़ामे महमूद" का सांसारिक (दुनियावी) अर्थ यह है कि आपकी पैग़म्बरी को एक ऐतिहासिक और स्वीकृत सच्चाई बना दिया गया है। और क़यामत के दिन आपको ऐसा सम्मान मिलेगा जो इतिहास में अगलों या पिछलों में से किसी और को नहीं मिलेगा।

लेकिन किसी नबी को इतनी ऊँचाई पर पहुंचाना कोई आसान या सिर्फ नाम देने का काम नहीं था। इसके लिए बहुत बड़ी और बेहतरीन शख्सियत चाहिए थी – ऐसी जैसी इंसानों में पहले कभी नहीं आई। साथ ही, बहुत बड़ी कुर्बानी और खुद को पूरी तरह अल्लाह के हवाले कर देना भी ज़रूरी था – जैसा कि किसी और ने नहीं किया। यही वो पल था जब अल्लाह ने अपने नबी को पुकारा: "ऐ चादर ओढ़ने वाले, उठो, लोगों को सचेत करो, और अपने रब की बड़ाई करो।" (क़ुरान, 74:1-3) और वह महान आत्मा, जो कम्बल में लिपटी हुई थी, उठ खड़ी हुई और खुद को पूरी तरह अल्लाह के काम के लिए समर्पित कर दिया।

इसके बाद लंबे संघर्ष और मेहनत के बाद वह नबूवत सामने आई जो सारी दुनिया के लिए रहमत बन गई। जिसने बार-बार नए नबियों की आने वाली परीक्षाओं का सिलसिला ख़त्म कर दिया और एक तयशुदा नबी के ज़रिए लोगों के लिए ख़ुदा की रहमत पाने का रास्ता खोल दिया।

नबूवत को ऐतिहासिक रूप से सुनिश्चित करने का दूसरा मतलब यह था कि भविष्य में नबियों के आने का सिलसिला समाप्त कर दिया जाए। लेकिन यह केवल एक औपचारिक घोषणा नहीं थी। "ख़त्म-ए-नबूवत" से पहले यह ज़रूरी था कि कुछ आवश्यक शर्तें पहले ही पूरी हो चुकी हों:

1. जीवन के सभी पहलुओं के लिए अल्लाह के आदेशों का विस्तार से अवतरित होना। जैसा कि क़ुरान में है: "और वही है जिसने तुम्हारे लिए किताब को स्पष्ट तौर से उतारा।" (क़ुरान, 6:114)
2. मानव जाति के लिए एक पूर्ण आदर्श का सामने आ जाना, "निश्चय ही तुम्हारे लिए अल्लाह के रसूल में एक उत्तम उदाहरण है।" (क़ुरान, 33:21)
3. अल्लाह की वह्य (क़ुरान) की स्थायी सुरक्षा की व्यवस्था "निस्संदेह, हमने यह ज़िक्र (क़ुरान) उतारा है और हम ही इसके रक्षक हैं।" (क़ुरान, 15:9)

अल्लाह ने अपने एक खास फ़ैसले के तहत इन तीनों शर्तों को पूरा करने की व्यवस्था कर दी।

पिछले नबियों के साथ अल्लाह की परंपरा यह थी कि हर नबी को कुछ चमत्कारी निशानियाँ दी जाती थीं। वह अपनी क़ौम (समाज) में आख़िरी हद तक प्रचार करता और असाधारण चिन्हों के द्वारा यह साबित करता कि वह अल्लाह का प्रतिनिधि है। इसके बावजूद जब लोग ईमान नहीं लाते और उसके अनुयाई नहीं बनते, तो नबी का काम पूरा हो जाता और फिर अल्लाह के फ़रिश्ते (दूत) सक्रिय होकर ज़मीन या आकाश से कोई भारी आपदा भेजते और उस क़ौम का नाश कर दिया जाता।

लेकिन आख़िरी नबी के लिए अल्लाह का यह फ़ैसला हुआ कि अब उनकी क़ौम पर इस तरह की कोई आपदा नहीं आएगी, बल्कि स्वयं नबी और उनके साथियों को उन इंकार करने वालों के सामने खड़ा किया जाएगा जो बाधाएँ पैदा कर रहे हैं, और उनके साथ संघर्ष करके उन्हें विवश किया जाएगा कि वे अल्लाह और उसके बंदों के बीच से हट जाएँ और इस काम में कोई मुश्किल न खड़ी करें।

इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि हिजरत (प्रवास) और सच्चाई को पूरी तरह स्पष्ट करने के बाद, अन्य नबियों की क़ौमों के विपरीत, अरबों पर न कोई पहाड़ टूटा और न ही आकाश से आग बरसी बल्कि रसूल और उनके साथियों का उनके साथ सीधा युद्ध हुआ। इस युद्ध में अल्लाह की विशेष सहायता से रसूल

और उनके साथियों को विजय प्राप्त हुई। इस प्रकार अल्लाह का धर्म एक संगठित राज्य के रूप में अरब प्रायद्वीप में स्थापित हो गया।

इस ऐतिहासिक घटना के कई परिणामों में से एक यह भी था कि नबूवत का संदेश, व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक व्यवस्था तक, हर स्तर से गुज़रा। और हर परिस्थिति के लिए लगातार अल्लाह के आदेश उतरते रहे। अगर ये घटनाएँ न होतीं, तो इस्लामी शरीअत में हर तरह के आदेश नहीं उतर सकते थे। क्योंकि अल्लाह की परंपरा यह है कि वह परिस्थितयों के अनुसार अपने आदेश भेजता है। ऐसा नहीं होता कि सारी बातें एक साथ किताब के रूप में नबी को दे दी जाएँ।

इसी वजह से यह संभव हो सका कि पैग़म्बर का सामना जीवन की हर स्थिति से हो, और वे हर गतिविधि में इस्लामी जीवनशैली का व्यवहारिक नमूना प्रस्तुत कर सकें। इसके बाद समय के विकास के साथ ऐसा हुआ कि नबी को मस्जिद और घर से लेकर युद्ध के मैदान और शासन तक हर स्थान पर खड़ा होना पड़ा। और हर जगह उन्होंने उच्च मानव चरित्र का प्रदर्शन करके क़यामत तक के लोगों के लिए उदाहरण छोड़ दिया।

इसी ऐतिहासिक घटना ने क़ुरान की सुरक्षा की व्यवस्था भी सुनिश्चित की। पिछली अल्लाह की किताबें सुरक्षित नहीं रह सकीं, क्योंकि उनके नबियों के बाद कोई शक्ति नहीं रही जो उन्हें नष्ट होने से रोक सके। लेकिन पैग़म्बर-ए-इस्लाम और उनके साथियों ने अपनी समकालीन क़ौमों से मुकाबला करके पहले अरब और फिर प्राचीन विश्व के बड़े हिस्से पर इस्लाम का प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इस प्रकार अल्लाह की किताब को सत्ता का संरक्षण मिल गया, जो इसकी सुरक्षा की निश्चित गारंटी था। यह व्यवस्था इतनी प्रभावशाली थी कि एक हज़ार वर्षों तक उसमें कोई बदलाव नहीं आ सका। इस्लामी सत्ता के संरक्षण में क़ुरान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सुरक्षित और संरक्षित रूप से पहुँचता रहा। यहाँ तक कि औद्योगिक क्रांति आई और छापाखाने का युग शुरू हुआ, जिसके बाद क़ुरान के नष्ट हो जाने की कोई संभावना नहीं रही।

यह जो सब हुआ, यह आसानी से नहीं हुआ जैसे कि आज हम इसे सीरत (पैग़म्बर की जीवनी) और इतिहास की किताबों में पढ़ लेते हैं। इसके लिए नबी और उनके साथियों को बहुत ही कठिन परेशानियों से गुज़रना पड़ा। न तो नबी को और न ही उनके साथियों को, उनकी इच्छा या विरोधियों की माँग के बावजूद, कोई चमत्कार दिया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्हें अपने अच्छे आचरण और चरित्र को ही चमत्कारों की जगह इस्तेमाल करना पड़ा। जो लोग उन्हें झूठा कहते थे, उनके लिए कोई ज़मीन या आसमान से सज़ा नहीं आई। इस तरह पैग़म्बर को वह काम करने पड़े, जिनके लिए पहले भूकंप आते थे और ज्वालामुखी फूटते थे। भले ही यह तय कर दिया गया कि अब कोई नया नबी नहीं आएगा, फिर भी अल्लाह की किताब (क़ुरान) उन्हें एक साथ नहीं दी गई। इसलिए उनके लिए यह ज़रूरी हो गया कि वे ज़िंदगी की तमाम परिस्थितियों और कठिनाईयों का सामना करें, ताकि जीवन की हर परिस्थिति के बारे में उनके लिए अल्लाह का आदेश उतर सके।

इस पूरे समय में, नबी और उनके साथियों को बहुत कठिन परीक्षा से गुज़रना पड़ा, जिसे क़ुरान में "बहुत बड़ा हिला देने वाला झटका" (क़ुरान, 33:11) कहा गया है। नबी को सबसे सख्त आदेश था कि ख़ुदा की बात न मानने वालों से ज़रा भी प्रभावित न हो, वरना तुम्हें दुगनी सज़ा दी जाएगी (क़ुरान, 17:74-75)। चाहे हालात कितने भी कठिन क्यों न हों, आपके साथियों को किसी भी हालत में पीछे हटने की इजाज़त नहीं थी (क़ुरान, 9:120), यानी अल्लाह के रास्ते में संघर्ष करने से पीछे नहीं हटना। आपकी पत्नियों ने अगर दो वक्त की रोटी की भी माँग की, तो उन्हें यह साफ जवाब मिला कि नबी की संगत या दुनियावी आराम—इन दोनों में से किसी एक को चुन लो (क़ुरान, 33:28)।

सच बात तो यह है कि मुहम्मद (सल्ल०) की पैग़मबरी को सफल बनाना इंसानी इतिहास का सबसे कठिन काम था। और यह सब इतने कठिन हालात में हुआ कि खुद नबी की ज़बान से निकला: "इस रास्ते में मुझे इतना सताया गया जितना किसी और नबी को नहीं सताया गया।" आपकी पत्नी ने गवाही दी कि लोगों ने

आपको कुचल दिया था (ह़तमहुन-नासु – *सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 732)। आख़िरी नबी और उनके साथियों ने न केवल दुनियावी आराम छोड़ दिए, बल्कि ज़िंदगी की ज़रूरी चीज़ों से भी खुद को वंचित कर लिया। तब जाकर यह मुमकिन हो सका कि इतिहास में उस नबूवत का दौर शुरू हो, जिसे "सारे संसार के लिए रहमत" कहा गया।

नबी (सल्ल०) का यही वो सबसे बड़ा उपकार है जो उन्होंने बाद की नस्लों पर किया, जिसकी वजह से हमेशा के लिए उन पर दुआओं और सलाम भेजने का हुक्म दिया गया है। इस कठिन मिशन में चूँकि आपके परिवार ने आपका पूरा साथ दिया और आपके साथी इस परीक्षा भरे संघर्ष में सच्चे और धैर्यवान साबित हुए, इसलिए नबी के साथ-साथ उनके परिवार और साथियों पर भी रहमत और सलाम भेजने का आदेश दिया गया है। जब कोई व्यक्ति किसी पर उपकार करता है तो इंसानी स्वभाव कहता है कि उसका धन्यवाद किया जाए। दरूद और सलाम उसी तरह की एक बड़ी दुआ है, जो उस उपकार को स्वीकार करने का तरीक़ा है। हदीस में कहा गया है: "वो कंजूस है, जिसके सामने मेरा ज़िक्र किया जाए और वह मुझ पर दरूद न भेजे।" (*सुनन-अल-तिर्मिज़ी*, हदीस संख्या 3546)

(ऐ अल्लाह! हमारे सरदार मुहम्मद और उनके परिवार व साथियों पर भलाई और सलाम भेज।)

सबसे बड़ा करिश्मा — क़ुरान

इस्लाम की तारीख़ से पता चलता है कि हर पैग़म्बर को अल्लाह की तरफ़ से एक करिश्मा (चमत्कार) दिया गया और आख़िरी पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद को अल्लाह की तरफ़ से दिया जाने वाला चमत्कार क़ुरान है। जो पैग़म्बर क़यामत (अंतिम दिन) तक के लिए भेजा गया, उसको दिया जाने वाला चमत्कार भी हमेशा रहने वाला होना चाहिए था। अल्लाह ने क़ुरान को आख़िरी पैग़म्बर का सदा रहने वाला चमत्कार बना दिया।

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के विरोधी लगातार यह मांग करते थे कि पिछले नबियों (पैग़म्बरों) की तरह आप भी कोई चमत्कार दिखाइए। क़ुरान में साफ़ कहा गया कि इस नबी के लिए पहले नबियों जैसा कोई चमत्कार नहीं भेजा जाएगा (क़ुरान, 17:59)। यहाँ तक कि क़ुरान में कहा गया — "अगर आपको इनका मुंह मोड़ना भारी लगता है (और आप इनके लिए कोई चमत्कार चाहते हैं) तो अगर आप कर सकें तो ज़मीन में कोई सुरंग बनाएं या आसमान में कोई सीढ़ी लगाएं और कोई चमत्कार लाकर इन्हें दिखायें। अगर अल्लाह चाहता तो सबको सीधा रास्ता दिखा देता, इसलिए आप अज्ञानियों में से मत बनो" (क़ुरान, 6:35)।

इसके विपरीत कहा गया कि यह क़ुरान जो उतारा गया है, वही अल्लाह की तरफ़ से चमत्कार है—

> "और वे कहते हैं कि उस पर उसके रब की तरफ़ से निशानियाँ क्यों नहीं उतारी गईं। कहो कि निशानियाँ तो अल्लाह के पास हैं। और मैं सिर्फ़ खोल कर सुना देने वाला हूं। क्या उनके लिए यह काफ़ी नहीं है कि हमने तुम पर किताब उतारी जो उन्हें पढ़कर सुनाई जाती है। बेशक इसमें रहमत और नसीहत है उन लोगों के लिए जो मानने वाले हैं।" (क़ुरान, 29:50-51)

क़ुरान के चमत्कार होने के कई पहलू हैं। यहाँ हम विशेष रूप से इसके तीन पहलुओं का ज़िक्र करेंगे:

(1) सामान्य भाषा के इतिहास के विपरीत, क़ुरान की भाषा का आज भी जीवित भाषा के रूप में बाक़ी रहना।

(2) धार्मिक किताबों के इतिहास में यह अनोखापन कि क़ुरान के मूल शब्दों में कोई फ़र्क नहीं हो सका।

(3) क़ुरान की चुनौती के बावजूद किसी के लिए इसका जवाब देना मुमकिन न होना — यानी कोई भी क़ुरान जैसी किताब नहीं लिख सका।

दुनिया में जितनी भी पुरानी किताबें आज मौजूद हैं, उनमें क़ुरान एक हैरान कर देने वाली अल्लाह की किताब है। सभी धार्मिक किताबों की मूल भाषाएं इतिहास के पन्नों में बंद हो चुकी हैं, लेकिन क़ुरान की भाषा (अरबी) आज भी पूरी तरह जीवित है। आज भी करोड़ों लोग उसी भाषा को लिखते और बोलते हैं जिसमें लगभग पंद्रह सौ साल पहले क़ुरान उतरा था। यह बात क़ुरान के एक चमत्कारी किताब होने का पक्का सबूत है, क्योंकि क़ुरान के अलावा पूरी मानवता के इतिहास में कोई दूसरी किताब ऐसी नहीं है जिसने अपनी मूल भाषा को इतने लंबे समय तक ज़िंदा रखा हो।

उदाहरण के लिए, बाइबल को लीजिए जो क़ुरान के बाद सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध धार्मिक किताब मानी जाती है। इसका हाल यह है कि आज तक यह यक़ीनी तौर पर पता नहीं कि हज़रत ईसा (अलैहिस्सलाम) कौन-सी भाषा बोलते थे। अंदाज़े से कहा जाता है कि शायद उनकी भाषा "आरामी" थी। लेकिन बाइबल के रूप में जो शिक्षाएँ आज हमारे पास हैं, उसका सबसे पुराना रूप यूनानी (ग्रीक) भाषा में पाया जाता है। यानी हज़रत ईसा की बातें हमारे पास सिर्फ़ अनुवाद की शक्ल में हैं। फिर यह यूनानी भाषा भी पुरानी और नई यूनानी से बिल्कुल अलग है। यहाँ तक कि उन्नीसवीं सदी के आख़िर तक नये नियम (New Testament) में लगभग 550 शब्द ऐसे थे जिनके अर्थ किसी को नहीं पता थे। उन्नीसवीं सदी में एक जर्मन विद्वान अडॉल्फ डाइज़मैन (Adolf Deissmann) ने मिस्र में कुछ प्राचीन लिखाइयाँ पाईं। उन्हें पढ़ने के बाद उसने अंदाज़ा लगाया कि "बाइबल की यूनानी" दरअसल प्राचीन यूनानी की एक ग़ैर-शैक्षणिक बोली थी जो पहली सदी में फ़िलिस्तीन के आम लोगों में चलन में थी। उसने कुछ अज्ञात शब्दों के अर्थ तय किए। लेकिन आज भी यूनानी बाइबल में लगभग 50 शब्द (कुल पाठ का लगभग 1%) ऐसे हैं जिनके अर्थ अब भी अज्ञात हैं।

Xavier Leon-Dufour की पुस्तक *The Gospels and The Jesus of History* (1970) में पृष्ठ 79-80 पर यह विवरण मिलता है।

एर्नेस्ट रेन्नां (1823–1892) ने अरबी भाषा का अध्ययन करते हुए अपनी किताब (सेमिटिक भाषाएं) में लिखा:

> "मानव इतिहास की सबसे आश्चर्यजनक घटना अरबी भाषा है। यह भाषा प्राचीन इतिहास में एक अनजान भाषा थी, फिर अचानक वह एक सम्पूर्ण भाषा के रूप में सामने आई। इसके बाद से इसमें कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं हो सका — न इसका कोई बचपन है और न बुढ़ापा। वह जैसी शुरुआत में थी, वैसी ही आज भी है।"

क़ुरान की भाषा के बारे में एक फ्रांसीसी विद्वान का यह स्वीकारना, वास्तव में क़ुरान के चमत्कारी होने को स्वीकारना है। क्योंकि सच्चाई यह है कि यही क़ुरान की चमत्कारी साहित्यिकता है जिसने अरबी को उस आम ऐतिहासिक नियम से अलग कर दिया जो हर दूसरी भाषा पर लागू हुआ। ईसाई विद्वान जुर्जी ज़ैदान (1861–1914) ने इसे इन शब्दों में स्वीकार किया:

> "सार रूप में, क़ुरान ने अरबी भाषा के साहित्य पर जो असाधारण प्रभाव डाला है, उसकी मिसाल किसी और धार्मिक किताब की किसी अन्य भाषा में नहीं मिलती।" (*तारीख़ आदाब अल-लुग़ात अल-अरबिया*, पृष्ठ 393)

यह एक सच्चाई है कि दुनिया की सभी भाषाएं समय के साथ बदलती रही हैं। यहाँ तक कि किसी भाषा के आज के विद्वान भी उस भाषा की कुछ सौ साल पुरानी किताब को बिना शब्दकोश या व्याख्या के नहीं समझ सकते। यह बदलाव दो मुख्य कारणों से होता है: एक, सामाजिक क्रांतियाँ; दूसरा, साहित्यिक विकास। अरबी भाषा के साथ भी बीते कई सौ सालों में यह दोनों चीज़ें उसी तीव्रता से पेश आईं जैसी और भाषाओं के साथ होती हैं, लेकिन ये बदलाव भी इस भाषा की मूल बनावट को नहीं बदल सके। अरबी भाषा आज भी वही है जो क़ुरान के उतरने के समय मक्का में बोली और समझी जाती थी। होमर (850 ईसा-पूर्व) की इल्याड, तुलसीदास (1623) की रामायण, और शेक्सपियर (1564–1616) के नाटक मानव साहित्य की महान रचनाएं मानी जाती हैं और ये आज भी पढ़ी जाती हैं, लेकिन वे अपनी मूल भाषाओं को उसी रूप में सुरक्षित नहीं रख सकीं

जिसमें वे लिखी गई थीं। उनकी भाषाएं अब शास्त्रीय (क्लासिकल) मानी जाती हैं, न कि जीवित भाषाएं। भाषाओं के इतिहास में सिर्फ़ क़ुरान ही एकमात्र उदाहरण है जिसने हर तरह के बौद्धिक और राजनीतिक उतार-चढ़ाव के बावजूद अपनी भाषा को उसी रूप में बाक़ी रखा जिसमें वह क़ुरान के उतरने के समय थी। इंसानी समाज की कोई भी तब्दीली इसमें बदलाव नहीं ला सकी। यह तथ्य इस बात का पक्का प्रमाण है कि क़ुरान एक ऊँचा और चमत्कारी शब्द है। पिछले पंद्रह सौ साल की पूरी तारीख़ इस बात को निश्चित रूप से साबित कर चुकी है कि क़ुरान एक चमत्कार है। अब इसकी चमत्कारी विशेषता को साबित करने के लिए किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

सामाजिक बदलाव

सामाजिक बदलाव भाषाओं पर किस तरह असर डालते हैं, इसे समझने के लिए लैटिन भाषा का उदाहरण लीजिए। लैटिन का केंद्र बाद के समय में भले ही इटली बना, लेकिन असल में यह भाषा इटली की अपनी नहीं थी। लगभग 1200 साल ईसा पूर्व, जब लोहे का ज़माना शुरू हुआ, तो मध्य यूरोप के क़बीलों ने आसपास के इलाक़ों की तरफ़ फैलना शुरू किया। इन क़बीलों में से कुछ, खासकर आल्प्स पर्वत के क़बीलों ने इटली में प्रवेश किया और रोम तथा उसके आस-पास बस गए। उनकी बोली और वहां की स्थानीय बोली के मिलन से जो भाषा बनी, वही शुरुआती लैटिन भाषा थी। तीसरी सदी ईसा पूर्व में, लिवियस एंड्रोनिकस ने यूनानी भाषा के कुछ नाटकों और कहानियों का अनुवाद लैटिन में किया। इस तरह लैटिन भाषा ने साहित्यिक भाषा के युग में प्रवेश किया। पहली सदी ईसा पूर्व में जब रोमन साम्राज्य बना, तो उसने लैटिन को अपनी सरकारी भाषा बना लिया। ईसाई धर्म के फैलाव से भी इसे मज़बूती मिली। इस तरह धर्म, राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था के बल पर इसकी तरक्क़ी होती रही। यहां तक कि यह भाषा पुराने यूरोप के लगभग पूरे हिस्से में फैल गई। सेंट ऑगस्टीन (354–430 ई.) के समय में लैटिन अपने शिखर पर थी। मध्य युग में लैटिन भाषा को दुनिया की सबसे बड़ी अंतरराष्ट्रीय भाषा माना जाता था।

आठवीं सदी में मुस्लिम समुदायों का उदय हुआ और उन्होंने रोमन साम्राज्य को तोड़कर उसे कॉन्स्टैन्टिनोपल में शरण लेने को मजबूर कर दिया। 1453 में तुर्कों ने कॉन्स्टैन्टिनोपल को जीत लिया और वहां से भी उसका अंत कर दिया।

हज़ार साल पहले जब रोमन साम्राज्य टूटा, तो अलग-अलग क्षेत्रीय बोलियों को उभरने का मौक़ा मिला। यही बोलियाँ, लैटिन के मेल के साथ बाद में वो भाषाएँ बन गईं जिन्हें आज हम फ्रेंच, इटालियन, स्पेनिश, पुर्तगाली और रोमन भाषाएँ कहते हैं। अब लैटिन भाषा सिर्फ रोमन चर्च की पूजा की भाषा है और विज्ञान और क़ानून की शब्दावली में इस्तेमाल होती है। अब यह कोई जीवित भाषा नहीं है, बल्कि इसकी पहचान ऐतिहासिक है। उदाहरण के तौर पर, न्यूटन (1642–1727) की प्रिंसिपिया अगर कोई असली भाषा में पढ़ना चाहे तो उसे प्राचीन लैटिन भाषा सीखनी पड़ेगी।

यही हाल सभी पुरानी भाषाओं के साथ हुआ है। हर भाषा अलग-अलग सामाजिक हालात के असर में बदलती रही। यहां तक कि शुरू की भाषा ख़त्म हो गई और उसकी जगह दूसरी बदली हुई भाषा ने ले ली। जातीय मेल-जोल, सभ्यताओं की टक्कर, राजनीतिक बदलाव, समय का परिवर्तन—जब भी किसी भाषा के साथ ये घटनाएं घटी हैं, तो वह पूरी तरह से बदल गई है। यही सब हालात पिछले डेढ़ हज़ार सालों में अरबी भाषा के साथ भी आए। लेकिन हैरानी की बात है कि अरबी भाषा में कोई बदलाव नहीं हुआ। इस लगातार बदलती भाषाई दुनिया में अरबी का अपनी असली हालत पर बाक़ी रहना पूरी तरह क़ुरान का चमत्कार है।

70 ईस्वी में यहूदी क़बीले शाम (सीरिया) से निकलकर यस्रिब (मदीना) आए। यहां उस समय अमालिक़ा नाम की जाति बसी हुई थी, जिनकी भाषा अरबी थी। अमालिक़ा के साथ मेल-जोल के बाद यहूदी नस्लों की भाषा अरबी बन गई। हालांकि उनकी अरबी आम अरबों की भाषा से अलग थी। वह इब्रानी और अरबी का एक मिश्रण थी। यही घटना इस्लाम के बाद अरबों के साथ बड़े पैमाने पर हुई, जब वे अपने देश अरब से निकलकर एशिया और अफ्रीका के उन देशों में पहुंचे जहां दूसरी भाषाएँ बोली जाती थीं। लेकिन इस मेल-जोल का कोई असर उनकी भाषा पर नहीं पड़ा। अरबी हमेशा अपनी असली स्थिति में सुरक्षित रही।

क़ुरान के आने के बाद अरबी भाषा के लिए ऐसा पहला मौक़ा खुद शुरुआती इस्लामी दौर में आया। इस्लाम अरब के अलग-अलग क़बीलों में फैला। वे लोग इस्लामी शहरों में एक जगह बसने लगे। अलग-अलग क़बीलों की बोलियाँ उच्चारण, लहजे आदि के मामले में काफी अलग थीं। अबू अम्र बिन अल-अला को कहना पड़ा था: "क़बीला हिम्यर की भाषा हमारी भाषा नहीं है और उनकी बोली हमारी बोली से अलग है" (*मोजम मतन अल-लुग़ा*, शेख़ अहमद रज़ा, खण्ड 1, पृष्ठ 40)।

एक बार हज़रत उमर ने एक सहाबी को क़ुरान पढ़ते हुए सुना तो उन्हें पकड़कर रसूल अल्लाह के पास ले गए, क्योंकि वे क़ुरान की आयतों को इतने अलग तरीक़े से पढ़ रहे थे कि हज़रत उमर यह नहीं समझ सके कि वह क़ुरान का कौन-सा हिस्सा पढ़ रहे हैं (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 296–297)। इसी तरह, एक बार रसूल अल्लाह ने एक अरब क़बीले के प्रतिनिधिमंडल से उनकी अपनी बोली में बातचीत की, तो हज़रत अली को ऐसा लगा जैसे आप कोई दूसरी भाषा बोल रहे हों।

इसका बड़ा कारण उच्चारणों का अंतर था। जैसे, बनू तमीन जो पूर्वी नज्द में रहते थे, वे "ज" का उच्चारण "य" से करते थे। वे "मस्जिद" को "मसीद" और "शजरात" को "सरात" कहते थे। इसी तरह बनू तमीन "क़" को "ज" बोलते थे। जैसे "तरीक़" को "तरीज", "सिद्दीक़" को "सिद्दीज", "क़दर" को "जदर", और "क़ासिम" को "जासिम" कहते थे। इस तरह अलग-अलग क़बीलों के मिलने से भाषाई इतिहास के सामान्य नियम के अनुसार एक नया बदलाव शुरू होना चाहिए था, जो अंततः एक नई भाषा के बनने तक चल सकता था। लेकिन क़ुरान की श्रेष्ठ भाषा ने अरबी को इस तरह अपने प्रभाव में ले रखा था कि उसमें इस तरह का बदलाव शुरू ही नहीं हो सका। इसके उलट, वह घटना घटी जिसे डॉक्टर अहमद हसन ज़य्यात (1885–1968) ने इन शब्दों में बताया है:

> "इस्लाम के बाद मुज़र (क़बीला) की भाषा सिर्फ एक जाति की भाषा नहीं रही, बल्कि उन सभी जातियों की भाषा बन गई जो ख़ुदा के धर्म में दाखिल हुए थे।"

फिर ये अरब मुसलमान अपने देश से बाहर निकले। उन्होंने एक ओर जिब्राल्टर (Gibraltar) तक और दूसरी ओर काशगर (Kashgar) तक जीत हासिल कर ली। इन इलाकों में अलग-अलग भाषाएँ बोली जाती थीं। वहाँ लोग फ़ारसी, क़िब्ती, बर्बरी, इब्रानी, सिरियानी, यूनानी, लातिनी, और आरामी भाषाएँ बोलते और लिखते थे। इनमें कुछ जातियाँ ऐसी थीं जो अपने राजनीतिक व्यवस्था और सभ्यता में अरबों से कहीं आगे बढ़ी हुई थीं। वे इराक़ में दाखिल हुए, जो एक बहुत पुरानी सभ्यता का केंद्र था और जहाँ कई बड़ी जातियों का मिलन होता रहा था। उनका मेल मिलाप ईरान से हुआ, जो उस समय की दो सबसे बड़ी ताक़तों में से एक था। उनका सामना रोमी संस्कृति और ईसाई धर्म से हुआ, जिसे बहुत श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो चूका था। फिर वो शाम (सीरिया) पहुंचे, जहाँ फिनीकी, कनआनी, मिस्री, यूनानी, और गस्सानी जातियों ने अपने तौर-तरीकों के गहरे प्रभाव छोड़े थे। उनका मुकाबला मिस्र से हुआ, जहाँ पूरब और पश्चिम के विचार मिलते थे। ये सारी वजहें इस बात के लिए काफी थीं कि अरबी में एक नया बदलाव शुरू हो और पुरानी भाषा में नए असर जुड़कर एक नई भाषा बन जाए—जैसा कि दूसरी भाषाओं के साथ हुआ। मगर इतने बड़े भाषाई भूचाल के बावजूद, क़ुरान इस भाषा के लिए एक श्रेष्ठ मापदंड बन गया, जिसने बाक़ी सभी असर को बेअसर कर दिया।

इस्लाम की फुतूहात (विजयों) के बाद अरबी भाषा सिर्फ एक देश की भाषा नहीं रही, बल्कि कई दर्जन देशों और जातियों की भाषा बन गई। एशिया और अफ्रीका की ग़ैर-अरबी जातियों ने जब इस्लाम अपनाया, तो उनकी भाषा भी धीरे-धीरे अरबी होती गई। स्वाभाविक रूप से इन विदेशी लोगों में अरबी बोलने की वह कुशलता नहीं थी, जो खुद अरबों में थी। उनकी भाषा में उनकी पुरानी भाषाओं के असर से कई गलतियाँ आ गईं। और यही नहीं, खुद उन अरबों में भी, जो बहुत जागरूक नहीं थे, धीरे-धीरे वे इन जातियों से असर लेने लगे। यहाँ तक कि खुद उनकी भाषा भी बदलने लगी। बड़े-बड़े शहरों में ये गलतियाँ सबसे ज़्यादा थीं, क्योंकि वहाँ कई अलग-अलग जातियों के लोग रहते थे। यह गड़बड़ी बढ़ते-बढ़ते पढ़े-लिखे और असरदार लोगों तक पहुँच गई।

ज़ियाद बिन उमय्या (623–673 ई.) के दरबार में एक बार एक व्यक्ति आया और बोला: "तुवुफ़्फ़िया अबाना व-तरका बनून" (हमारा पिता मर गया और संतानों को छोड़ गया)। अरबी व्याकरण के अनुसार, इस वाक्य में "अबाना" की जगह "अबूना" और "बनून" की जगह "बनीन" होना चाहिए था। उस समय इस तरह की अनगिनत भाषाई गड़बड़ियाँ फैल गई थीं। अन्य पुरानी भाषाओं के साथ जो कुछ हुआ, वही अरबी के साथ भी होना था। लेकिन यहाँ भी क़ुरान की भाषा की ऊँचाई, अरबी भाषा के लिए एक ढाल बन गई और अरबी की वही शक्ल बनी रही जो क़ुरान ने तय कर दी थी।

ऐसी कई घटनाएँ, जो अरबी की पिछले लगभग डेढ़ हज़ार साल की कहानी में बार-बार हुई हैं, क़ुरान के एक चमत्कार होने का खुला सबूत हैं। क्योंकि यह सब कुछ सिर्फ क़ुरान की महानता का ही असर था, जिसने अरबी को किसी बड़े बदलाव का शिकार नहीं बनने दिया।

दूसरी सदी हिजरी में उमवी (बनी उमय्या) हुकूमत का अंत और अब्बासी शासन की शुरुआत अरबी भाषा के लिए एक बड़ा इम्तिहान था। बनी उमय्या की हुकूमत पूरी तरह से अरबी हुकूमत थी। उमय्यद शासक अरबी जातीयता और अरबी भाषा-साहित्य के समर्थन में इतने ज़्यादा पक्षपाती थे कि वे हद से गुजर जाते थे। उन्होंने अपनी राजधानी दमिश्क़ को बनाया था, जो अरब गांवों की सीमा पर स्थित था। उनकी सेना, सरकारी कर्मचारी और अधिकारी सभी अरब ही हुआ करते थे। लेकिन अब्बासी हुकूमत में ईरानियों का प्रभुत्व हो गया। अब्बासियों ने ईरानियों की मदद से ही बनी उमय्या सरकार को हटाया था, इसलिए उनकी व्यवस्था में ईरानी लोगों का शामिल होना ज़रूरी हो गया था। यहाँ तक कि अब्बासियों ने राजधानी बग़दाद को बनाया, जो ईरान के बहुत पास था। उन्होंने ईरानियों को इतनी छूट दी कि वे सरकार के सभी कामों में स्वतंत्र रूप से शामिल हो गए। उन्होंने अरबी और अरबी संस्कृति को तुच्छ समझा और जानबूझ कर उसे कमज़ोर करने की कोशिशें शुरू कर दीं। अरब लोगों की प्रधानता में कमी आते ही ईरानी, तुर्की, सिरियानी, रोमी और बर्बरी तत्व शासन और समाज के

हर हिस्से में छा गए। अरबों और ग़ैर-अरबों में रिश्ते बनने लगे। आर्य संस्कृति और सेमिटिक (यहूदी-अरबी) संस्कृति के मिलने से भाषा और संस्कृति में एक नया बदलाव आ गया। पुराने साम्राज्य के वंशज और जागीरदारों के बेटे फिर से उभरने लगे। उन्होंने अपने पूर्वजों की संस्कृति को फिर से ज़िंदा करने की कोशिशें शुरू कर दीं।

इन घटनाओं का अरबी भाषा पर बहुत गहरा असर पड़ा। मुतनब्बी (915–965 ई.) के समय में अरबी की जो हालत हो चुकी थी, उसका अंदाज़ा उसके कुछ शेरों से होता है:

> "शअब-ए-बवान (ईरान) के मकान खूबसूरती में सभी मकानों से ऐसे बेहतर हैं जैसे सभी मौसमों में बसंत का मौसम।
>
> लेकिन इस बस्ती में एक अरबी युवक (मैं), अपने चेहरे, हाथ और भाषा के लिहाज़ से एकदम अजनबी है।
>
> पैग़म्बर सुलैमान (जो जानवरों तक की बोलियाँ समझते थे) के अधीन जिन्नात थे, अगर यहाँ आएं, तो उन्हें अपने साथ अनुवादक रखना पड़ेगा।"
>
> (*शरह दीवान अल-मुतनब्बी*, बेरूत, 1938, पृष्ठ 384)

तुर्कों और कुर्दों ने भी इस मामले में ईरानियों की नक़ल की। लेकिन क़ुरान की साहित्यिक ऊँचाई अरबी भाषा के लिए ढाल बनी रही। इस तरह की कोशिशों से कुछ समय के लिए हलचल ज़रूर हुई, लेकिन वह जल्द ही थम गई और अरबी भाषा में कोई स्थायी बदलाव नहीं हो सका।

ख़लीफ़ा मुतवक्किल (207-247 हिजरी) के बाद विदेशी जातियाँ — ईरानी और तुर्क — अरब क्षेत्रों में बहुत अधिक दखल देने लगीं। 656 हिजरी में हलाकू ख़ाँ ने बग़दाद की हुकूमत को तबाह कर दिया। 898 हिजरी में अंदलुस की अरब हुकूमत को यूरोपीय देशों ने समाप्त कर दिया। 923 हिजरी में मिस्र और शाम से फ़ातिमी हुकूमत का अंत हो गया और इन अरब इलाकों की सरकार उसमानी

तुर्कों के क़ब्ज़े में चली गई। इस्लामी हुकूमत की राजधानी अब क़ाहिरा के बजाय कुस्तुंतुनिया (इस्तांबुल) हो गई। सरकारी भाषा अरबी के बजाय तुर्की बना दी गई। अरबी भाषा में बाहरी भाषाओं के शब्द और ढंग बड़ी मात्रा में आने लगे।

अरब दुनिया पर पाँच सौ से ज़्यादा साल ऐसे गुज़रे जब सारी अरब धरती विदेशी बादशाहों के झंडे के नीचे रही। यहाँ तक कि मुग़ल, तुर्क और ईरानी शासक अरब के निशानों तक को मिटाने पर तुले रहे। अरबी के पुस्तकालय (कुतुब-ख़ाने) जलाए गए, मदरसे उजाड़े गए, विद्वानों को अपमानित किया गया। उसमानी हुकूमत ने अपनी पूरी ताक़त के साथ अरबों को तुर्क बनाने की वह कोशिश की जिसे जमालुद्दीन अफ़ग़ानी ने बिल्कुल ठीक तौर पर "अरबों को तुर्क बनाना" कहा है। मगर इनमें से कोई भी घटना अरबी भाषा में कोई स्थायी बदलाव नहीं ला सकी। बग़दाद और बुख़ारा में तातारियों ने, शाम में ईसाई सेनाओं ने और अंदलुस में यूरोपीय देशों ने अरबी भाषा, साहित्य और संस्कृति को जो नुकसान पहुँचाया, वे अरबी भाषा को मिटाने के लिए पूरी तरह काफ़ी थे। इसके बाद, दूसरी भाषाओं के इतिहास की तरह, यह होना चाहिए था कि अरबी भाषा अपनी अन्य सामी भाषाओं में मिल जाती। यह कहना ठीक होगा कि अगर तुर्कों की अज्ञानता और ईरानियों का पक्षपात बीच में न होता, तो आज अरबी भाषा दुनिया भर के मुसलमानों की एकमात्र भाषा होती। फिर भी जहां तक अरब इलाकों की बात है, वहां इसका अपनी पुरानी शान के साथ बाक़ी रहना पूरी तरह क़ुरान का चमत्कार था। क़ुरान की महानता ने लोगों को इस दौरान मजबूर किया कि वे अरबी भाषा से अपना संबंध सरकार और सत्ता के विरोध के बावजूद बनाए रखें। यही वजह है कि उस ज़माने में भी बहुत से ऐसे लोग पैदा हुए जिन्होंने अरबी भाषा और साहित्य की सेवा की। उदाहरण के लिए, इब्न मंज़ूर (630-711 ई.) और इब्न खलदून (732-808 हिजरी)।

नेपोलियन (1769-1821 ई.) के 1798 ई. में क़ाहिरा में प्रवेश के बाद जब मिस्र में छापाख़ाना आया और शिक्षा का दौर शुरू हुआ तो अरबी भाषा को एक नई ज़िंदगी मिली। लेकिन पिछले सैकड़ों वर्षों की हालत ने यह स्थिति बना दी थी कि मिस्र और शाम के दफ्तरों की भाषा तुर्की और अरबी का एक मिश्रण बन गई थी।

1882 में मिस्र पर अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े के बाद फिर स्थिति बदली। उन्होंने अरबी के ख़िलाफ़ अपनी पूरी ताक़त झोंक दी। सारी पढ़ाई अंग्रेज़ी के माध्यम से अनिवार्य कर दी गई। अलग-अलग भाषाएँ सिखाने वाले संस्थान बंद कर दिए गए। इसी तरह जिन अरब क्षेत्रों पर फ्रांसीसी हुकूमत आई, वहां उन्होंने फ्रेंच को फैलाया। लेकिन लगभग सौ साल तक अंग्रेज़ी और फ्रेंच भाषाओं के प्रभाव के बावजूद अरबी भाषा अपनी असली स्थिति में बनी रही। इसमें शब्दों की संख्या ज़रूर बढ़ी। उदाहरण के लिए, टैंक के लिए "दब्बाबा" शब्द प्रचलित हुआ जो पहले एक साधारण युद्ध-यंत्र (गोलाबारी यंत्र) के लिए बोला जाता था। इसी तरह बहुत से विदेशी शब्द अरबी रूप लेकर आम हो गए, जैसे "दुक्तूर" (डॉक्टर)। मगर इससे मूल भाषा में कोई बदलाव नहीं आया। असली भाषा आज भी वही है जो क़ुरान के उतरने के समय मक्का में प्रचलित थी।

साहित्यिक विकास

भाषाओं में बदलाव का दूसरा कारण लेखकों और साहित्यकारों की कोशिशें हैं। जब भी कोई असाधारण लेखक या साहित्यकार पैदा होता है, वह भाषा को खींचकर एक नई भाषा-शैली की ओर ले जाता है। इस तरह भाषा बदलाव और विकास के दौर से गुज़रती रहती है, और बदलते-बदलते कुछ से कुछ हो जाती है। लेकिन अरबी भाषा में इसके उलट यह हुआ कि क़ुरान ने पहले ही दिन एक ऐसा ऊँचा स्तर पेश कर दिया कि किसी इंसानी लेखक के लिए यह मुमकिन नहीं हो सका कि वह उससे ऊपर जा सके। इस कारण अरबी भाषा उसी शैली पर टिकी रही जो क़ुरान ने इसके लिए तय कर दी थी। दूसरे शब्दों में, अरबी भाषा में क़ुरान के बाद कोई दूसरा "क़ुरान" नहीं लिखा जा सका। इसलिए यह भाषा भी क़ुरानी भाषा के अलावा कोई और रूप नहीं ले सकी।

अब अंग्रेज़ी भाषा का उदाहरण लीजिए। सातवीं सदी ईसवी में यह एक मामूली स्थानीय बोली थी जिसमें किसी गहरे विचार को ज़ाहिर करना मुमकिन नहीं था। पाँच सौ साल से भी ज़्यादा समय तक यही हाल रहा। जब अंग्रेज़ी भाषा का

पहला बड़ा लेखक जॉफ़्रे चॉसर (Geoffrey Chaucer) पैदा हुआ, उस समय इंग्लैंड की दरबारी भाषा फ्रेंच थी। चॉसर, जो लैटिन, फ्रेंच और इटैलियन भाषाएं जानता था, ने अंग्रेज़ी में कविताएं लिखीं। अपनी असाधारण समझ और अन्य भाषाओं के ज्ञान की वजह से वह इसमें सफल हुआ कि अंग्रेज़ी बोली को आगे बढ़ाए और इसे एक ज्ञान की भाषा बनाए। अर्नेस्ट हॉउज़र (Ernest Hauser) के शब्दों में, उसने अपनी सफल कविताओं के ज़रिए अंग्रेज़ी को एक मज़बूत बढ़ावा (फर्म बूस्ट) दिया। उसने आवामी बोली को एक शक्तिशाली भाषा बना दिया जिसमें आगे बढ़ने की संभावनाएं छिपी थीं (रीडर्स डाइजेस्ट, जून 1975)।

दो सौ साल तक चॉसर अंग्रेज़ी लेखकों और कवियों के लिए मार्गदर्शक बना रहा। फिर विलियम शेक्सपियर (1558-1625) आया, जिसने चॉसर से भी अधिक उत्कृष्ट साहित्य पेश किया। अपनी कविताओं और नाटकों के ज़रिए उसने अंग्रेज़ी को फिर से एक नया स्तर दिया। अब अंग्रेज़ी भाषा एक क़दम और आगे बढ़ी और विकास की नई राह पर चल पड़ी। यह दौर लगभग सौ साल तक रहा, जब तक कि विज्ञान के आने से ज़िंदगी के दूसरे क्षेत्रों की तरह साहित्य में भी नए मानक बनने लगे। अब कविता की जगह गद्य (prose) और क़िस्सागोई की जगह सच्ची घटनाओं को महत्व मिलने लगा। इसके प्रभाव से अंग्रेज़ी में वैज्ञानिक शैली सामने आई। जोनाथन स्विफ्ट (Jonathan Swift, 1667-1745) से लेकर टी. एस. एलियट (T.S. Eliot, 1888-1965) तक दर्जनों लेखक पैदा हुए जिन्होंने भाषा को वह नया स्तर दिया जो आज हमारे सामने है।

यही प्रक्रिया हर भाषा में हुई है। एक के बाद दूसरा अधिक अच्छा लेखक या लेखकों का समूह सामने आता है और वह भाषा को नई शैली देकर नए दौर की ओर ले जाता है। इस तरह भाषा बदलती रहती है, यहाँ तक कि कुछ सदियाँ बीत जाने के बाद इतना फ़र्क आ जाता है कि बाद के लोग बिना शब्दकोश या व्याख्या के पहले की भाषा को समझ ही नहीं सकते।

इस नियम से केवल एक भाषा अलग है — वह है अरबी। यही बात क़ुरान के इस दावे के लिए काफ़ी है कि कोई इंसान क़ुरान जैसी किताब नहीं बना सकता।

निस्संदेह इसका एक प्रमाण यह भी है कि पिछले कई सौ सालों में बहुत से लोगों ने क़ुरान के जवाब में कोई दूसरी किताब लिखने की कोशिश की, लेकिन सभी नाकाम रहे। जैसे — मुसैलमा बिन हबीब, तुलैहा बिन खुवैलिद, नज़र बिन हारिस, इब्न अल-रावंदी, अबू अल-आला अल-मआर्री, इब्न अल-मुक़फ़्फ़ा, मुतनब्बी वगैरह। इस सिलसिले में जो बातें उनकी ओर से पेश की गई हैं, वे इतनी निम्न-स्तरीय हैं कि उन्हें क़ुरान के मुक़ाबले रखना भी मज़ाक लगता है। जैसे, मुसैलमा के "क़ुरान" का एक हिस्सा यह था:

> "ऐ मेंढकी, तू मेंढकों की बेटी है, जितना टर्रा सकती है टर्राओ, न तू पानी को गंदा करती है, न पीने वालों को रोकती है।" (*अल-बिदायह व अन-निहायह*, खण्ड 9, पृष्ठ 473)

इसी तरह मुसैलमा की एक और "प्रेरणा" यह थी:

> "निस्संदेह अल्लाह ने गर्भवती औरत पर बड़ा एहसान किया, उसके अंदर से एक दौड़ती हुई जान को निकाला, झिल्ली और पेट के अंदर से।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 577)

हालांकि इससे भी बड़ा प्रमाण वह निरंतर घटना है जिसे फ्रेंच विद्वान अर्नेस्ट रेनां (Ernest Renan, 1823–1892) ने एक "भाषाई चमत्कार" कहा है। जिस तरह दूसरी भाषाओं में बड़े लेखक पैदा होते रहे हैं, वैसे ही अरबी में भी कवि, लेखक और साहित्यकार पैदा हुए और होते रहे हैं, मगर इस पूरी अवधि में भाषा का कोई ऐसा माहिर नहीं आया जो क़ुरान से बेहतर साहित्य पेश करके अरबी भाषा में नया स्तर स्थापित करता और भाषा को नए दौर में ले जाता। इसलिए भाषा उसी स्तर पर बनी रही जो क़ुरान ने इसके लिए तय कर दिया था। अगर दूसरी भाषाओं की तरह अरबी में भी ऐसे लोग आते जो क़ुरान से बेहतर साहित्य पेश करते तो यह मुमकिन नहीं था कि भाषा एक ही जगह पर ठहर जाती।

क़ुरान की मिसाल अरबी भाषा में ठीक वैसी है जैसे किसी भाषा में सबसे ऊँचा लेखक पहले ही दिन पैदा हो जाए। ज़ाहिर है कि उसके बाद कोई लेखक नहीं आएगा जो भाषा में कोई बदलाव ला सके। क़ुरान के उतरने के समय जो भाषा

अरब में प्रचलित थी, क़ुरान ने उसे तराश कर सबसे ऊँचे स्तर के साहित्य में ढाल दिया। उसके बाद उसमें बदलाव की कोई गुंजाइश नहीं रही।

क़ुरान ने अरबी की पारंपरिक शैलियों में बढ़ोत्तरी करके उसमें विस्तार का रास्ता खोला। जैसे, सूरह इख़लास में "अहद" शब्द का उपयोग। अरबी भाषा में इससे पहले यह शब्द केवल सम्बन्धसूचक शब्द (जैसे — यौमुल अहद = रविवार) या संपूर्ण निषेध (जैसे — मा जाअनी अहदुन = मेरे पास कोई नहीं आया) में आता था। लेकिन क़ुरान ने यहाँ "अहद" शब्द को अल्लाह के विशेषण (adjective) के रूप में इस्तेमाल किया, जो अरबी में असाधारण बात थी।

क़ुरान में दूसरी भाषाओं के शब्दों को भी शामिल किया गया। जैसे — इस्तबरक़ (फारसी), क़सवरा (हब्शी), सिरात (यूनानी), यम (सीरियाई), ग़स्साक़ (तुर्की), क़िस्तास (रोमी), मलकूत (आरामी), काफ़ूर (हिंदी) आदि। जब मक्का के लोगों ने कहा कि "यह रहमान कौन है?" (क़ुरान, 25:60), तो इसके पीछे यह वजह थी कि "रहमान" शब्द अरबी का नहीं था। यह सबाई और हमीरी भाषाओं से आया था। यमन और हब्शा के ईसाई लोग अल्लाह को "रहमान" कहते थे। जब क़ुरान ने इस शब्द को अपनाकर अल्लाह के लिए इस्तेमाल किया, तो मक्का वालों को वह शब्द अजनबी लगा और उन्होंने कहा — "रहमान क्या है?"। क़ुरान में ऐसी ग़ैर-अरबी मूल के 100 से अधिक शब्द माने जाते हैं जो फारसी, रोमी, नबती, हब्शी, इब्रानी, सीरियाई, क़िब्ती आदि भाषाओं से लिए गए हैं।

हालाँकि क़ुरान क़ुरैश की भाषा में उतरा, लेकिन इसमें दूसरे अरबी क़बीलों की भाषा भी शामिल की गई। जैसे, क़ुरान में "फ़ातिर" शब्द आया है। अब्दुल्लाह इब्न अब्बास, जो एक क़ुरैशी मुसलमान थे, कहते हैं:

> "मैं नहीं समझता था कि 'फ़ातिरुस्समावात वल-अर्ज़' (आसमानों और ज़मीन का बनाने वाला) का क्या मतलब है, जब तक कि दो देहाती लोग मेरे पास नहीं आए और एक ने कहा: अना फ़तर्तुहा (मैंने यह कुआं शुरू किया।), तब मुझे इसका मतलब समझ में आया।" (*तफ़सीर इब्न कसीर*, खण्ड 6, पृष्ठ 471)

अबू हुरैरा कहते हैं: "अल्लाह की क़सम, मैंने 'सिक्कीन' (छुरी) का शब्द पहली बार क़ुरान की आयत (12:31) में सुना। उससे पहले हम उसे 'मुदयह' कहा करते थे।" (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 3427)

कई शब्द ऐसे थे जो अलग-अलग अरब क़बीलों में अलग-अलग ढंग से बोले जाते थे। क़ुरान ने उनमें से सबसे सुंदर और प्रभावशाली शब्द को चुना और उसे अपने अंदाज़ में शामिल किया। जैसे, क़ुरैश क़बीले में 'अअता' का प्रयोग होता था, जबकि हमीर क़बीले में उसी मतलब के लिए 'अनता' कहा जाता था। क़ुरान ने 'अनता' को छोड़कर 'अअता' को अपनाया। इसी तरह 'शनातिर' की जगह 'असाबिअ (उँगलियाँ)', और 'क़तअ' की जगह 'ज़िइब (भेड़िया)' को लिया गया, आदि।

क़ुरान असल में क़ुरैश की बोली में उतरा है, लेकिन कुछ जगहों पर क़ुरैश की भाषा को छोड़कर किसी और क़बीले की भाषा-शैली को अपनाया गया है। जैसे: "ला यलित्कुम मिन अअमालिकुम" (वह (अल्लाह) तुम्हारे कर्मों में से कुछ कमी नहीं करेगा।)— यह बनू अब्स क़बीले की भाषा है। (*अल-इत्क़ान फी उलूम-उल-क़ुरान*, खण्ड 3, पृष्ठ 895)

इस तरह क़ुरान ने शब्दों और बोलियों को नया विस्तार और नया सौंदर्य देकर एक ऊँचे दर्जे की अरबी भाषा का नमूना बना दिया। यह नमूना इतना ऊँचा था कि इसके बाद कोई लेखक इससे बेहतर स्तर नहीं ला सका। इसीलिए अरबी भाषा हमेशा के लिए क़ुरान की भाषा बन गई।

अरबों में जो कहावतें और बोलचाल के ढंग पुराने ज़माने से चले आ रहे थे, उन्हें क़ुरान ने और बेहतर ढंग से पेश किया। जैसे ज़िंदगी की न स्थिरता (अनिश्चितता) को एक पुराने अरबी शायर क़अब बिन ज़ुहैर ने इन शब्दों में कहा था:

> "हर इंसान, चाहे वह कितने भी समय तक सही-सलामत रहे,
> एक दिन ताबूत पर उठाया जाएगा।"

क़ुरान ने इसी बात को इन शब्दों में कहा: "हर व्यक्ति को मौत का स्वाद चखना है।" (क़ुरान, 3:185)

प्राचीन अरब में लड़ाई-झगड़ा और हत्या बहुत बड़ी समस्या थी। इस स्थिति ने कुछ कहावतों को जन्म दिया, जिन्हें उस समय बहुत ही प्रभावशाली माना जाता था। उनका कहना था कि हत्या का इलाज सिर्फ हत्या है। उन्होंने इस सोच को इन शब्दों में पेश किया:

> कुछ लोगों की हत्या, सबकी ज़िंदगी है।
>
> हत्या को इतना बढ़ा दो ताकि वह खुद कम हो जाए।
>
> हत्या को रोकने का सबसे बड़ा उपाय हत्या है।

क़ुरान ने इसी सोच को इन शब्दों में व्यक्त किया है: "और ऐ बुद्धिमानो, तुम्हारे लिए क़िसास (प्रतिशोध के क़ानून) में ज़िंदगी है, ताकि तुम अल्लाह से डरते रहो।" (क़ुरान, 2:179)

क़ुरान से पहले अरबी और बाक़ी दुनियाभर की भाषाओं में कविता को सबसे ऊँचा दर्जा हासिल था। लोग अपनी बातों को कविता में कहना ही सबसे बड़ा कमाल मानते थे। लेकिन क़ुरान ने इस आम प्रथा को छोड़कर गद्य (नस्र) का तरीक़ा अपनाया। यह अपने-आप में इस बात का प्रमाण है कि क़ुरान अल्लाह का वचन है। क्योंकि सातवीं सदी की दुनिया में सिर्फ वह जीवित और हमेशा रहने वाला अल्लाह ही यह जान सकता था कि इंसानों के लिए हमेशा की किताब को गद्य में उतारना चाहिए, न कि कविता में — जो आगे चलकर महत्वहीन हो जाने वाली थी।

इसी तरह पूर्व में किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहना साहित्य की बुलंदी समझा जाता था। लेकिन क़ुरान ने पहली बार इतिहास में हक़ीक़त बयान करने वाले साहित्य की शुरुआत की। पहले युद्ध और प्रेम ही सबसे लोकप्रिय विषय थे। क़ुरान ने नैतिकता, क़ानून, विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि विषयों को शामिल किया। पहले कहानी कहने के माध्यम से बात कही

जाती थी, क़ुरान ने सीधे तौर पर बात करने का ढंग अपनाया। पहले तर्क का सिर्फ अनुमान आधारित ढांचा (syllogism) ही प्रमाण के लिए काफी माना जाता था, लेकिन क़ुरान ने सच्चे और वास्तविक तर्क को सामने रखा। इन सबसे बढ़कर यह कि ये सारी बातें क़ुरान में इतनी बुलंद भाषा-शैली में कही गई हैं कि ऐसा कलाम पेश करना किसी भी इंसान के बस में नहीं।

पुराने अरब में यह कहावत थी: "सबसे मीठी कविता वही है, जिसमें सबसे ज़्यादा झूठ हो।" (*तारीख़-अन-नक़्द-अल-अदबी इंद-अल-अरब*, डॉ. इहसान अब्बास, पृष्ठ 170) मगर क़ुरान ने एक नया तरीक़ा पेश किया — जिसमें कल्पनाओं और बढ़ा-चढ़ाकर कहने की बजाय सच्चाई थी। इसने सच्चे और हक़ीक़तपसंद साहित्य का नमूना पेश किया। क़ुरान अरबी भाषा और साहित्य का नेतृत्व करने वाला बन गया। जाहिलियत (इस्लाम से पहले के समय) के साहित्य का जो थोड़ा-बहुत हिस्सा आज महफूज़ है, वह सब क़ुरान की भाषा को समझने और उसे सहेजने के लिए इकट्ठा किया गया। इसी तरह भाषा के व्याकरण, शब्दों के अर्थ, तफ़्सीर (व्याख्या), हदीस (पैग़म्बर के कथन), फ़िक़्ह (धार्मिक क़ानून), और इल्मे कलाम (इस्लामी दर्शनशास्त्र)— ये सब इसीलिए बने ताकि क़ुरान की बातों को समझा और उसकी व्याख्या की जा सके। यहाँ तक कि जब अरबों ने इतिहास, भूगोल और अन्य विज्ञानों को अपनाया, तो वह भी क़ुरान की बातों को समझने और व्यवहारिक रूप से उसको अपनाने की कोशिश थी। क़ुरान के अलावा इतिहास में कोई और उदाहरण नहीं मिलता कि किसी एक किताब ने किसी क़ौम को इस क़दर प्रभावित किया हो।

क़ुरान ने अरबी भाषा में जिस तरह बदलाव कर के जो श्रेष्ठ साहित्य तैयार किया, वह इतना अलग और सहज है कि कोई भी अरबी जानने वाला व्यक्ति किसी भी दूसरी अरबी किताब की भाषा से क़ुरान की भाषा की तुलना करके हर समय यह फर्क देख सकता है। क़ुरान का ईश्वरीय साहित्य आम इंसानी साहित्य से इतना ज़्यादा श्रेष्ठ है कि कोई भी अरबी जानने वाला व्यक्ति इसे माने बिना नहीं रह सकता। यहाँ हम उदाहरण के लिए एक घटना पेश करते हैं जिससे इस फर्क का अच्छे से अंदाज़ा हो सकेगा। तंतावी जोहरी (1870–1940) लिखते हैं:

> "13 जून 1932 को मेरी मुलाक़ात मिस्र के लेखक उस्ताद कामिल गीलानी (1897–1959) से हुई। उन्होंने एक अनोखी घटना सुनाई। उन्होंने कहा, मैं एक अमेरिकी इस्लामिक विद्वान फिंकल (Joshua Finkel, 1904–1983) के साथ था। हमारे बीच गहरे साहित्यिक संबंध थे। एक दिन उन्होंने धीरे से मेरे कान में कहा, 'क्या तुम भी उन्हीं लोगों में हो जो क़ुरान को एक चमत्कार मानते हैं?'

यह कह कर वह एक रहस्यमय हँसी हँसे जिसका मतलब था कि इस विश्वास की कोई सच्चाई नहीं है। बस परंपरा के तौर पर मुसलमान इसे मानते चले आ रहे हैं। उनका मानना था कि उन्होंने कोई ऐसा तीर चलाया है जिसे कोई रोक नहीं सकता। उनका यह हाल देखकर मुझे भी हँसी आ गई। मैंने कहा: क़ुरान की भाषा की सुंदरता के बारे में कोई फ़ैसला करने के लिए ज़रूरी है कि हम खुद अनुभव कर लें कि क्या हम वैसी ही बात कह सकते हैं। कोशिश करने से खुद-ब-खुद पता चल जाएगा कि हम वैसी बात कहने में सक्षम हैं या नहीं।

इसके बाद मैंने प्रोफेसर फिंकल से कहा कि आइए हम एक क़ुरानी विचार को अरबी शब्दों में व्यक्त करें। वह विचार यह था: "नरक बहुत विशाल है।" उन्होंने इस बात से सहमति जताई और हम दोनों कागज़-कलम लेकर बैठ गए। हमने मिलकर लगभग बीस अरबी वाक्य बनाए, जिनमें ऊपर दिए गए विचार को अलग-अलग शब्दों में कहने की कोशिश की गई थी। वे वाक्य ये थे:

- निश्चय ही जहन्नम बहुत ही विशाल है।
- निश्चय ही जहन्नम उससे भी अधिक विशाल है जितना तुम सोचते हो।
- जहन्नम की विशालता को इंसान की बुद्धि कल्पना भी नहीं कर सकती।
- निश्चय ही जहन्नम पूरी दुनिया को समा सकती है।
- जब जिन और इंसान जहन्नम में प्रवेश करेंगे तो वह उन्हें समा लेगी और तंग नहीं होगी।

- जहन्नम की विशालता का कोई भी वर्णन उसकी सच्चाई के पास तक नहीं पहुँच सकता।
- निश्चय ही जहन्नम की विशालता के सामने आसमानों और धरती की विशालता छोटी है।
- जहन्नम की विशालता के बारे में जो भी तुम्हारे मन में आए, वह उससे अधिक चौड़ी और विशाल है।
- जहन्नम की विशालता में तुम ऐसी बातें देखोगे जिनकी न तुमने कभी कल्पना की होगी और न सोची होगी।
- चाहे तुम जितना भी जहन्नम की विशालता की कल्पना करो, तुम कम ही करोगे और उसकी सच्चाई के पास नहीं पहुँच पाओगे।
- वह अद्भुत वाक्पटुता भी जहन्नम की विशालता का वर्णन करने में असमर्थ और पूरी तरह अक्षम है।
- जहन्नम की विशालता स्वप्न देखने वालों के सपनों और कल्पना करने वालों की कल्पनाओं से भी आगे निकल गई है।
- जब तुम कलम उठाकर जहन्नम की विशालता का वर्णन करने लगते हो, तो अपने कमी और अक्षम होने का एहसास होता है।
- जहन्नम की विशालता का न तो वर्णन किया जा सकता है और न ही मन में उसकी सटीक कल्पना हो सकती है।
- जहन्नम की विशालता का हर वर्णन बस फ़ुज़ूल और बकवास है।

जब हम दोनों अपनी कोशिश पूरी कर चुके और हमारे पास कहने को कुछ नया नहीं बचा, तो मैंने प्रोफेसर फिंकल की तरफ़ जीतने वाली नज़रों से देखा और कहा: "अब आप पर क़ुरान की भाषा की गहराई खुल कर सामने आ जाएगी।" मैंने कहा, "जब हम अपनी पूरी कोशिश करके यह सब कुछ लिख चुके हैं।" प्रोफेसर फिंकल ने पूछा: "क्या क़ुरान ने इस बात को हमसे ज़्यादा सुंदर तरीक़े

से कहा है?" मैंने कहा: "हम तो क़ुरान के सामने बच्चे साबित हुए हैं।" उन्होंने हैरानी से पूछा: "क़ुरान में क्या है?" मैंने सूरह क़ाफ़ (50) की आयत नंबर 30 पढ़ी: "जिस दिन हम नरक से पूछेंगे: क्या तू भर गई? और वह कहेगी: क्या और भी है?" (अर्थ: और लाओ)। यह सुनकर उनका मुँह खुला का खुला रह गया। वे इस भाषा की सुंदरता को देखकर दंग रह गए। उन्होंने कहा:

> "आपने सच कहा, बिल्कुल सच। मैं पूरे दिल से इसको स्वीकार करता हूँ।"

मैंने कहा: यह कोई हैरानी की बात नहीं कि आपने सच्चाई को मान लिया। क्योंकि आप एक लेखक हैं और आप शैली (लिखने के तरीक़े) की महत्ता को भली-भांति समझते हैं। यह विद्वान अंग्रेज़ी, जर्मन, इब्रानी और अरबी भाषाओं से अच्छी तरह परिचित था। साहित्य के अध्ययन में उसने अपना पूरा जीवन लगा दिया था। (स्रोत: शैख़ तंतावी जोहरी, *अल-जवाहर फी तफ़सीर अल-क़ुरान अल-करीम*, मिस्र 1351 हिजरी, खण्ड 23, पृष्ठ 111-12)

रसूल के साथी

पैग़म्बर मुहम्मद (सलल०) के साथी केवल साधारण साथी नहीं थे, बल्कि वे स्वयं पैग़म्बर की इतिहास का एक ज़रूरी हिस्सा थे। अल्लाह ने उन्हें इसलिए चुना था कि वे अल्लाह के पैग़म्बर के सहायक बनें। वे आपके साथ मिलकर उस इलाही (ईश्वरीय) काम को पूरा करें जो आपके ज़रिये पूरा किया जाना था। हज़रत अब्दुल्लाह बिन मसऊद (रज़ि.) ने पैग़म्बर के साथियों के बारे में कहा: अल्लाह ने उन्हें अपने पैग़म्बर की मदद और इस्लाम का संदेश लोगों तक पहुँचाने के लिए चुन लिया था (*मुसनद अहमद*, हदीस संख्या 12375)।

पैग़म्बर के साथियों को यह ऐतिहासिक दर्जा किन विशेषताओं की वजह से मिला, इस बारे में कुछ बातें यहाँ संक्षेप में बताई जा रही हैं।

धर्म उनके लिए प्रिय बन गया था।

पैग़म्बर के साथियों की विशेषता क़ुरान में यह बताई गई है कि ईमान उनके लिए एक प्यारी चीज़ बन गया था (क़ुरान, 49:7)। मोहब्बत किसी चीज़ से लगाव का सबसे श्रेष्ठ दर्जा है। और जब किसी चीज़ से मोहब्बत हो जाती है, तो वह इंसान के लिए हर दूसरी चीज़ का विकल्प (option) बन जाती है। इसके बाद इंसान का दिमाग़ उस चीज़ के बारे में खुद ही सक्रिय हो जाता है, वह बिना बताए उससे जुड़ी हर बात समझने लगता है। भले ही उसे कोई नक्शा न दिया गया हो, लेकिन उसका मन उसे खुद ही बता देता है कि उसे अपनी प्रिय चीज़ के लिए क्या करना है और क्या नहीं (क़ुरान, 9:46)।

मोहब्बत के दर्जे में जुड़ाव का मतलब है गहरी रुचि और लगाव। यानी इंसान इस्लाम के फायदे-नुक़सान को अपना निजी फ़ायदा-नुक़सान समझने लगे। पैग़म्बर के साथियों को इस्लाम से ऐसा ही संबंध हो गया था। वे इस्लाम के लाभ से उतने ही खुश होते थे जैसे कोई इंसान अपने बेटे की सफलता से खुश होता है। और अगर इस्लाम को कोई नुक़सान होता, तो वे उसी तरह बेचैन हो जाते जैसे कोई व्यक्ति अपने बेटे के बारे में बुरी ख़बर सुनकर परेशान हो जाता है और तब तक शांत नहीं होता जब तक उसकी भरपाई न हो जाए।

जब किसी चीज़ से मोहब्बत हो जाती है, तो इंसान का मन उसके प्रति पूरी तरह जागरूक रहता है। वह उसकी खातिर हर कुर्बानी देने को तैयार हो जाता है। बिना बताए ही उसकी ज़रूरतों और मांगों को समझ जाता है। उसे हासिल करने के लिए कोई मानसिक रुकावट रास्ते में नहीं आती। वह अपना योगदान देने में कोई बहाना नहीं बनाता।

जब इंसान किसी मामले को अपना निजी मामला बना लेता है, तो फिर उसे न ज़्यादा बताने की ज़रूरत होती है और न ही ज़्यादा समझाने की। उसका दिली लगाव उसके लिए हर दूसरी चीज़ का विकल्प बन जाता है। वह किसी इनाम की उम्मीद किए बिना, एकतरफ़ा रूप से अपना सब कुछ उसपर लुटा देता है। उसके लिए खोना भी पाना होता है। उसके लिए बे-क़ीमत हो जाना भी उसकी नज़र में सबसे ज़्यादा क़ीमती बन जाता है। उसके लिए वह दुनिया के दूसरे तमाम फ़ायेदों

को अनदेखा कर देता है। उसके लिए वह हर तकलीफ़ को ऐसे सह लेता है जैसे कोई तकलीफ़ ही न हो।

पैग़म्बर के साथी कोई असाधारण इंसान नहीं थे। वे किसी भी तरह असामान्य प्राणी नहीं थे। उनकी ख़ास बात बस इतनी थी कि 'मोहब्बत' का जो रिश्ता आम इंसान को अपने आप से होता है, वही रिश्ता उन्हें दीन और ईमान से हो गया था। आम आदमी अपने भविष्य की तैयारी को जितना ज़रूरी समझता है, उतनी ही अहमियत वे इस्लाम के भविष्य को बनाने में देने लगे थे। वे धर्म के लिए अपनी भूमिका को उतना ही ज़रूरी समझते थे जितना कोई इंसान अपने निजी काम के लिए अपने आप को और अपने साधनों को ज़रूरी समझता है। यही उनकी विशेषता थी कि वे इतिहास के ऐसे लोग बने जिन्होंने इस्लाम को सबसे बड़ी सफलता की ऊँचाई तक पहुँचाया।

पैग़म्बर को इतिहास के आरंभ में पहचान लेना

पैग़म्बर के साथियों की यह विशेष बात थी कि उन्होंने अपने समय के एक साधारण इंसान को पैग़म्बर को के रूप में पहचाना और उनका साथ दिया। यह इतना मुश्किल काम है कि पूरे मालूम इतिहास में ऐसा केवल एक बार हुआ है। हर दौर में यह हुआ कि लोगों ने अपने समय के पैग़म्बर को नकारा और उनका मज़ाक उड़ाया। बाइबिल में है: "तुमने मेरे नबियों को तुच्छ समझा" (बाइबिल, नीतिवचन, 1:25)। ये लोग कौन थे? ये वही थे जो नबियों को मानते थे। उनके नाम पर संस्थाएँ थीं, उत्सव होते थे। मगर ये सब पुराने नबियों के नाम पर होता था। जहां तक अपने समय के नबी का सवाल था, उनके लिए इनके पास केवल मज़ाक और तिरस्कार था।

यहूदियों ने ईसा (अलैहिस्सलाम) का इनकार किया, हालांकि वे मूसा (अलैहिस्सलाम) को मानते थे। ईसाइयों ने मुहम्मद (सल्ल०) को नहीं माना, जबकि वे हज़रत ईसा को पूजने तक की हद तक सम्मान देते थे। उसी तरह क़ुरैश ने पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) पर पत्थर फेंके और उन्हें घर से निकाल दिया, हालांकि वे हज़रत इब्राहीम के वंशज होने पर गर्व करते थे।

इसका कारण क्या है? कारण यह है कि पुराने नबी की नबूवत समय बीतने के साथ प्रमाणित बन जाती है। वह नबी उस जाति की पहचान और गर्व का माध्यम

बन जाता है। आने वाली पीढ़ियाँ उसे एक पवित्र नायक की तरह मानने लगती हैं। उसे मानना अपनी क़ौमी पहचान बनाए रखने जैसा होता है। इसलिए, ऐसे नबी को न मानने का सवाल ही नहीं उठता। मगर अपने समय के नबी की नबूवत संदेहपूर्ण होती है। वह भ्रम के पर्दे में होती है। उसे मानने के लिए बाहरी पर्दे को हटाकर सच्चाई को देखना पड़ता है। उसका साथ देने के लिए अपने अहंकार को छोड़ना पड़ता है। उसके मिशन की राह में अपना धन लगाना एक ऐसे मिशन की राह में अपनी पूँजी लुटाने जैसा होता है जिसकी सच्चाई अभी साबित नहीं हुई है। पैग़म्बर के साथियों ने एक जीवित पैग़म्बर को वैसे ही माना जैसे कोई इतिहास के पैग़म्बर को मानता है।

ग़ज़वा-ए-खंदक़ में जब घेरा बहुत सख्त हो गया और ज़रूरी चीज़ें भी नहीं मिल पा रही थीं, तो एक मुसलमान ने कहा: मुहम्मद हमसे कहते थे कि हमें ईरान और रोम के खज़ाने मिलेंगे, और आज यह हाल है कि हम शौच जाने तक को सुरक्षित नहीं हैं। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 222)। उस वक़्त पैग़म्बर का वादा केवल एक शाब्दिक आश्वासन था। आज वह एक ऐतिहासिक हकीक़त बन चुका है। साथियों ने इस वादे को इतिहास बनने से पहले ही सच्चा माना। और हम आज इसे इतिहास बनने के बाद सच्चा मानते हैं। इन दोनों के मानने में इतना फर्क है कि तुलना करना भी नामुमकिन है। आज एक ग़ैर-मुस्लिम शोधकर्ता भी इस्लाम के पैग़म्बर को सबसे महान व्यक्ति कहने पर मजबूर है, लेकिन उनके जीवनकाल में उनकी महानता को पहचानना इतना मुश्किल था कि वही लोग पहचान सके जिन्हें अल्लाह ने विशेष समझ दी थी।

क़ुरान को विरोध और असहमति के समय अपनाना

सीरत (पैग़म्बर की जीवनी) की किताबों में बताया गया है कि पैग़म्बर के साथी लोगों को इस्लाम का संदेश देते थे और उन्हें क़ुरान की आयतें सुनाते थे (तबक़ात इब्न सअद, खण्ड 1, पृष्ठ 170)। मदीना में जो साथी इस्लाम का संदेश पहुँचाने गए, उन्हें वहाँ "मुक़री" यानी क़ुरान पढ़कर सुनाने वाला कहा गया (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 434)। आज यह बात सामान्य लगती है। लेकिन अगर

आप 1400 साल की पूरी तारीख को हटाकर इस्लाम के आरंभिक समय में पहुंचें, तो यह एक बहुत अनोखी बात लगेगी जो पहले कभी नहीं हुई और न बाद में।

आज जब हम 'क़ुरान' कहते हैं, तो वह एक महान किताब का नाम है जिसकी सच्चाई 14 सदियों से करोड़ों लोग मानते आए हैं। आज अगर कोई कहे कि वह क़ुरान से जुड़ा है, तो यह गर्व की बात है। मगर जब यह नाज़िल (अवतरित) हो रहा था, तब इसकी ऐसी मान्यता नहीं थी। बहुत से अरब लोग कहते थे कि मुहम्मद ने पुराने क़िस्सों को जोड़कर एक किताब बना ली है। हम भी चाहें तो वैसी ही बना सकते हैं (क़ुरान, 8:31)।

कोई कहता: इसमें वही बातें दोहराई जा रही हैं। मुहम्मद के पास कुछ बातें हैं जिन्हें वे बार-बार दोहराते हैं (क़ुरान, 25:5)।

ऐसे माहौल में क़ुरान को पहचानना ऐसे था जैसे भविष्य में होने वाली सच्चाई को आज देख लेना। यानी एक छुपी हुई हक़ीकत को उसके साबित होने से पहले पहचान लेना। फिर उस समय उसे संदेश पहुँचाने का साधन बना लेना और भी मुश्किल था, क्योंकि इसके लिए अपनी पहचान को छोड़कर दूसरे की बात को स्वीकार करना पड़ता है। वह भी ऐसे व्यक्ति की बात, जिसकी सच्चाई अभी साबित नहीं हुई हो। अरब के मशहूर शायर (कवी) लबीद ने जब इस्लाम अपनाया तो उन्होंने शायरी छोड़ दी। किसी ने पूछा क्यों छोड़ी? उन्होंने कहा: क्या क़ुरान के बाद भी कोई शायरी? आज अगर कोई व्यक्ति शायरी छोड़कर यह बात कहे, तो उसे महानता और लोकप्रियता की ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया जाएगा।, मगर लबीद की बात और आज के शायर की बात में बहुत फर्क है। क्योंकि आज का शायर इतिहास के अंत में यह बात कह रहा है, जबकि लबीद ने इसे इतिहास के आरंभ में कहा था। यही बात क़ुरान में इस तरह आई है:

> "तुम में से जो लोग जीत के बाद धन ख़र्च करें और संघर्ष (जिहाद) करें, वे उन लोगों के बराबर नहीं हो सकते जो जीत से पहले संघर्ष और खर्च करें। जीत से पहले खर्च और संघर्ष करने वालों का दर्जा बहुत ऊँचा है।" (क़ुरान, 57:10)

अप्रमाणित सच्चाई के लिए धन का समर्पण

इब्न अबी हातिम ने एक सहाबी (पैग़म्बर के साथी) का एक क़िस्सा इन शब्दों में लिखा है:

> अब्दुल्लाह बिन मसऊद रज़ियल्लाहु अन्हु से रिवायत है कि जब क़ुरान में यह आयत उतरी कि "कौन है जो अल्लाह को अच्छा क़र्ज़ देगा", तो हज़रत अबू दहदाह अंसारी ने अल्लाह के रसूल सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम से कहा: ऐ ख़ुदा के रसूल, क्या अल्लाह सच में हमसे क़र्ज़ चाहता है? आपने फ़रमाया: हाँ, ऐ अबू दहदाह। उन्होंने कहा: ऐ ख़ुदा के रसूल, अपना हाथ दीजिए। रावी (विवरण देने वाले) कहते हैं कि आपने अपना हाथ उनके हाथ में दिया। अबू दहदाह ने कहा: मैंने अपना बाग़ अपने रब को क़र्ज़ में दे दिया। उनका ख़जूर का एक बाग़ था जिसमें छह सौ पेड़ थे। उस वक़्त उनकी पत्नी उम्मे दहदाह अपने बच्चों के साथ बाग़ में थीं। वे बाग़ में लौटे और आवाज़ दी: ऐ उम्मे दहदाह। उन्होंने कहा: हाँ। अबू दहदाह ने कहा: बाग़ से बाहर निकल आओ, क्योंकि इसको मैंने अपने रब को क़र्ज़ में दे दिया है। पत्नी ने कहा: ऐ अबू दहदाह, आपक सौदा बहुत सफल रहा। और फिर वो अपने सामान और बच्चों को लेकर बाग़ से बाहर आ गईं। अल्लाह के रसूल सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया: अबू दहदाह के लिए जन्नत में कितने ही हरे-भरे और फलदार पेड़ हैं। (*तफसीर इबन कसीर*, खण्ड 8, पृष्ठ 48)

यह एक मिसाल है जिससे यह समझ में आता है कि सहाबा (पैग़म्बर के साथी) जिस धर्म पर ईमान लाए थे, उस धर्म के लिए अपना सब कुछ कुर्बान कर देने के लिए वे कितने बेचैन रहते थे। यहाँ एक बार फिर याद रखिए कि यह घटना चौदह सौ साल पहले की है। आज कोई व्यक्ति अगर धर्म के नाम पर इस तरह का खर्च करे, तो मुमकिन है कि लाखों मुसलमानों के बीच प्रसिद्धि के रूप में उसे अपने इस खर्च से भी बड़ी चीज़ जल्दी ही मिल जाए। लेकिन पैग़म्बर के साथियों के ज़माने में स्थिति बिल्कुल अलग थी। उस समय धर्म के रास्ते में अपना माल

खर्च करना लोगों की नज़र में एक पागलपन लग सकता था। यह ऊँचे मीनारों पर चमकने के बजाय नींव की मिट्टी में दफ़न हो जाने जैसा था। उस समय सहाबा एक ऐसे आंदोलन के नाम पर कदम उठा रहे थे, जिसकी सच्चाई अभी साबित नहीं हुई थी, और जिसके पीछे इतिहास का प्रमाण भी नहीं था। यह ऐसा था मानो कोई व्यक्ति एक अनिश्चित उद्देश्य के लिए अपनी संपत्ति दे रहा हो, जबकि आज लोग किसी प्रमाणित और स्वीकार किए गए उद्देश्य के लिए अपनी संपत्ति देते हैं।

अपना ताज दूसरे के सिर पर रखना

मदीना में अब्दुल्लाह बिन उबय एक बहुत समझदार और प्रभावशाली व्यक्ति था। वह मदीना का सबसे बड़ा और मान्य नेता समझा जाता था। जब मदीना के लोगों को आपसी झगड़े और बिखराव को ख़त्म करने की ज़रूरत महसूस हुई, तो उन्होंने अब्दुल्लाह बिन उबय को चुना कि उसे अपना शासक बनाया जाए और इस बात की निशानी के तौर पर उसे एक ताज पहनाया जाए। (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 166)

अब्दुल्लाह बिन उबय की ताजपोशी की पूरी तैयारी हो चुकी थी कि ठीक उसी समय मदीना में इस्लाम पहुँच गया। मदीना के लोगों की फ़ितरत (स्वभाव) ने इसकी सच्चाई को पहचाना और इस्लाम हर घर में फैलने लगा। इसके बाद मदीना के लोगों का एक प्रतिनिधि दल मक्का आया और अल्लाह के रसूल सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम से मिला और उनकी ज़ुबान से उनका संदेश सुना। उन्हें यह समझ में आया कि मदीना की सामूहिक व्यवस्था के लिए जो नेतृत्व उन्हें चाहिए था, वह और बेहतर रूप में मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह की शक्ल में मौजूद है। उन्होंने मदीना के लोगों की तरफ़ से उन्हें यह प्रस्ताव दिया कि आप मदीना आ जाइए और हमारे नेता बनकर रहिए। इस्लामी इतिहास की यही वह घटना है जो "बैअत अक़बा सानिया" के नाम से मशहूर है।

यह घटना कोई मामूली बात नहीं थी। यह ऐसा था जैसे कोई इंसान अपना ताज किसी और के सिर पर रख दे। प्राचीन क़बायली व्यवस्था में ऐसा होना बहुत ही दुर्लभ बात थी। अपने क़बीले से बाहर किसी को बिना शर्त अपना नेता मान लेना हमेशा से इंसानों के लिए बहुत मुश्किल काम रहा है — और पुराने समय में

तो यह और भी कठिन था। और ख़ास बात यह है कि जब यह घटना घटी, उस वक़्त "मुहम्मद" वह महान नाम नहीं था जिससे आज हम परिचित हैं। उस समय मुहम्मद एक ऐसे इंसान थे जिन्हें उनके अपने देश (मक्का) ने निकाल दिया था। जिनके साथ कोई राष्ट्रीय गर्व या ऐतिहासिक प्रतिष्ठा जुड़ी हुई नहीं थी। जो सिर्फ एक विवादित व्यक्ति ही नहीं, बल्कि एक उजड़े हुए, बेघर इंसान थे। जिनके लिए सब कुछ कुर्बान कर देना था और बदले में उनसे कुछ भी पाने की उम्मीद नहीं थी। बीसवीं सदी में किसी बर्नार्ड शॉ के लिए यह कहना आसान हो सकता है कि वह पैग़म्बर-ए-इस्लाम को यूरोप का नेता बना दे। लेकिन छठी सदी ईसवी में किसी के लिए यह सोचना भी असंभव था कि वह आपको एक पैग़म्बर माने और फिर अपना सामूहिक नेता भी बना ले।

अपनी सीमाओं को जानना

रसूलुल्लाह (सल्ल०) का तरीक़ा यह था कि जब भी कोई मामला आता, तो आप इस बारे में लोगों से सलाह मशविरा करते। आप अपने साथियों को बुलाते और उनके सामने वो समस्या रखकर कहते: "ऐ लोगो, मुझे राय दो"। आप राय सभी से मांगते, लेकिन होता ये कि कुछ देर ख़ामोशी रहती, और फिर हज़रत अबू बक्र खड़े होकर संक्षेप में अपनी राय देते और बैठ जाते। इसके बाद हज़रत उमर खड़े होते और कुछ बोल कर बैठ जाते। फिर कुछ और लोग मामूली तौर पर बोलते और सामूहिक सहमति से फ़ैसला हो जाता।

पैग़म्बर (सल्ल०) के निधन के बाद जब हज़रत अबू बक्र की ख़िलाफ़त का समय आया, तो उन्होंने भी इसी तरह लोगों को एकत्र कर सलाह लेनी शुरू की। अब यह होता कि कुछ समय की ख़ामोशी के बाद हज़रत उमर खड़े होते, संक्षेप में अपनी राय रखते और बैठ जाते। फिर कुछ लोग और बोलते और अंत में आम सहमति से निर्णय हो जाता। हज़रत उमर के बाद जब पैग़म्बर के साथियों की संख्या बढ़ने लगी, तो यह स्थिति पहले जैसी न रही।

यह देखने में एक सीधी-सादी बात लगती है, लेकिन यह इतनी महत्वपूर्ण है कि इतिहास में शायद ही कोई दूसरा समाज होगा जिसने इसका कोई उदाहरण पेश किया हो। ऐसा व्यवहार केवल तब संभव होता है जब कोई व्यक्ति इतना आत्मजागरूक

हो जाए कि वह अपनी कमज़ोरियों और सीमाओं को पहचानने लगे। जब वह दूसरों की "है" की तुलना में अपने "नहीं" को जानने लगे। जब वह खुद को उस नज़र से देखने लगे, जिस नज़र से कोई दूसरा व्यक्ति उसे देख रहा होता है।

इसमें एक बात और जोड़ लीजिए — यह घटना जिन अबू बक्र और उमर के साथ घटी, उस समय वे भी आज के जैसे प्रसिद्ध और स्थापित व्यक्ति नहीं थे। आज हम उन्हें इतिहास के श्रेष्ठ स्थान पर पाते हैं। लेकिन अपने समय के लोगों के लिए वे बस उन्हीं जैसे थे। जब कि आज वे हमारे लिए इतिहास के मज़बूत स्तंभ हैं, जिन्हें हम एक सिद्ध सच की तरह देखते हैं। हज़रत अबू बक्र और उमर को इतिहास बनने के बाद पहचानना बेहद आसान है — लेकिन उन्हें इतिहास बनने से पहले पहचानना उतना ही कठिन था। और पैग़म्बर (सल्ल०) के साथी वही लोग थे जो इस कठिन कसौटी पर खरे उतरे।

ज़िम्मेदारी को अपने ऊपर ले लेना

यह घटना ज़ातुस्सलासिल (बेड़ियों वाली) के सफ़र की है। पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) ने सबसे पहले एक दल को हज़रत अम्र बिन आस के नेतृत्व में भेजा। यह स्थान सीरिया के आस-पास का इलाक़ा था। जब हज़रत अम्र बिन आस वहाँ पहुँचे और दुश्मन की तैयारियों के बारे में जानकारी ली, तो उन्हें अपनी फौज उस काम के लिए नाकाफ़ी लगी। उन्होंने एक जगह ठहर कर पैग़म्बर को संदेश भेजा कि मौजूदा सेना पर्याप्त नहीं है, कृपया और सैनिक भेजे जाएँ।

पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) ने मुहाजिरों में से दो सौ लोगों का एक दल तैयार किया और उसे हज़रत अबू उबैदा बिन जर्राह के नेतृत्व में रवाना किया।

जब हज़रत अबू उबैदा अपनी सेना के साथ वहाँ पहुँचे और दोनों दल एक साथ हो गए, तो यह सवाल उठा कि दोनों दलों का नेता कौन होगा। हज़रत अम्र बिन आस ने कहा कि दूसरा दल मेरी मदद के लिए भेजा गया है, इसलिए असल में मैं ही दोनों दलों का नेतृत्व करूँगा। हज़रत अबू उबैदा के साथियों को यह बात मंज़ूर नहीं थी। उनका विचार था कि या तो अबू उबैदा दोनों दलों के संयुक्त नेता हों या फिर दोनों दलों के अलग-अलग नेता रहें।

जब मतभेद बढ़ने लगा, तो हज़रत अबू उबैदा बिन जर्राह ने कहा: "ऐ अम्र, जान लो कि पैग़म्बर ने मुझसे आख़िरी वक़्त जो बात कही थी, वह यह थी — 'जब तुम अपने साथी से मिलो तो एक-दूसरे की बात मानना और मतभेद न करना।' इसलिए ख़ुदा की क़सम, अगर तुम मेरी बात नहीं मानोगे, तब भी मैं तुम्हारी बात मानूँगा।" (*मग़ाज़ी अल-वाक़िदी*, खण्ड 2, पृष्ठ 771)

हज़रत अबू उबैदा यह कर सकते थे कि वे ज़िम्मेदारी अम्र बिन आस पर डाल कर उनसे लम्बी बहस करते रहते। अगर वे ऐसा करना चाहते, तो वे ऐसे बहुत से शब्द चुन सकते थे जिनसे उनका अपना पक्ष बिलकुल सही और दूसरा पक्ष पूरी तरह ग़लत दिखाई देता। लेकिन इसके बजाय उन्होंने यह किया कि सारी ज़िम्मेदारी खुद अपने ऊपर ले ली। उन्होंने इस विवाद को एकतरफा रूप से ख़त्म कर दिया। सामूहिक जीवन में यह बात बेहद ज़रूरी होती है। सच यह है कि कोई भी सामूहिक व्यवस्था तब ही ठीक से चल सकती है जब उसके लोग इतने बड़े मन के हों कि वे अधिकारों की बहस में पड़े बिना अपने ऊपर ज़िम्मेदारी लेने का हौसला रखते हों। जहाँ ऐसा स्वभाव न हो, वहाँ आपसी एकता नहीं, बल्कि केवल टकराव जन्म लेता है।

शिकायतों से ऊपर उठकर सोचना

ख़ालिद बिन वलीद बेहद बहादुर थे। उनमें असाधारण सैनिक क्षमता थी। पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के ज़माने से लेकर हज़रत अबू बक्र की ख़िलाफ़त तक वे लगातार इस्लामी सेना के सेनापति रहे। लेकिन हज़रत उमर को उनकी कुछ आदतें पसंद नहीं थीं। इसलिए उन्होंने हज़रत अबू बक्र से कहा कि उन्हें सेनापति के पद से हटा दिया जाए। लेकिन हज़रत अबू बक्र ने उनकी सलाह नहीं मानी। मगर हज़रत उमर को अपनी राय पर इतना ज़ोर था कि जब वे ख़लीफ़ा बने, तो उन्होंने हज़रत ख़ालिद को सेनापति के पद से हटा दिया और उन्हें एक साधारण सिपाही की भूमिका दे दी।

उस समय हज़रत ख़ालिद शाम के क्षेत्र में विजय के झंडे गाड़ रहे थे। ठीक उसी समय द्वितीय ख़लीफ़ा ने उन्हें पद से हटाकर अबू उबैदा बिन जर्राह को उनका सेनापति बना दिया। इसके बाद सेना के कुछ लोग ख़ालिद बिन वलीद के ख़ेमे

में इकट्ठा हुए और उनसे कहा कि हम आपके साथ हैं, आप ख़लीफ़ा का आदेश न मानें। लेकिन हज़रत ख़ालिद ने सबको वापस भेज दिया और कहा, मैं उमर के लिए नहीं लड़ता, बल्कि उमर के रब के लिए लड़ता हूँ। पहले वे सेनापति की हैसियत से लड़ते थे, अब एक साधारण और उनके अधीन एक सैनिक की तरह लड़ने लगे।

इस तरह का व्यवहार तब ही संभव होता है जब इंसान इतना ऊँचा सोचने लगे कि वह शिकायतों और नाराज़गी से ऊपर उठकर सोचे। उसका रवैया किसी प्रतिक्रिया के तौर पर न हो, बल्कि सकारात्मक सोच के आधार पर हो। वह इंसानों के लिए नहीं, बल्कि अल्लाह को राज़ी करने के लिए जीता हो।

क़ानूनी सीमा से आगे बढ़कर साथ देना

शाबान 2 हिजरी में पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) को यह सूचना मिली कि क़ुरैश के सभी प्रमुखों के नेतृत्व में एक हज़ार सैनिकों की सेना मदीना पर हमला करने के लिए बढ़ रही है। इनमें छह सौ कवचधारी थे और उनके साथ एक सौ घुड़सवारों का एक विशेष दल भी था। यह एक अत्यंत नाज़ुक समय था। आप ने मदीना के अंसार और मुहाजिरों को इकट्ठा किया और उनके सामने भाषण देते हुए यह सवाल रखा कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाना चाहिए।

जैसा कि सामान्य रूप से होता था, पहले मुहाजिरों के प्रमुख लोग खड़े हुए और उन्होंने कहा: "ऐ अल्लाह के रसूल! आपके रब का जो भी आदेश है, उसी की ओर बढ़िए। हम आपके साथ हैं। हम पिछली क़ौमों की तरह यह नहीं कहने वाले कि आप और आपका रब जाओ और लड़ो, हम यहाँ बैठे हैं। बल्कि हम कहते हैं कि आप और आपका रब चलकर लड़िए, हम भी आपके साथ हैं। जब तक हम में से एक की भी आँख झपक रही है, हम आपका साथ नहीं छोड़ेंगे।"

लेकिन पैग़म्बर (सल्ल०) मुहाजिरों की इन बातों के बावजूद बार-बार यह कह रहे थे: "लोगो, मुझे सलाह दो।" (अशीरू अलय्या अय्युहन-नास)

इस पर सअद बिन मुआज़ खड़े हुए और बोले: "ऐ अल्लाह के रसूल, शायद आप हमारी ओर इशारा कर रहे हैं?" आप ने कहा: "हाँ।" तब सअद बिन मुआज़ ने अंसार की ओर से कहा: "हम आप पर ईमान लाए। आपकी बात को सत्य माना और गवाही दी कि जो कुछ आप लाए हैं वह सत्य है। और हम ने आपसे पूर्ण आज्ञापालन का वचन किया है। तो ऐ अल्लाह के रसूल, आप जो करना चाहें, कर गुज़रिए। हम सब आपके साथ हैं। उस सृष्टि निर्माता की क़सम, जिसने आपको सत्य के साथ भेजा है, यदि आप हमें समुंदर तक ले जाएँ और उसमें उतरें, तो हम भी आपके साथ उतरेंगे। हम में से एक भी व्यक्ति पीछे नहीं हटेगा। हमें कोई आपत्ति नहीं कि आप हमें कल शत्रु से लड़ने ले जाएँ। हम युद्ध में डटे रहने वाले हैं, और मुक़ाबले के वक़्त खरे उतरने वाले हैं। शायद अल्लाह आपको हम से वह कुछ दिखा दे जिससे आपकी आँखें ठंडी हो जाएँ। तो अल्लाह की बरकत के भरोसे पर हमें ले चलिए।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 615)

अंसार के नेता के इस भाषण के बाद लड़ाई का निर्णय ले लिया गया।

बद्र के युद्ध के समय पैग़म्बर (सल्ल०) का बार-बार अंसार की ओर देखना बेवजह नहीं था। इसके पीछे एक विशेष कारण था। इब्न हिशाम इस घटना का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं:

> "और जब अंसार ने अक़बा में आप से बैअत (प्रतिज्ञा) की थी, तो उन्होंने कहा था — ऐ अल्लाह के रसूल, हम आपके ज़िम्मे से उस समय तक मुक्त हैं जब तक आप हमारे क्षेत्र में नहीं आ जाते। जब आप हमारे पास आ जाएँगे, तो आप हमारी ज़िम्मेदारी में होंगे और हम आपकी रक्षा करेंगे जिस तरह हम अपने बच्चों और औरतों की रक्षा करते हैं।" (*सीरत इबन हिशाम*, खण्ड 1, पृष्ठ 615)

इसलिए पैग़म्बर (सल्ल०) को यह आशंका थी कि कहीं अंसार यह न समझ रहे हों कि उन पर आपकी मदद करना केवल उस स्थिति में है जब दुश्मन मदीना तक आ जाए, और यह उनकी ज़िम्मेदारी नहीं है कि वे अपनी बस्ती से दूर जाकर लड़ाई करें।

अंसार की पैग़म्बर (सल्ल०) से की गई बैअत (प्रतिज्ञा) प्राचीन अरबी परंपरा के अनुसार "बैअत-ए-निसा" (रक्षात्मक बैअत) थी। इस दृष्टि से मदीना से 80 मील दूर बद्र में जाकर युद्ध करना उनके लिए आवश्यक नहीं था। लेकिन अंसार ने इसे अपने लिए कोई बहाना नहीं बनाया। उन्होंने क़ानूनी सीमा से आगे बढ़कर पैग़म्बर (सल्ल०) का साथ दिया और बद्र के मैदान में जाकर क़ुर्बानी दी।

असहमति से बचकर असली मक़सद पर टिके रहना

मिस्वर बिन मखरमा कहते हैं कि पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) अपने साथियों के सामने आए और कहा:

> "अल्लाह ने मुझे सब इंसानों के लिए रहमत (दयालुता) बनाकर भेजा है। इसलिए तुम मेरी तरफ़ से अपना काम पूरा करो, अल्लाह तुम पर दया करेगा। और आपस में मतभेद मत करना जैसे हज़रत ईसा (अलैहिस्सलाम) के साथ उनके शिष्यों (साथियों) ने किया था। उन्होंने भी अपने साथियों को इसी बात की तरफ़ बुलाया था, जिस बात की तरफ़ मैं तुम लोगों को बुला रहा हूँ। जो लोग दूर थे उनका वहां जाना कठिन लगा। तो हज़रत ईसा (अलैहिस्सलाम) ने इसकी फ़र्याद अल्लाह से की। ये सुनकर पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के साथियों ने कहा: 'ऐ अल्लाह के रसूल! हम आपके काम को पूरा करेंगे, आप जहाँ चाहें हमें भेज दीजिए।'(*अल-मोजम अल-कबीर*, अल-तबरानी, खण्ड 20, पृष्ठ 8)

साझा काम में रुकावट डालने वाली सबसे बड़ी चीज़ असहमति (विवाद) होती है। मगर पैग़म्बर के साथियों को अल्लाह के डर ने इतना निस्वार्थ बना दिया था कि वे मतभेद से ऊपर उठकर अपनी जिम्मेदारियाँ पूरी करने में लगे रहते थे। इसलिए पैग़म्बर के ज़माने में उन्होंने अरब और उसके आस-पास के इलाकों में पूरी तरह से इस्लाम का संदेश पहुँचा दिया। पैग़म्बर की मृत्यु के बाद उन्होंने धन-दौलत या पद की चाह नहीं की, बल्कि वे अलग-अलग देशों की तरफ़ फैल गए। हर साथी का घर उस समय एक छोटा सा स्कूल बन गया था जहाँ वे केवल

अल्लाह की खुशी के लिए लोगों को अरबी सिखाते और क़ुरान व पैग़म्बर की बातें बताते थे।

उस समय एक तरफ़ कुछ मुसलमान रक्षा छेत्र और सियासी व्यवस्था के कामों में लगे हुए थे। सामान्य तौर पर पैग़म्बर के साथियों को भी राजनीतिक लाभ लेना चाहिए था, लेकिन उन्होंने इसकी परवाह नहीं की। उन्होंने इस्लाम के फैलने के बाद बने माहौल को धर्म की शिक्षा के लिए इस्तेमाल किया। उनके और उनके अनुयाईयों के शांतिपूर्ण पचास साल के प्रयासों से वह इलाक़ा बना, जिसे आज 'अरब दुनिया' कहा जाता है। यहाँ लोगों ने न सिर्फ़ इस्लाम को चुना, बल्कि अपनी भाषा और संस्कृति भी बदल ली।

पीछे की सीट पर बैठने के लिए तैयार हो जाना

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) का निधन हुआ तो सबसे पहला मुद्दा खलीफ़ा (उत्तराधिकारी) के चुनाव का था। अंसार (मदीना के स्थानीय मुसलमान) सकीफ़ा बनी साइदा की बैठक में जमा हो गए। उस समय सअद बिन उबादा अंसार के सबसे प्रमुख नेता थे। इसलिए बहुत से अंसार यह चाहते थे कि सअद को खलीफ़ा बनाया जाए।

जब यह बात मुहाजिरीन (मक्का से आए मुसलमानों) को पता चली तो उनके प्रमुख लोग तेज़ी से वहाँ पहुँच गए। हज़रत अबू बक्र ने भाषण देते हुए कहा:

> "(अंसार!) आपने अपनी जो अच्छाई बयान की है, आप उसके लायक़ हैं। लेकिन अरब लोग इस नेतृत्व (खिलाफ़त) को केवल कुरैश क़बीले के लिए ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे नस्ल और इलाक़े के हिसाब से सबसे बेहतर हैं। मैं आपके लिए इन दो आदमियों (उमर और अबू उबैदा बिन जर्राह) में से किसी एक पर राज़ी हूँ। आप इनमें से जिसकी चाहें बैअत (निष्ठा की प्रतिज्ञा) कर लें।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 659)

इसके बाद हज़रत उमर उठे और उन्होंने तुरंत हज़रत अबू बक्र के हाथ पर बैअत (प्रतिज्ञा) कर ली। फिर सभी मुहाजिरीन ने बैअत की, और फिर अंसार ने भी हज़रत अबू बक्र को अपना नेता मान लिया।

हालाँकि कुछ अंसार के लिए यह घटना इतनी कड़वी थी कि एक व्यक्ति ने मुहाजिरीन से कहा, "तुम लोगों ने सअद बिन उबादा को मार डाला।" (*तबक़ात इब्न सअद*, खण्ड 2, पृष्ठ 206)

अंसार ने इस्लाम के लिए बड़ी कुर्बानियाँ दी थीं। उन्होंने इस्लाम के बेसहारा कारवाँ को उस समय पनाह दी थी जब उन्हें अपने वतन से निकाला जा रहा था। इसके बावजूद अंसार इस फैसले पर राज़ी हो गए कि सत्ता में उनका कोई हिस्सा न हो और ख़लीफ़ा सिर्फ कुरैश से चुना जाए।

इसमें कोई शक नहीं कि इसके पीछे गहरी सूझ-बूझ काम कर रही थी। कुरैश कई सौ सालों से अरब के नेता थे। ऐसी हालत में अगर किसी ग़ैर-कुरैश को खलीफ़ा बनाया जाता, तो वह समाज की व्यवस्था नहीं संभाल पाता। यह अंसार की सच्चाई को समझने की ताक़त थी कि उन्होंने अपनी यह कमी पहचानी और एकतरफ़ा फैसले को भी स्वीकार कर लिया। लेकिन यह सच्चाई को स्वीकारने की इतनी दुर्लभ मिसाल है कि इसका कोई दूसरा उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

भावनाओं से ऊपर उठकर फैसला करने की ताक़त

उहुद की लड़ाई इस्लाम की सबसे कठिन लड़ाइयों में से थी। कुरैश के सारे योद्धा गुस्से से भरे हुए मुसलमानों पर टूट पड़े थे। ठीक उसी समय जब जंग ज़ोरों पर थी, पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने अपनी तलवार हाथ में लेकर कहा, "कौन है जो इस तलवार को उसके हक़ के साथ लेगा?" कुछ लोग आगे बढ़े, लेकिन आपने उन्हें तलवार नहीं दी। फिर अबू दुजाना सामने आए और पूछा, "ऐ अल्लाह के रसूल! इस तलवार का हक़ क्या है?" आपने कहा, "इससे दुश्मन से ऐसे लड़ो कि वह झुक जाए।"

अबू दुजाना ने कहा, "मैं इसे उसके हक़ के साथ लेता हूँ।" और आपने उन्हें तलवार दे दी।

अबू दुजाना तलवार लेकर चले। उस वक्त उनके ऊपर ऐसा जोश छा गया कि वे अकड़ कर चलने लगे। यह देखकर पैग़म्बर ने कहा, "इस तरह की चाल अल्लाह को पसंद नहीं, सिवाय ऐसे मौक़े पर।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 66)

अबू दुजाना ने अपने सिर पर लाल कपड़ा बाँध लिया, यह इस बात का संकेत था कि वे मौत से डरते नहीं और जंग के लिए निकल चुके हैं। वे बेहद बहादुरी से लड़ रहे थे। जो भी सामने आता, उनकी तलवार का निशाना बनता। फिर एक चौंकाने वाली घटना हुई, जिसे खुद अबू दुजाना ने इस तरह बयान किया:

> "मैंने एक व्यक्ति को देखा जो लोगों को बहुत तेज़ी से लड़ने के लिए उकसा रहा था। मैं उसकी ओर बढ़ा। जब मैंने उस पर तलवार उठाई तो वह चिल्लाया — 'हाय तबाही!' तब मुझे पता चला कि वह एक औरत है। तो मैंने पैग़म्बर की तलवार को यह इज़्ज़त दी कि उससे मैं किसी औरत को न मारूँ।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 69)

एक और सहाबी ने कहा, "मैंने देखा कि अबू दुजाना की तलवार हिंद बिन्त उत्बा के सिर पर उठ चुकी थी, लेकिन फिर उन्होंने अपनी तलवार हटा ली।" (*सीरत इब्न हिशाम*, खण्ड 2, पृष्ठ 69)

पैग़म्बर (सल्ल०) की जंग के बारे में हिदायतों में से एक हिदायत यह थी कि औरतों, बच्चों और बूढ़ों को न मारा जाए। अबू दुजाना ने लड़ाई के शोर-शराबे में भी इसे याद रखा और अपनी चलती हुई तलवार को रोक लिया।

इस घटना से पता चलता है कि पैग़म्बर के साथियों को अपनी भावनाओं पर कितना ज़बरदस्त नियंत्रण था। उनके काम उनके सोच-विचार के अधीन थे, भावनाओं के नहीं। वे सबसे ज़्यादा उत्तेजित मौके पर भी ठंडे दिमाग से फैसला

कर सकते थे। वे गुस्से और बदले की आख़िरी हद तक पहुँचकर भी तुरंत अपना इरादा बदल सकते थे। एक ही दिशा में तेज़ी से दौड़ते हुए भी अचानक दिशा बदल सकते थे।

यह बात सुनने में आसान लगती है, लेकिन असल में यह इतनी मुश्किल है कि केवल वही कर सकता है जो अल्लाह से इस तरह डरता हो जैसे कि अल्लाह अपने पूरे रोब और ताक़त के साथ उसके सामने खड़ा हो और वह उसे अपनी खुली आँखों से देख रहा हो।

पेड़ की तरह बढ़ना

क़ुरान में तौरेत (The Torah) और इंजील (The Gospel of Jesus) के दो उदाहरणों का ज़िक्र है। तौरेत वाला उदाहरण पैग़म्बर के साथियों की व्यक्तिगत विशेषताओं के बारे में है। इसके बाद इंजील के हवाले से उनके सामूहिक गुण को इन शब्दों में बताया गया है:

> "और इंजील में उनकी मिसाल उस खेती की तरह दी गई है जिसने अपना अंकुर निकाला, फिर उसे मज़बूती दी, फिर वह मोटा हुआ, फिर अपने तने पर खड़ा हो गया। यह किसानों को अच्छा लगता है ताकि इनकार करने वाले व्याकुल हों। अल्लाह ने उन लोगों से, जो इन में से ईमान लाए और अच्छे काम किए, माफ़ी और बड़ा इनाम देने का वादा किया है।" (क़ुरान, 48:29)

मौजूदा इंजील (बाइबल) में यह उदाहरण इन शब्दों में मिलता है:

> "और उसने कहा, ख़ुदा का राज्य ऐसा है जैसे कोई आदमी ज़मीन में बीज बोए और रात को सोए और दिन को जागे। और वह बीज इस तरह उगे और बढ़े कि वह न जाने। ज़मीन अपने आप फल देती है — पत्ती, फिर बाल, फिर बालियों में तैयार दाने। फिर जब अनाज पक जाता है तो वह तुरंत हँसिया चलाता है क्योंकि काटने का समय आ पहुँचता है।" (मरकुस 4:26-32)

इंजील और क़ुरान के इस उदाहरण में यह बताया गया है कि आख़िरी पैग़म्बर के साथियों की सामूहिक तरक्क़ी एक पेड़ की तरह होगी। इसकी शुरुआत बीज से होगी, फिर वह धीरे-धीरे बढ़ेगा और अपना तना मज़बूत करते हुए ऊपर उठेगा, यहाँ तक कि वह प्राकृतिक गति से क्रमशः बढ़ते हुए अपनी ऊँचाई तक पहुँच जाएगा।

इसकी तरक्क़ी इतनी शानदार होगी कि एक तरफ़ ईमान वाले उसे देखकर खुश होंगे और दूसरी तरफ़ विरोधी लोग जल-भुन जाएंगे, क्योंकि यह मामला इतना मज़बूत होगा कि उनके विरोध का उस पर कोई असर नहीं होगा।

इस्लाम को पेड़ की तरह बढ़ाने के लिए यह अल्लाह की योजना थी, जो पैग़म्बर के साथियों के ज़रिए पूरी हुई। लेकिन यह कोई आसान काम नहीं था। इसके लिए ज़रूरी था कि वे जल्दबाज़ी करने के बजाय धैर्य को अपनाएं। ज़रूरी था कि वे तात्कालिक भावनाओं में आकर कोई क़दम न उठाएं। ज़रूरी था कि वे अपनी चाहतों के बजाय प्राकृतिक नियमों का पालन करें। ज़रूरी था कि वे इस बात की परवाह किए बिना काम करें कि उसका नतीजा उनकी ज़िंदगी में सामने आता है या उनकी मृत्यु के बाद।

"इस्लाम के पेड़" को उगाने के लिए ज़रूरत थी कि वे अपने जज़्बात (भावनाओं) को दबाएं और अपनी उम्मीदों को कुर्बान करें।

पैग़म्बर के साथियों ने यह सब किया। उन्होंने किसी तरह की सुरक्षा या अपने लिए कोई गारंटी के बिना खुद को पूरी तरह अल्लाह की योजना के हवाले कर दिया। यही वजह थी कि ज़मीन पर इस्लाम एक ऐसा बाग़ बन गया जो हमेशा फलता-फूलता रहे और जिसे दुनिया की कोई ताक़त नष्ट न कर सके।

भाग चार

आधुनिक दौर में पैग़म्बर के संदेश की महत्त्वता

पैग़ंबर-ए-इस्लाम को ख़ास तौर पर "इज़हार" (अल्लाह के संदेश को स्पष्ट तौर पर पहुँचाने) की ज़िम्मेदारी दी गई थी। आपके लाए हुए धर्म (इस्लाम) के लिए यह निर्धारित किया गया है कि वह अपनी मूल शिक्षाओं और सच्चाई में सदा सुरक्षित और संरक्षित रहेगा। यही संरक्षण और उसका असली सूरत में होना आपकी उम्मत (अनुयायियों) से भी जुड़ा रहेगा।

पैग़म्बर के लिए अल्लाह ने ऐसा किया कि ढाई हज़ार साल की एक ख़ास योजना के ज़रिए वह सारे साधन (ज़रिए) मुहैया किए जिनकी मदद से आप अल्लाह के धर्म को संरक्षित और सुरक्षित बना सके। अल्लाह का यही तरीक़ा आपकी उम्मत के साथ भी अपनाया गया है।

फलस्वरूप पिछले हज़ार साल की प्रक्रिया के नतीजे में अल्लाह ने वे अनुकूल हालात पूरी तरह से उपलब्ध कर दिए हैं, जो आधुनिक दौर में इस्लाम की बढ़त की नींव बन सकते हैं। अगर पैग़म्बर के मानने वाले इन अनुकूल हालात को बुद्धिमानी और धैर्य के साथ इस्तेमाल करें, तो अल्लाह की मदद का वादा फिर से पैग़म्बर के मानने वालों पर उसी तरह सच हो सकता है, जैसा कि वह स्वयं पैग़म्बर पर पूरा हुआ था।

अमेरिका से एक विश्वकोश (एनसाइक्लोपीडिया) प्रकाशित हुआ है जिसका नाम है: "मनुष्य और उसके ख़ुदा (*Man and His Gods*)"। इस किताब में अलग-अलग धर्मों पर लेख हैं। इस्लाम पर जो लेख है, उसमें एक ईसाई लेखक ने इस्लामी क्रांति के बाद पैदा होने वाले शानदार नतीजे को इन शब्दों में लिखा:

> "इसके प्रकट होने से मानव इतिहास की दिशा बदल गई।"
> (*Man and His Gods*, p. 389)

यह एक पश्चिमी लेखक की ज़बान से इस्लामी क्रांति के उन गहरे प्रभावों को स्वीकार करने का बयान है, जिनके कारण इतिहास में ऐसे नए रास्ते खुले कि इस्लाम को दूसरे धर्मों पर बढ़त देना उतना ही आसान हो गया जितना बारिश के बाद खेत में फ़सल उगाना।

पैग़म्बर मोहम्मद (सल्ल०) और उनके साथियों के ज़रिए जो क्रांति आई वह बुनियादी रूप से एकेश्वरवाद (तौहीद) और आख़िरत पर आधारित धार्मिक क्रांति थी, लेकिन इसने बहुत से दूरगामी सामाजिक और सांसारिक नतीजे भी पैदा किए। पैग़म्बर के लाए हुए संदेश का सबसे बड़ा सामाजिक असर यह था कि इसने पुराने ज़माने की सामाजिक और सामूहिक व्यवस्था को इस तरह बदल डाला कि वे सारी रुकावटें ही ख़त्म हो गईं जो पहले सच्चाई की बात कहने को बहुत कठिन बना देती थीं।

जब सूरह तौबा (बराअत) नाज़िल हुई, तो पैग़म्बर मोहम्मद (सल्ल०) ने हज़रत अली को मक्का भेजा ताकि वह लोगों में ऐलान कर दें कि इस साल के बाद कोई भी बहुदेववादी हज नहीं कर सकेगा। हज़रत अली कहते हैं कि मैं हज की सभाओं में ऊँची आवाज़ में यह ऐलान करता फिरता था, यहाँ तक कि मेरी आवाज़ बैठ गई। (*सुनन अल-नसई*, हदीस संख्या 3935)

लेकिन आज के दौर में लाउडस्पीकर आ जाने के बाद यह कोई मुश्किल काम नहीं रहा। यह एक सीधी और आसान मिसाल है जिससे समझा जा सकता है कि आज के ज़माने में सच्चाई का संदेश पहुँचाना पहले की तुलना में कितना आसान हो गया है। इस्लाम का संदेश पहुँचाने के दो बड़े दौर हैं:

पैग़म्बर मोहम्मद (सल्ल०) के आने से पहले का दौर और उनके आने के बाद का दौर। पैग़म्बर से पहले जो किताबें अल्लाह ने भेजीं, उनकी हिफ़ाज़त की ज़िम्मेदारी उन्हीं लोगों पर थी जिनके पास वे किताबें भेजी गई थीं। इसी वजह से क़ुरान में उनके लिए यह कहा गया है:

> "उन्हें अल्लाह की किताब का संरक्षक बनाया गया था।" (क़ुरान, 5:44)

लेकिन क़ुरान के बारे में खुद अल्लाह ने कहा:

> "इस ज़िक्र (क़ुरान) को हमने उतारा है और हम ही इसकी रक्षा करने वाले हैं।" (क़ुरान, 15:9)

पैग़म्बरी देने के साथ ही अल्लाह की योजना यह थी कि बहुदेववाद के प्रभाव को ख़त्म किया जाए और एकेश्वर्वाद को दुनिया में सबसे श्रेष्ठ विचार का स्थान प्रदान किया जाए। (क़ुरान, 8:39)

यह काम बहुत सारे अलग-अलग संसाधनों की मदद चाहता था जो केवल अल्लाह ही मुहैया कर सकता है। इसलिए अल्लाह ने ढाई हज़ार साल के लंबे इतिहास के दौरान वे सभी अनुकूल हालात बना दिए, जिनका इस्तेमाल करके पैग़ंबर (सल्ल०) ने अपनी शिक्षाओं से उस युग के धार्मिक विचारों को एक नई दिशा दी और एकेश्वरवाद के विचारों को दुनिया में सबसे ऊँचे मक़ाम पर पहुँचा दिया।

पैग़म्बर और उनके साथियों की कोशिशों से आई क्रांति के बाद बहुदेववाद अपनी अहमियत खो बैठा। लेकिन आज के दौर में फिर वही हाल हो गया है—इस बार एकेश्वरवाद ने अपनी श्रेष्ठता खो दी है। अब नास्तिकता (इल्हाद) यानी बिना अल्लाह और बिना धर्म की सोच सबसे असरदार सोच बन गई है। इसके सामने एकेश्वरवाद का विचार मानो पीछे की पंक्ति में चला गया है।

अल्लाह को निश्चय ही यह पहले से मालूम था कि भविष्य में ऐसा नास्तिक दौर आएगा। इसलिए अल्लाह की मदद फिर से सक्रिय (active) हुई। पिछले हज़ार साल के इतिहास में अल्लाह ने फिर से वैसे हालात बनाने शुरू किए जो अंततः एकेश्वरवाद की पुनर्स्थापना के लिए अनुकूल परिस्थिति तैयार करने वाले बने। यह प्रक्रिया अब अपने पूरे होने की मंज़िल पर पहुँच चुकी है। आज, अगरचे दिखने में नास्तिक सोच का दबदबा है, मगर वह सारे अनुकूल साधन मौजूद हैं जिनके ज़रिए एक बार फिर एकेश्वरवाद को दुनिया का सबसे श्रेष्ठ विचार बनाया जा सकता है।

1. हज़रत इब्राहीम ने क़रीब चार हज़ार साल पहले प्राचीन इराक़ की राजधानी ऊर (Ur) के लोगों को बताया कि एक ही ख़ुदा है जो लाभ और हानि का मालिक है। ख़ुदाई में उसका कोई साझी नहीं। इसलिए तुम उसी से ज़रूरतें माँगो और उसी की उपासना करो। इस एकेश्वरवाद के ख़िलाफ़ उस समय के बहुदेववादी बादशाह नमरूद कलदानी ने इतना सख़्त रद्द-ए-अमल दिखाया कि उसने आपको धधकती हुई आग में डाल दिया। आज भी दुनिया के हर देश में बहुदेववाद का विचार पाया जाता है, लेकिन आज अगर आप किसी देश में इब्राहीमी संदेश लेकर उठें तो मौजूदा ज़माने का कोई शासक आपके साथ इतना कठोर व्यवहार नहीं करेगा।

इसकी वजह शासन-दर्शन की तब्दीली है। नमरूद के समय में शिर्क एक राजनीतिक विश्वास की हैसियत रखता था, जबकि आज वह सिर्फ़ एक सीमित धार्मिक विश्वास है। पुराने ज़माने में आम तौर पर बहुदेववादी राजनीतिक विचार दुनिया में प्रचलित था। नमरूद, पुराने दौर के दूसरे बादशाहों की तरह, इसी विचार की बुनियाद पर शासन करता था। उसका कहना था कि वह सूरज-देवता का प्रतीक है, इसलिए वह दूसरों से बेहतर है और उसे दूसरों पर शासन करने का अधिकार खुदा से प्राप्त है। इसके विपरीत, मौजूदा दौर के शासक इस तरह के शासन-दर्शन से कोई ताल्लुक़ नहीं रखते। उन्होंने जनमत के आधार पर अपने लिए शासन का अधिकार प्राप्त किया है, न कि किसी धार्मिक विश्वास की बुनियाद पर। यही वजह है कि एकेश्वरवाद की शिक्षा में मौजूदा शासकों को अपने सत्ता-सिंहासन के लिए कोई ख़तरा नज़र नहीं आता, जबकि नमरूद और पुराने दौर के दूसरे बादशाहों को एकेश्वरवाद का विचार फैलने में अपनी राजनीतिक जड़ कटती हुई दिखाई देती थी।

पुराने ज़माने में जब भी कोई पैग़म्बर आता, तो शुरुआत में ही उस समय की सत्ता से उसका टकराव हो जाता और उसकी राह में कई अनावश्यक रुकावटें खड़ी हो जातीं। इसकी वजह यह थी कि राजनीति और चमत्कारी मान्यताएँ आपस में जुड़ी हुई थीं। उस दौर के बादशाह, लोगों को यह यक़ीन दिलाकर राज करते थे कि वे देवताओं की संतान हैं या उनमें स्वयं ख़ुदा उतर आया है। ऐसे माहौल में जब ख़ालिस एकेश्वरवाद की आवाज़ बुलंद होती तो उन्हें लगता कि यह उनके राज करने के हक़ को बेअसर बना रही है इसी सोच की जटिलता (complexity) उन्हें सच्चाई की तरफ़ बुलाने वालों से टकरा देती। इस्लाम ने यह साबित किया कि हर तरह की चमत्कारी हैसियत सिर्फ़ ख़ुदा को ही हासिल है। उसने ऐलान किया कि सब इंसान बराबर हैं और किसी को दूसरे पर कोई ऊँच-नीच का दर्जा नहीं। इस तरह इस्लाम ने राजनीति को आस्था से अलग कर दिया। अब राज करने का अधिकार किसी को जन-मत से मिलता है, न कि ख़ुदा से किसी रहस्यमय रिश्ते के आधार पर।

इसकी मिसाल ऐसी है जैसे पुराने दौर में कुछ लोग यह बात मशहूर करके अपना चिकित्सा-संबंधी व्यवसाय चलाते थे कि उन्होंने एक जिन्न को वश में कर रखा

है और वह उनके पास आकर उन्हें चिकित्सा के रहस्य बता जाता है। ऐसे माहौल में अगर कोई व्यक्ति यह आवाज़ बुलंद करे कि चिकित्सा की शिक्षा मेडिकल कॉलेज में पढ़ाई जाती है, न कि जिन्नों के ज़रिए हासिल होता है, तो उस क़िस्म के हकीम इस व्यक्ति के सख़्त विरोधी हो जाएँगे। मगर मौजूदा दौर के MBBS डॉक्टर को ऐसे आन्दोलन से कोई दुश्मनी न होगी।

2. पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के लाए हुए इंक़लाब के ज़रिए इतिहास का रुख़ मोड़ने की प्रक्रिया सातवीं सदी ईस्वी में शुरू हुई थी। अब वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। धर्म की शिक्षा देने वालों के लिए इंसानी संसाधनों में हर तरह के सहायक साधन मौजूद हैं। आधुनिक क़ानूनों और सामाजिक बदलावों ने यह मौका दे दिया है कि धर्म के बारे में खुलकर बात की जा सके, और अब कोई फिरऔन या नमरूद इसे रोकने के लिए सामने नहीं है। आज जो नई जानकारी और तथ्य इंसान के पास हैं, उन्होंने ऐसे तर्क एकत्र कर दिए हैं जो धर्म की सच्चाई को एकदम वैज्ञानिक ढंग से साबित कर सकते हैं।

पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के लाए हुए इंक़लाब के ज़रिए इतिहास का रुख़ मोड़ने की प्रक्रिया सातवीं सदी ईस्वी में शुरू हुई थी। अब वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। धर्म की शिक्षा देने वालों के लिए अब स्वयं मानव-भंडार में हर तरह के सहायक साधन मौजूद हैं। आधुनिक क़ानूनों और सामाजिक बदलावों ने यह मौका दे दिया है कि धर्म के बारे में खुलकर बात की जा सके, और अब कोई फिरऔन या नमरूद इसे रोकने के लिए सामने नहीं है। आज जो नई जानकारी और तथ्य इंसान के पास हैं, उन्होंने ऐसे तर्क एकत्र कर दिए हैं जो धर्म की सच्चाई को एकदम वैज्ञानिक ढंग से साबित कर सकते हैं।

आज के दौर में एक बड़ा बौद्धिक इंक़लाब आया है, जिसे आम तौर पर वैज्ञानिक क्रांति कहा जाता है। इस आधुनिक वैज्ञानिक क्रांति ने इंसानी इतिहास में पहली बार ऐसी सोच और बदलाव पैदा किए हैं जो एकेश्वरवाद के संदेश के बिल्कुल अनुकूल हैं। अगर इन्हें सही तरह से इस्तेमाल किया जाए, तो सिर्फ़ लेखों और भाषणों के ज़रिए वही मक़सद पूरा किया जा सकता है जिसके लिए पुराने ज़माने में तलवार उठानी पड़ती थी।

असल बात यह है कि आधुनिक वैज्ञानिक क्रांति, इस्लामी क्रांति का ही एक अतिरिक्त नतीजा है। अल्लाह ने अपने आख़िरी पैग़म्बर के लाए इंक़लाब के ज़रिए ऐसे कारण पैदा किए जो इतिहास में एक प्रक्रिया के तौर पर चल पड़े। यह बदलाव लगातार चलता रहा और आख़िरकार उस क्रांति तक पहुँचा जिसे आज हम आधुनिक वैज्ञानिक क्रांति कहते हैं। यानी, पहले दौर में अल्लाह ने बहुदेववाद पर एकेश्वरवाद को ऊँचा दर्जा दिया, और उसी प्रक्रिया के अंदर वे कारण भी पैदा कर दिए जो आगे चलकर नास्तिकता के मुक़ाबले में एकेश्वरवाद को फिर से मज़बूती देने वाले साबित हो सकें।

इस्लाम के ज़रिए आए एकेश्वरवादी इंक़लाब से पहले पूरी दुनिया में बहुदेववाद का दबदबा था। शिर्क यानी बहुदेववाद असल में सामने दिखने वाली चीज़ों की पूजा करने का नाम था। इंसान ने जो कुछ भी अपनी आँखों के सामने देखा — चाहे वह आसमान का सूरज हो या ज़मीन का बादशाह — उसी को पूजना शुरू कर दिया। इसी वजह से उस दौर में वैज्ञानिक खोज और शोध का काम आगे नहीं बढ़ सका। अर्नॉल्ड टॉयनबी (1889–1975) के शब्दों में, जब प्रकृति के दृश्य खुद पूजा की वस्तु (object of worship) थे, तो वे शोध की वस्तु (object of investigation) कैसे बन सकते थे

इस्लाम ने जब तौहीद (एकेश्वरवाद) को तर्क की बुनियाद पर साबित कर दिया तो सृष्टि की सारी चीज़ें अल्लाह की बनाई हुई लगने लगीं। इस बदलाव ने यह सम्भव कर दिया कि चीज़ों पर खोज-बीन का सिलसिला चल सके। यह काम आरम्भिक रूप में पहले ही दौर में शुरू हो गया था। एक बार चाँद ग्रहण के मौक़े पर पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने कहा कि सूरज और चाँद का ग्रहण अल्लाह की निशानियों में से दो निशानियाँ हैं; यह किसी बड़े आदमी के जन्म या मौत की वजह से नहीं होते। (*सहीह अल-बुख़ारी*, हदीस संख्या 1043) इस तरह आपने भौतिक और मानवीय बड़ाई—दोनों का खण्डन कर दिया। यही वैचारिक लहर आस्था से अलग होकर यूरोप पहुँची और आख़िरकार आधुनिक परिवर्तन का कारण बनी।

1. यह बदलाव एक बड़ा फ़ायदा लेकर आया — अंधविश्वास का दौर पीछे छूट गया। अंधविश्वास का मतलब है तथ्य और साक्ष्य पर राय बनाने के बजाय कल्पनाओं और अंदाज़ों के आधार पर राय बना लेना। जैसे यह मान लेना कि किसी बड़े व्यक्ति की मृत्यु होने पर सूरज या चाँद पर ग्रहण लग जाता है। ऐसी सोच सच्चाई तक पहुँचने में बाधा बनती है। जब सोच तथ्यों पर नहीं बल्कि पहले से बनी धारणाओं पर आधारित होती है, तो किसी ठोस दलील से ही किसी एक विचार को सही और दूसरे को ग़लत ठहरा दिया जाता है। उदाहरण के लिए, इस्लाम ऐतिहासिक दृष्टि से एक संरक्षित धर्म है, जबकि अन्य धर्मों के पास ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। अंधविश्वास के ज़माने में इंसान इस अंतर को समझ नहीं पाता था, लेकिन आधुनिक युग ने तथ्यों को महत्त्व देना सिखाया। इसी सोच ने 'उच्च समालोचना' (higher criticism) जैसी एक नई विद्या को जन्म दिया, जिसने यह स्पष्ट कर दिया है कि ऐतिहासिक रूप से क़ुरान संरक्षित और सुरक्षित है।

2. वैज्ञानिक सोच ने ब्रह्मांड को प्रयोग और निरीक्षण की रोशनी में जानने की कोशिश की। इसके नतीजे में ब्रह्मांड में छिपे ऐसे प्राकृतिक तथ्य इंसान की जानकारी में आए जो इस्लाम की शिक्षाओं की ऊँचे स्तर पर पुष्टि करते हैं। मिसाल के तौर पर शोध से पता चला कि ब्रह्मांड में हर जगह एक ही प्राकृतिक क़ानून काम कर रहा है; जो नियम धरती पर लागू है वही नियम दूर-दराज़ तारों-ग्रहों पर भी लागू है। इससे साफ़ हो जाता है कि इस सृष्टि का मालिक सिर्फ़ एक है; दो या अनेक मालिक नहीं।

3. पुराने समय में तौहीद (एकेश्वरवाद) को अपनाने में एक बड़ी बौद्धिक रुकावट क़दीम फ़लसफ़ा यानी पुराना दर्शन-शास्त्र (philosophy) भी था। उस दौर में दर्शन-शास्त्र को सबसे ऊँचा ज्ञान माना जाता था और पढ़े-लिखे लोगों की सोच भी उसी से बनती थी। इसी वजह से एकेश्वरवाद के रास्ते में एक बड़ी बनावटी दीवार खड़ी हो गई थी।

दर्शन-शास्त्र का लक्ष्य हमेशा अंतिम सत्य को खोजना रहा, लेकिन सच यह है कि लगभग पाँच हज़ार साल के लंबे और शानदार इतिहास के बावजूद वह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सका। इसकी सबसे बड़ी वजह यह थी कि दर्शन-शास्त्र इंसान की सीमाएँ नहीं समझ पाया। उसने पूरी कोशिश की कि अंतिम सत्य तक पहुँचे, लेकिन इंसान अपनी सीमित क्षमताओं के कारण उस सत्य तक ख़ुद नहीं पहुँच सकता था।

इस फ़ल्सफियाना (दार्शनिक) सोच के कारण हज़ारों साल तक इंसान यह चाहता रहा कि एकेश्वरवाद की बुनियाद जिन मूल आस्थाओं पर खड़ी है, उन्हें इंसान के लिए पूरी तरह ज्ञात और प्रत्यक्ष बना दिया जाए। लेकिन ये सब अदृश्य सच्चाइयाँ थीं और इंसान अपनी मौजूदा क्षमताओं के साथ इन अदृश्य सच्चाइयों को पूरी तरह नहीं समझ सकता।

धार्मिक नज़रिए से देखें तो आज के दौर के विज्ञान ने सबसे बड़ा काम ये किया है कि उसने पुरानी धारणाओं को तोड़ दिया। अब ये बात साफ़ हो गई है कि इंसान की समझ और उसकी ताकत सीमित है — वो अपनी हदों की वजह से सच को पूरी तरह नहीं जान सकता। दर्शन शास्त्र (philosophy) की रिवायती सोच अब विश्व स्तर पर बेमाना होती जा रही है, जबकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण ज्ञान के क्षेत्र में प्रमुख स्थान प्राप्त कर चुका है।

इस बदलती सोच ने एकेश्वरवाद के लिए रास्ता आसान कर दिया। अब इस विचार को पूरी बौद्धिक (intellectual) स्पष्टता मिल गई है कि इंसान के पास कोई और रास्ता नहीं, सिवाय इसके कि वह सर्वोच्च सच्चाई जानने के लिए पैग़म्बर की दी हुई शिक्षा और संदेश पर भरोसा करे। अब यह माँग पूरी तरह ग़लत लगती है कि ख़ुदा, वह्य (अल्लाह के संदेश) और आख़िरत को हमें आँखों से दिखाया जाए, तब ही हम उन पर ईमान लायेंगे।

मालूम इतिहास में ये पहला मौक़ा है जब ख़ुद इंसानी इल्म ने ये साबित किया है कि इंसान का ज्ञान सीमित है और हमेशा सीमित रहेगा। जब इंसान विज्ञान के तरीक़ों से ब्रह्मांड की खोज करता है, तो उसपर ये बात खुलती है कि यह कायनात

इतनी पेचीदा है कि उसकी सीमित बुद्धि इसे पूरी तरह नहीं समझ सकती। विज्ञान की यह खोज इस्लामी नज़रिए से बहुत अहम है, क्योंकि इससे पैग़म्बर की अहमियत साबित होती है। इंसान सच्चाई को पूरी तरह जानना चाहता है, लेकिन अपनी सीमित क्षमता की वजह से वह हमेशा कुछ हद तक ही समझ पाता है। यह खालीपन साफ़ बताता है कि इंसान को एक ऊँचे मार्गदर्शक की ज़रूरत है — और वही मार्गदर्शक पैग़म्बर हैं। इंसानी सीमाओं को मान लेने के बाद विज्ञान ने पैग़म्बर की ज़रूरत को बौद्धिक स्तर पर साबित कर दिया है।

पुराने समय में लोगों को अपने विचार खुलकर कहने की आज़ादी नहीं थी। इसकी वजह यह थी कि बादशाहों और समाज में ऊंचे दर्जे वाले लोगों को पवित्र माना जाता था। जो लोग ऊँचे दर्जे पर पहुँच जाते, उनकी राय सबसे ऊपर समझी जाती और वे जैसे चाहते, दूसरों को अपनी मर्ज़ी का पाबंद बनाते। तौहीद यानी एकेश्वरवाद के इंक़लाब ने इंसानों की ऊँच-नीच को ख़त्म कर दिया और ऐलान किया कि कोई इंसान दूसरे से बड़ा नहीं है। इसके बाद एक नई सोच शुरू हुई जो आगे चलकर यूरोप में लोकतंत्र के रूप में पूरी हुई। लोकतंत्र ने सबको बराबर माना और हर व्यक्ति को यह नैतिक अधिकार दिया कि वह अपने ज़मीर (अंतरात्मा) के अनुसार जो चाहे लिख और बोल सके। इस बदलाव ने इतिहास में पहली बार यह मुमकिन बनाया कि धार्मिक विचारों और उसकी शिक्षाओं को खुलकर बयान किया जा सके।

विज्ञान ने आज के इंसान के लिए ख़ुदा की बहुत-सी भौतिक नेमतें खोल दी हैं जो हज़ारों बरस से कायनात में छिपी थीं। इनमें इस्लाम की शिक्षा देने के लिहाज़ से सबसे अहम आधुनिक संचार के साधन हैं—प्रेस, रेडियो, टेलीविज़न और तरह-तरह की तेज़ रफ़्तार सवारियाँ। ये साधन इस्लाम के हक़ में बड़ी नेमत हैं; इन्हें इस्तेमाल कर के इस्लाम के संदेश को वैश्विक पैमाने पर फैलाया जा सकता है।

इस्लाम का संदेश लोगों तक पहुँचाने के लिए जो अनुकूल मौक़े आज मौजूद हैं, वे पिछले हज़ार साल की एक लंबी प्रक्रिया के नतीजे में बने हैं। जैसे पहले दौर में अल्लाह ने ढाई हज़ार साल की प्रक्रिया से इस्लाम की कामयाबी के हालात तैयार

किए थे, वैसे ही अब उसने फिर से हज़ार साल की प्रक्रिया से दूसरी सफलता के हालात बना दिए हैं। लेकिन ये अनुकूल मौक़े अपने आप हक़ीक़त नहीं बनेंगे। इन्हें सच्चाई में बदलने के लिए जागरूक और समर्पित लोगों के एक समूह की ज़रूरत है। अगर ऐसा समूह तैयार हो गया, तो क़रीबी भविष्य में इस्लाम को फिर से वही बौद्धिक बढ़त मिल सकती है जो पहले दौर में बहुदेववाद के मुक़ाबले में मिली थी।

ऊपर जिन संभावनाओं का ज़िक्र किया गया है, वे लगभग सौ साल से ऐसे किसी समूह का इंतज़ार कर रही हैं, लेकिन अफ़सोस कि अब तक ऐसा कोई समूह तैयार नहीं हो पाया। इसमें शक नहीं कि पिछले सौ साल में बहुत-सी जमातें और आंदोलन उभरे हैं, लेकिन वे ज़्यादातर सिर्फ़ हालात, ख़ासकर राजनीतिक हालात के जवाब में पैदा हुए। वे उस रब्बानी चेतना (conscious) के आधार पर नहीं बने, जो पिछले हज़ार साल से लगातार काम कर रही थी और चौदहवीं सदी हिजरी में अपने समापन तक पहुँची।

पैग़म्बर की जीवनियों में आता है कि जब बद्र के मैदान में ताक़तवर बहुदेववादी बज़ाहिर कमज़ोर ईमान वालों पर टूट पड़े, तो पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) गहरी चिंता में सज्दे में गिर गए और अल्लाह से मदद की दुआ करने लगे। उस नाज़ुक घड़ी में उनकी ज़बान से जो वाक्य निकले, उनमें एक था: "ऐ अल्लाह, अगर यह गिरोह ख़त्म हो गया तो इसके बाद धरती पर तेरी इबादत न होगी।" (*सहीह मुस्लिम*, हदीस संख्या 1763)

यह कोई बढ़ा-चढ़ाकर कही गई बात न थी। सच्चाई यह है कि वे तीन-सौ तेरह ज़िंदगियाँ जो बद्र की जंग में बिना साधन के खड़ी हुई थीं, साधारण लोग नहीं थे; यह वही समूह था जिस पर ढाई हज़ार साल की तारीख़ आकर पूरी हुई थी। आज फिर एक नया समूह चाहिए जिस से पिछले हज़ार साल की तारीख़ जुड़ी हो, जो अपनी समझ के लिहाज़ से उस दौर की वारिस हो, जो अपने आचरण के लिहाज़ से इन संभावनाओं को सच्चाई में बदलने का अटल इरादा दिल में संजोए

हो, जो गंभीर फ़ैसले की उस सीमा तक पहुँच चुका हो जहाँ इंसान इस लायक़ बन जाता है कि वह अपने मक़सद से पूरी तरह जुड़ा रहे और कोई भी बाहरी घटना उसे उसके निशाने से हटा न सके। यही वे लोग हैं जो अल्लाह के दाँतेदार चक्र (Cogwheels) में अपना दाँतेदार चक्र (Cogwheels) फिट करेंगे और आखिरकार यक़ीनी कामयाबी तक पहुँचेंगे।

नायकों की नर्सरी

पैग़म्बर (सल्ल०) की जीवनी में लिखा है कि बद्र के मौक़े पर जब 313 कमज़ोर-से दिखने वाले ईमान वालों पर एक हज़ार शक्तिशाली विरोधियों ने हमला किया, तो पैग़म्बर (सल्ल०) लड़ाई के मैदान में एक छप्पर के नीचे सज्दे में गिर पड़े और मदद की दुआ करने लगे। उस घड़ी उन्होंने कहा: "ऐ अल्लाह, यह समूह अगर आज ख़त्म हो गया तो उसके बाद धरती पर तेरी इबादत न होगी।" (*सीरतुन-नबी*, इब्न क़सीर, खण्ड 2, पृष्ठ 411)

यह अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि सच्चाई का सहज और स्पष्ट बयान है। वे 313 लोग साधारण व्यक्ति नहीं थे; वही वह ऐतिहासिक समूह था जिसे "सबसे उत्कृष्ट उम्मत" कहा गया। लगभग ढाई हज़ार वर्षों तक चले विशेष हालात में पहले एक जीवंत और सक्रिय क़ौम का निर्माण हुआ, और फिर उसी में से एक चयनित दल उभरा, जिसने उस समय शत्रुओं की तलवारों के सामने अडिग होकर मुकाबला किया।

दुनिया एक आज़माइश की जगह है, और यहाँ जो कुछ भी होता है, वह कारणों और वजहों के ज़रिए होता है। मतलब यह कि अगर वह समूह ख़त्म हो जाता, तो दुनिया के चलन के हिसाब से फिर से नए 'ढाई हज़ार साल' लगते, जिनमें वक़्त घूमता, हालात बनते और कई कारणों के सिलसिले से गुज़रकर आखिर में वह लोग तैयार होते जो उस बड़े मक़सद को पूरा करने के लिए ज़रूरी हैं।

आज के समय में इस्लाम की पुनर्स्थापना — यानी पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) की नबूवत के दूसरे दौर की उन्नति के लिए फिर से एक ऐसे समूह की ज़रूरत है, जो पिछले हज़ार साल के इतिहास को अच्छी तरह समझता हो। ऐसा समूह जो जानता हो कि इन हज़ार सालों में अल्लाह ने इस्लाम के लिए कौन-कौन से अनुकूल हालात बनाए हैं और किस समझदारी और सूझ-बूझ से उन्हें इस्लाम के हित में इस्तेमाल किया जा सकता है।

वह समूह वही हो सकता है जो अपनी सोच और समझ में पिछले हज़ार साल के इतिहास का असली वारिस हो। जो अपने स्वभाव से इन मौक़ों को हक़ीक़त बनाने की क्षमता रखता हो। जिसका होना और इस्लाम का दोबारा विकास, दोनों इतने जुड़े हों कि उन्हें अलग न किया जा सके। पहले दौर में भी ऐसे ही एक समूह ने इस्लाम को बुलंदी दिलाई थी और आज भी वैसा ही समूह इसे फिर से बुलंदी दिलाएगा। मौजूदा दुनिया में इस्लाम के उत्थान का और कोई रास्ता नहीं।

प्रोफ़ेसर फ़िलिप हिट्टी (1886-1978) ने अपनी किताब 'तारीख़-ए-अरब' में लिखा है— पैग़म्बर-ए-इस्लाम के देहांत के बाद ऐसा लगा जैसे अरब की बंजर ज़मीन किसी जादू से नायकों की नर्सरी में बदल गई हो, ऐसे नायक जिनकी संख्या और योग्यता में कहीं और मिलना बहुत कठिन है:

> After the death of the Prophet sterile Arabia seems to have been converted as if by magic into a nursery of heroes the like of whom both in number and quality is hard to find anywhere. (Philip K. Hitti, *History of the Arabs*, 1979, p. 142)

दुनिया में इस्लाम की वैचारिक बढ़त दरअसल एक पारंपरिक सोच पर बनी प्रणाली पर बढ़त है। यह इतिहास का सबसे कठिन काम है, जिसे पूरा करने के

लिए 'नायकों की पाठशाला' की आवश्यकता है। बहुदेववाद के दबदबे के दौर में इस्लाम को बढ़त ऐसी ही पाठशाला से मिली थी। अब नास्तिकता के दौर में भी इस्लाम की दूसरी बढ़त उसी तरह की पाठशाला से ही होगी। क़ुदरत के नियम के अनुसार जो शर्त पैग़म्बर और उनके साथियों के लिए ज़रूरी थी, वह बाद के लोगों के लिए कैसे बदल सकती है?

पैग़म्बर के ज़माने के मुसलमानों ने धर्म को ज़िंदा करने के लिए जिद्दोजहद की थी। इसी तरह आज के मुसलमानों ने भी धर्म को ज़िंदा करने के नाम पर ज़ोरदार कोशिशें की हैं। अगर सिर्फ़ प्रत्यक्ष मात्रा के पहलू से देखा जाए, तो आज के मुसलमानों की कोशिशें पहले दौर के मुसलमानों से कम नहीं बल्कि कुछ ज़्यादा ही दिखाई देती हैं—जान की कुर्बानी, धन-दौलत खर्च करना, ज़बान-क़लम का इस्तेमाल, ज़मीन में दौड़-धूप—सब कुछ मात्रा में पहले से कहीं ज़्यादा है। मगर नतीजे की बात करें तो दोनों में कोई तुलना नहीं। पहले की इस्लामी कोशिशों ने इतिहास की धारा बदल दी थी, जबकि आज की कोशिशों ने बस हमारी तबाही ही बढ़ाई है।

यह फ़र्क़ उस मानसिक अंतर की वजह से है जो दोनों के बीच पाया जाता है। पैग़म्बर के दौर के मुसलमानों को मिलने के एहसास ने उभारा था, और आज के मुसलमानों को छिन जाने के एहसास ने। पैग़म्बर के दौर के मुसलमान किस मानसिकता के साथ उठे थे, इसकी एक बेहतरीन तस्वीर उस तक़रीर में मिलती है जो हज़रत जाफ़र बिन अबू तालिब ने बादशाह हबशा (नजाशी) के दरबार में की थी। उस तक़रीर के मुताबिक़, इस्लाम उनके लिए आज्ञानता की ज़िंदगी के मुक़ाबले जागरूक ज़िंदगी अपनाने के बराबर था। उन्होंने शिर्क (बहुदेववाद) के मुक़ाबले तौहीद (एकेश्वरवाद) को पाया, उन्होंने दिशाहीनता के बजाय पैग़म्बर के ज़रिये अल्लाह के मार्गदर्शन को प्राप्त किया। उन्होंने दुनियावी लालच को छोड़कर आख़िरत को चुना, ज़ालिम स्वभाव की जगह ज़िम्मेदार स्वभाव अपनाया और अन्याय के बजाय इंसाफ़ का रास्ता चुना। लेकिन आज के मुसलमानों की हालत इससे बिल्कुल अलग है।

पैग़म्बर के दौर के मुसलमानों के जज़्बात में हलचल इस एहसास से पैदा हुई थी कि "हमने पाया है", जबकि आज के मुसलमानों में जो उबाल पैदा होता है वह बस इस एहसास से है कि "हमने खोया है":

> गँवा दी हम ने जो अस्लाफ़ (पूर्वजों) से मीरास पाई थी,
>
> सुरय्या से ज़मीं पर आसमाँ ने हम को दे मारा

मौजूदा दौर में मुसलमानों के सारे आन्दोलन इसी बेबसी और वंचित किए जाने के एहसास से खड़े हुए हैं। एक और दूसरे आन्दोलन में फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि एक इसे सीधी-सादी ज़बान में बयान कर रहा है, जबकि दूसरा विचारपूर्ण (बौद्धिक) ढंग से; कहीं क़ौमी लफ़्ज़ बोले जा रहे हैं और कहीं मज़हबी लफ़्ज़।

यूनानी फ़िलास्फ़र आर्कीमीदेस (Archimedes, 212 ईसा-पूर्व) ने गुरुत्वाकर्षण से जुड़ा 'बॉयन्सी का क़ानून' खोजा था। इसके बाद वह इतना मगन हो गया मानो उसने सब कुछ पा लिया हो। ईरान के शाह मोहम्मद रज़ा पहलवी (1919-1980) ने सिर्फ़ हुकूमत खोई थी, मगर उन पर ऐसा असर पड़ा मानो उन्होंने सब कुछ खो दिया हो। पाना हो या छिन जाना—दोनों की मनोवृत्ति यह है कि इंसान उसी चीज़ को सबसे ज़्यादा अहमियत देने लगता है जिसे उसने पाया है या खो दिया है।

इस मनोवृत्ति का नतीजा यह होता है कि "मिलना" इंसान की सोच-समझ की ताक़तों को पूरी तरह जगा देता है; वह बिलकुल एक ज़िंदा इंसान बन जाता है, उसके हौसलों की कोई हद नहीं रहती। इसके उलट जब किसी पर "वंचित होने" का एहसास छा जाता है तो उसकी ज़ेहनी और अमली ताक़तें ठप हो जाती हैं; ऊपर से ज़िंदा दिखाई देने के बावजूद अंदर से वह मरा हुआ इंसान बन जाता है। पुराने दौर में हमारे पूर्वजों को हासिल होने के एहसास ने उठाया था, इसलिए उनकी जागरूकता इस हद तक पहुँची कि तारीख़ में उसकी मिसाल नहीं मिलती। आज के समय में हमारी पीढ़ियाँ खुद को वंचित महसूस करके उठी हैं, इसलिए उनकी बेख़बरी और हिम्मत की कमी इतनी ज़्यादा है कि शायद इसकी कोई और मिसाल नहीं मिलती।

एक हक़ीक़त यह है कि हासिल होने के जज़्बे से सकारात्मक नैतिकता और वंचित होने के जज़्बे से नकारात्मक नैतिकता उभरती है। इसलिए हम देखते हैं कि पहले दौर के मुसलमानों के लिए उनका इस्लाम उनके भीतर ऊँचा चरित्र पैदा करने का ज़रिया बन गया था। वे सच्चाई के आगे झुक जाते थे; दूसरों की सराहना करना जानते थे; जो कहते वही करते; लोगों को माफ़ करने का हौसला रखते; शिकायतों को नज़र-अंदाज़ कर के ताल्लुक़ निभाते; भावनाओं के प्रभाव में आए बिना विवेकपूर्ण निर्णय लेते थे; प्रतिकिर्या की मानसिकता से पाक होकर सोचते।

नकारात्मक एहसास इसके उलट नकारात्मक नैतिकता जन्म देते हैं। ऐसे लोगों के मार्ग-दर्शक बस उनके जज़्बात होते हैं; वे स्वाभाविक तौर पर झुँझलाहट और नफ़रत का शिकार रहते हैं; हक़ीक़त-पसंद बातें उन्हें अपील नहीं करतीं; वे हमेशा आपस में झगड़ों और बिखराव में पड़े रहते हैं; उनमें सच्चाई स्वीकार करने की हिम्मत नहीं होती। हार जाएँ तो मानने को तैयार नहीं होते, और अगर कामयाब हो भी जाएँ तो उनकी बिगड़ी सोच जल्द ही उस कामयाबी को नाकामी में बदल देती है। यही वह फ़र्क़ है जिसने कल और आज के बीच वह ज़बरदस्त अंतर पैदा कर दिया है जो हम देख रहे हैं।

पैग़म्बर-ए-इस्लाम का लाया हुआ इंक़लाब सकारात्मक नैतिकता की ज़मीन पर उभरा था। अब अगर कुछ लोग यह चाहें कि उस इंक़लाब को नकारात्मक नैतिकता की ज़मीन से खड़ा करें, तो उन्हें अपने लिए कोई दूसरा ख़ुदा तलाश करना होगा और साथ ही दूसरा पैग़म्बर भी।

पैग़म्बर-ए-इस्लाम को अल्लाह की तरफ़ से यह मिशन दिया गया कि वे लोगों तक तौहीद यानी एकेश्वरवाद का संदेश पहुँचाएँ—यह कि ख़ुदा सिर्फ़ एक है और इंसान को चाहिए कि वह हर पहलू से ख़ुदा-रुखी ज़िंदगी गुज़ारे; यही इंसान की निजात का रास्ता है। क़ुरान में इस मिशन को 'तज़किया-ए-नफ़्स' (आत्मिक शुद्धि) का मिशन बताया गया है। इसे हासिल करने का ज़रिया सियासी इंक़लाब नहीं बल्कि ज़ेहनी इंक़लाब है; यह मक़सद सिर्फ़ इंसान की चेतना को जगा कर

पाया जा सकता है। इस मामले में पैग़म्बर-ए-इस्लाम की खासियत यह है कि दूसरे पैग़म्बरों के उलट, आपके ज़रिए तौहीद का मिशन इंक़लाब के दर्जे तक पहुँचा। पैग़म्बर (सल्ल०) की शिक्षाओं से वे सभी व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक बदलाव आए, जिनके मेल को इंक़लाब यानी क्रांति कहा जाता है — और इतिहासकारों ने भी इसे मान्यता दी है। अब सवाल यह है कि पैग़म्बर-ए-इस्लाम की इस महान क्रांति का रहस्य क्या था? यह किताब पैग़म्बर-ए-इस्लाम के इसी पहलू से हमें परिचित कराती है।

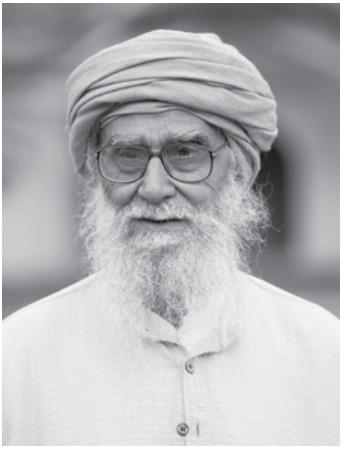

मौलाना वहीदुद्दीन ख़ाँ (1925–2021) एक इस्लामी विद्वान, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और शांति दूत थे। उन्होंने 200 से अधिक पुस्तकों की रचना की और हज़ारों व्याख्यान रिकॉर्ड किए, जिनमें आधुनिक शैली और तर्कसंगत भाषा में इस्लाम की व्याख्या प्रस्तुत की गई। उनका अंग्रेज़ी अनुवाद *The Quran* अपनी सरलता, स्पष्टता और समकालीन शैली के कारण व्यापक रूप से सराहा गया है।

उन्होंने वर्ष 2001 में सेंटर फ़ॉर पीस एंड स्पिरिचुएलिटी (CPS International) की स्थापना की, जिसका उद्देश्य लोगों की सोच को ईश्वर-केंद्रित जीवन की ओर मोड़ना और इस्लाम को उसके वास्तविक स्वरूप में प्रस्तुत करना था, जो शांति, आध्यात्मिकता और सह-अस्तित्व के सिद्धांतों पर आधारित है।

मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान ने 21 अप्रैल 2021 को नई दिल्ली, भारत में इस संसार से विदा ली। किंतु उनकी बौद्धिक और आध्यात्मिक विरासत CPS International के माध्यम से आज भी आगे बढ़ रही है।

www.quran.me www.goodwordquran.com
www.mwkhan.com www.cpsglobal.org

Books by Maulana Wahiduddin Khan

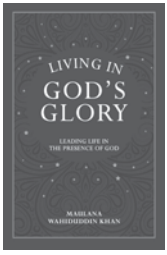

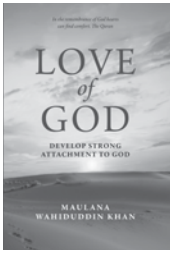

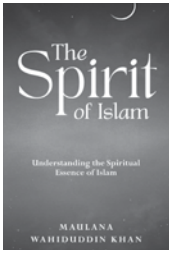

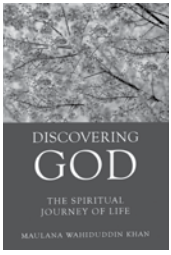

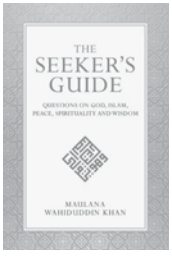

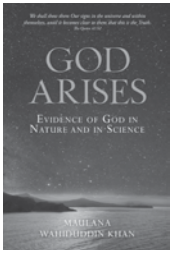

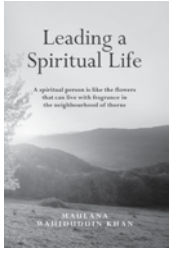

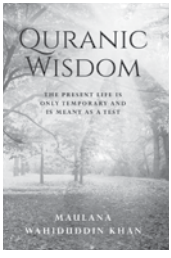

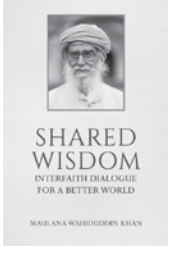

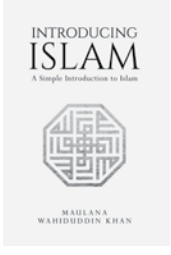

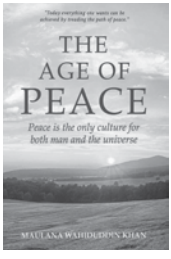

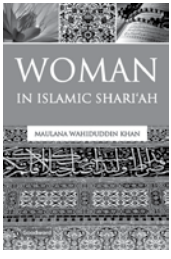

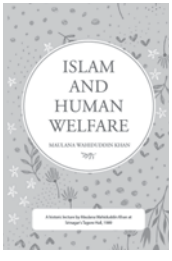

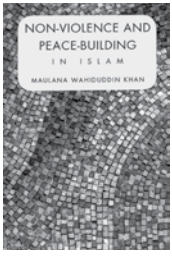

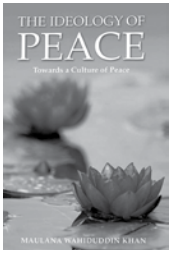

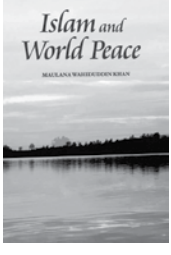

www.goodwordbooks.com www.cpsglobal.org

Books by Maulana Wahiduddin Khan

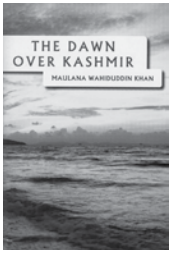

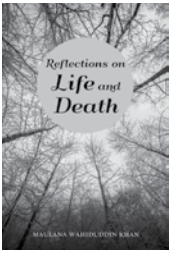

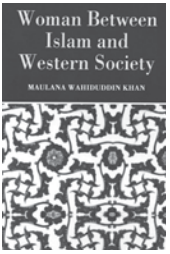

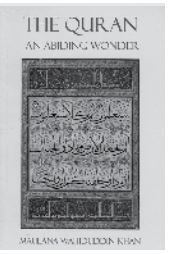

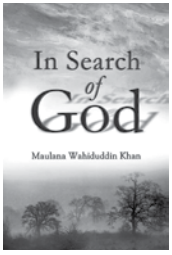

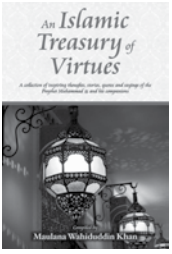

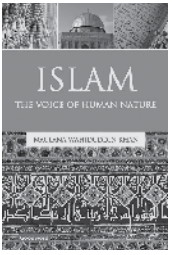

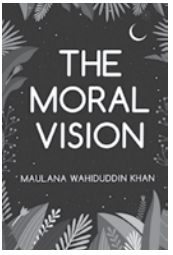

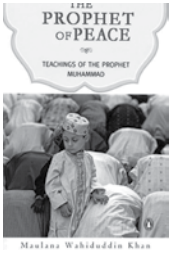

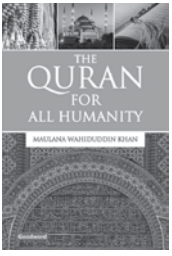

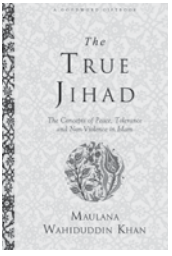

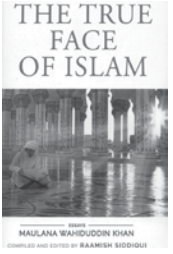

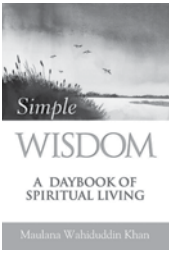

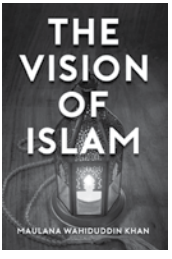

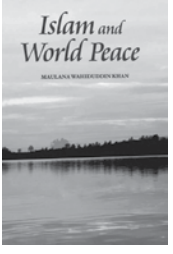

www.goodwordbooks.com www.cpsglobal.org

शांति और आध्यात्मिकता पर किताबें।

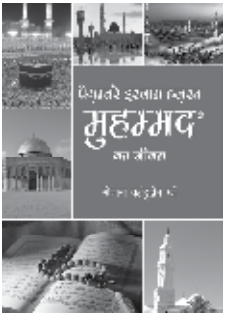

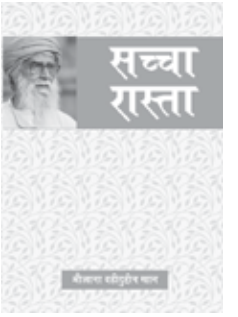

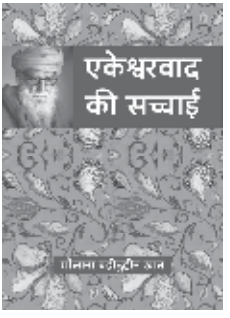

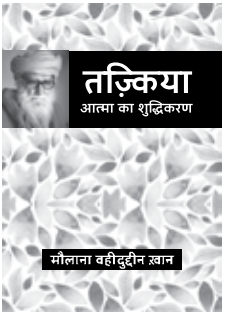

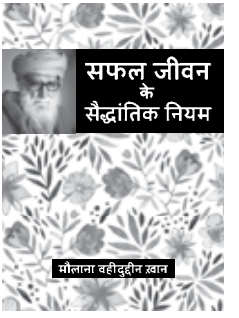

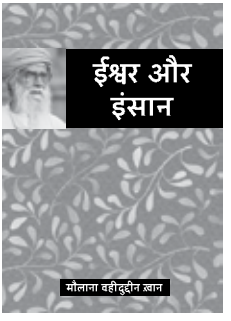

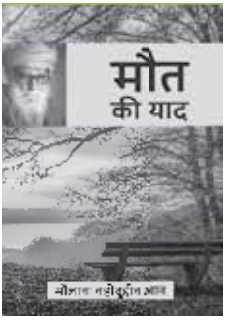

www.goodwordbooks.com
www.quran.me www.cpsglobal.org

यह पुस्तक पैगंबर मुहम्मद के जीवन का एक सजीव और प्रेरक चित्र प्रस्तुत करती है। इसमें उन्हें केवल एक धार्मिक मार्गदर्शक के रूप में नहीं, बल्कि मानवता और करुणा के प्रतीक के रूप में दर्शाया गया है। लेखक ने सरल और सहज भाषा में पैगंबर के विवेकपूर्ण, दयालु और संतुलित चरित्र को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक बताती है कि वे लोगों के बीच रहकर उनकी भलाई के लिए लगातार कार्य करते रहे। इसे पढ़ने वाला व्यक्ति समझ सकेगा कि अल्लाह पर सच्चे ईमान का वास्तविक अर्थ क्या है, उस पर पूर्ण भरोसा कैसे किया जाए, सफलता के क्षणों में भी विनम्रता कैसे बनाए रखी जाए और आत्मिक शांति का मार्ग क्या है। यह पुस्तक मानवता को उसी प्रकाशमय सद्मार्ग की ओर अग्रसर करती है, जिस पर चलना सृष्टि के पालनहार अल्लाह को समस्त मानव जाति के लिए प्रिय है।

ISBN 978-93-49952-78-2

9 789349 952782

Goodword Books
CPS International